



APR 1964

औरंगाबाद का अतीत

[आत्मकथा भाग २]

४ दिसम्बर १९६८ से फरवरी २००४

राजमल बोरा

औरंगाबाद का अतीत (आत्मकथा भाग - २) © राजमल बोरा / प्रकाशक
श्रीमती आशा बोग, ५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद - ४३१ ००५ /
प्रथम संस्करण: २००४ ई / मुद्रक साकार मुद्रणालय, २३, जयहिन्द कालोनी,
औरंगाबाद - ४३१ ००१ / मूल्य ३५०/-

Aurangabad ka Atita (Autobiography, Part II) by Rajmal Bora,
Rs 350/-



दिशा, दिव्या, आकाश
तथा
चिराग और मिहिका को



अपनी बात

यह आत्मकथा का दूसरा भाग है। औरंगाबाद का अतीत नाम रखा है। ४ दिसम्बर १९६८ ई. के बाद मैं औरंगाबाद का निवासी हो गया और अब यहीं पर रहता हूँ। आधी जिदगी यहीं पर गुजरी है। शेष काल भी यहीं पर रहेगा।

श्री विष्णु प्रभाकर को इस पुस्तक के लिखते समय पत्र लिखा था और चाहा था कि वे कुछ बतलायें। उन्होंने उत्तर दिया और भीष्म माहनी की आत्मकथा पढ़ने कहा। मैंने तुरन्त पुस्तक मगवाई और पढ़ गया। पुस्तक अच्छी लगी। नाम था 'आज का अतीत' मैंने उक्त नामकरण को आधार मानकर 'औरंगाबाद का अतीत' नामकरण किया। कारण यह है कि इन वर्षों में औरंगाबाद में रहा हूँ। इसमें मात्र औरंगाबाद का अतीत है।

जिन लोगों के साहचर्य में रहकर काम करता रहा हूँ, उनमें विभाग के व्यक्ति है, पड़ोसी है, विश्वविद्यालय आने-जानेवाले अतिथि है, दूसरे विभागों के प्राध्यापक है, प्रोफेसर है और अनेक है। उनमें जो प्रधान व्यक्ति है और जिनके घर पर जाना-आना रहा है, ऐसे व्यक्ति इस पुस्तक में प्रसंगों के संदर्भ में मिलेंगे। उन पर लिखते समय मैंने अपना ध्यान सदृश पर ही रखा है। उनके उन गुणों को उजागर किया, जिनके कारण वे जाने जाते हैं। मैं उनसे सम्बन्ध उनके सदृश के कारण रहा है। मैं यह मानता हूँ कि व्यक्ति में सदृश भी रहता है, वही उसकी शक्ति का स्रोत है, उस पक्ष के कारण ही समाज में उनकी पहचान बनती है। उस पक्ष को सम्बल बनाकर हम सम्पर्क करें तो हमारा काम सफल हो जाता है। हम दूसरों को बदल नहीं सकते। हम अपने घर के सदस्यों को बदल नहीं सकते तो दूसरों को बदलने की बात बहुत दूर की है। जिनका परिचय अधिक होता है, उनसे झगडे भी अधिक होते हैं। हमे झगडों से मुक्त रहकर सदृश को ध्यान में रखते हुए तथा औरों के स्वभाव को पहचानकर ही सम्बन्धों का निर्वाह करना पड़ता है। सम्बन्ध बिगड़नेवाले बहुत लोग होते हैं। मैंने ऐसे लोगों की

आग यान नहीं दिया, मैं दूसरे लोगो को जैसे समझा है वैसे ही लिखा है। मैं किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखी। किसी के आत्मसम्मान को चोट नहीं पहुँचाई। आजा से वक्तवा रहा हूँ। मैं को समझाता रहा हूँ। श्री विष्णु प्रभाकर ने पत्र में लिखा कि आत्मकथा मैं न किसीकी स्तुति करो और न किसीकी निन्दा करो। जो सत्य है, वही लिखो।

श्री विष्णु प्रभाकर से मिलते तो आत्मबल मिलता है। उन पर मैंने गोध-प्रबन्ध लिखवाया और छपा भी है। वे मेरे घर पर आकर गए है और दिल्ली गया तो अवसर निकाल कर अजमेरा गेट पहुँच कर उनके घर पहुँच कर मिलता रहा हूँ। उनकी मद्भावनाओ ने उन्हे गांधी बना दिया है। जैनेन्द्रकुमार के बाद मे दिल्ली में आज भी वे दिल्ली की प्रतिष्ठा को बनाए हुए है। वे किसी साहित्यिक दल में नहीं है। विवादो से परे अजातशत्रु है। मनुष्य की पहचान उनकी गद्दरी है। आबारा मनुष्य में — मसीहा की पहचान करनेवाले है। वह पहचान हममें नहीं है। उनसे सम्पर्क करने से हमारी यह पहचान बढ़ती है, यह मैं मानता हूँ। उनके कारण मैंने अपने साहचर्य के मनुष्यो को पहचानने का प्रयत्न किया है। वह पहचान इस पुस्तक में है।

मेरा परिवार भी इस पुस्तक में है। मेरी सारी शक्ति परिवार के सदस्यों के कारण है। परिवार के सदस्यों के कारण मैंने सब काम किया है। विश्वविद्यालय में काम करने के वर्षों में — सेवानिवृत्त होने तक — सदैव कर्ज में रहा हूँ। सेवानिवृत्त होने के बाद भी डेढ़-दो वर्ष तक कर्ज की किश्तें देता रहा हूँ। कर्ज लेकर ही मैंने अपनी योजनाएँ पूर्ण कीं। अब मुझे किसी का कुछ देना नहीं है। मेरे दोनो ही पुत्र सुनिल और अनिल दोनो का मुझे पूरा सहयोग प्राप्त है। मैं दोनो को अपने से दूर नहीं रखना चाहता। वे मेरे पास रहते है। परिवार है। स्वतंत्र रहते हैं और पास में हैं। प्रसन्न है। उनको चिन्तित देखता हूँ तो परेशान हो जाता हूँ। उनके स्नेह-सम्बल के कारण १९९२ ई में बाय-पास सर्जरी हुई। तब से अब तक जी रहा हूँ। १९९२ ई के बाद के जीवन को मैं बोनस लाइफ कहता हूँ। मैं तो तभी चला गया था। लोट आया और जी रहा हूँ।

मेरे जीवन को बल देनेवाले मेरे गुरुजन है। ऋणमुक्त होने का प्रयत्न करता हूँ। मैंने किससे क्या पाया? क्या सीखा? और क्या करता रहा हूँ? — यह सब मैंने विस्तार से लिखा है। सबके आशीर्वाद मुझे प्राप्त हुए है। ऐसे लोगो में अब प काशीराम शर्मा, श्री विष्णु प्रभाकर, डॉ एन नागप्पा, श्री विष्णुकान्त शास्त्री आदि रह गए है। यथासमय इनको पत्र लिखता रहता हूँ।

गुरुजनों से, पाठकों से, मित्रों से तथा स्नेहीजनों से पत्र मिलते रहे हैं। ऐसे पत्रों को अलग से तीसरे भाग में छापने की योजना है। गीष्ठी ही तीसरा भाग भी प्रकाशित होगा।

‘औरगावाद का अतीत’ में — सब कुछ लिखा नहीं जा सका। बहुत कुछ छूट गया है। औरों की बात क्या कहूँ? स्वयं पत्नी छूट गई है, जो कि सम्बल के रूप

मे सदैव मेरे पीछे खड़ा रहा है। पामे और शुभचिन्तक भी झूट गए हैं। बहुत से अपरिचित छात्र हैं, हिन्दी विभाग के हैं और दूसरे विभागों के हैं। वे अभी मिलते हैं तो सम्मान करते हैं। उनके स्नेह का ऋणी हूँ। मैं यह मानता हूँ कि स्नेह का सम्बल में समाग जीवन यात्रा चलती रहती है।

औरंगाबाद नगर तो अब मरा नगर है। नगर के प्रति काफी मामूली जोड़कर रखी है। इतिहास-भूगोल दोनों विषयों का अपना आकर्षण है। समय ने साथ दिया तो औरंगाबाद पर स्वतंत्र पुस्तक प्रकाशन करूँगा। औरंगाबाद को मैं दक्षिण की दिल्ली मानता हूँ। दोनों नगरों में बहुत साम्य है। शाहजहाँबाद पुरानी दिल्ली और लाल किला शाहजहाँ के समय के हैं। इसी तरह औरंगाबाद और किले-आर्क औरगजेब के समय के हैं। शाहजहाँबाद को बनाकर भी शाहजहाँ दिल्ली में अपने बनाए लाल किल में रह नहीं सका। इस तुलना में औरगजेब औरंगाबाद में बादशाह बनने के पूर्व रहा है और जिन्दगी के अन्तिम वर्ष भी उसने इसी नगर में गुजारे हैं। उसकी मृत्यु इसी क्षेत्र में हुई। उसकी कब्र खुलताबाद में — यही पर है। पुरानी दिल्ली का स्वरूप शहर की प्राचीर और दरवाजों के भीतर जैसे आज है, वैसे ही पुराना औरंगाबाद आज भी वैसे ही है। नई दिल्ली की तरह अब तो नया औरंगाबाद बन गया है और यह नया औरंगाबाद नगर के परकोटे और दरवाजों से बाहर है। पुरानी दिल्ली के दरवाजों से औरंगाबाद के दरवाजे अधिक सुरक्षित हैं। अस्तु।

आत्मकथा के प्रथम भाग की प्रतिक्रिया में पत्र मिले हैं। फोन से भी प्रतिक्रियाएँ मिलीं। इनमें मेरा उत्साह बढ़ा है। प्रतिक्रिया में लिखे गए कुछ पत्र अन्त में दे रहा हूँ। दूसरा भाग इसीलिए लिखा भी गया है। स्थानीय मुद्रक श्री गणकृष्ण जोशी का इसके प्रकाशन में पूरा सहयोग है। यह पुस्तक भी जैसे जैसे लिखी जाती रही, वैसे वैसे छपती रही है। मुद्रक महोदय का अतएव आभारी हूँ। मुझे न चाहने पर भी पुनः प्रकाशक बनना पड़ा। आरम्भ में जब प्रकाशक बना उस समय कुछ बुजुर्ग प्रकाशकों से सम्पर्क रहा। उनके कारण आगे बढ़ा और फिर ऐसे प्रकाशकों में से कुछ ने मेरी पुस्तकें छापी भी हैं। श्री अशोक महेश्वरी के पिता श्री प्रेमचन्द महेश्वरी ने वाणी प्रकाशन का आरम्भ १९६९ ई. में किया। १९७० या १९७१ ई. में दक्षिण की यात्रा पर निकले। औरंगाबाद घर पर आए। कमला नगर में एफ-६१ में उनके आवास पर भी गया। उन्होंने अपना शोध-प्रबन्ध भी मुझे दिखलाया। उनके निधन (१९७९ ई.) के बाद में वह छपा भी है। उनके सहयोग के कारण मुझे उनके पुत्रों का सहयोग मिला है। आज तो दोनों भाई अपने चरम उत्कर्ष पर हैं। श्री मलिक साहब, (नेशनल पब्लिशिंग हाउस), श्री विश्वनाथजी और उनके सहयोगी श्री ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल (राजपाल एण्ड सन्ज) तथा श्री कृष्णचन्द्र बेरी (वाराणसी) — जैसे प्रकाशकों से सम्पर्क हुआ। उन्होंने कुछ पुस्तकें छापी हैं। उन सब का आभारी हूँ। किन्तु आज तो मेरे पास इतना समय नहीं कि पुस्तक लिखने के बाद प्रकाशक को दूँ और फिर लम्बी प्रतीक्षा करूँ? इसीलिए स्वयं छपवाने का निर्णय किया है। पुनः प्रकाशक बनना मजबूरी है।

आत्मकथा लिखने में अभिव्यक्ति का सुख है। इसमें स्वयं अपने को कसौटी पर कमाना है। मन को मैला नहीं करना है अपितु सब कुछ कहकर मन को निर्मल करना है। अपने को छिपाना नहीं, उजागर करना है। आत्मकथा में भाषा कुछ आत्मीय हो ही जाती है। और मैं मानता हूँ कि आत्मकथा में आत्मीयता होनी चाहिए। मैं कितना आत्मीय हो पाया हूँ, यह तो पाठक बतलाएँगे। तटस्थता के कुछ पृष्ठ तो उन्हें मिल ही जाएँगे। प्रतीक्षा करूँगा।

इस आत्मकथा लिखने से पूर्व मैंने जैन मुनि मिश्रीलालजी की आत्मकथा लिखी। मैंने शर्त रखी थी — आप अपनी कथा बतलाएँगे तो मैं लिखूँगा। वे कहते गए, मैं लिखते गया। पूरी कथा पाँच वर्षों में लिखी गई। सब कुछ उनका कहा हुआ था। भाषा उन्हींकी थी। मैंने कोई परिवर्तन नहीं किया। केवल भाषा की अशुद्धियों को ठीक किया। शब्द ही नहीं, वाक्य गठन भी वैसे ही, उनकी प्रथम पुरुष की भाषा में रखा और पुस्तक अशोक महेश्वरी ने छपी। मुनिजी के देवलोक गमन से पूर्व वह पुस्तक छप कर आ गई थी। वह पुस्तक उन्होंने पढ़ी तो उन्हें लगा कि मैं ही बोल रहा हूँ और सब कुछ सत्य और ठीक है, उनकी अपनी अभिव्यक्ति उस पुस्तक में है। उनके मुख पर मैंने सतोष और सुख की दीप्ति देखी। मैं बीमार था तो मुझे देखने घर पर पधारे। मंगलीक दी अर्थात् मंगल वचन सुनाए और देखिए जब बीमार हो गए तो अस्पताल में थे। उस समय सिकंदराबाद से मेरे बड़े साढ़ू और फूफा आए। उनको साथ लेकर मुनिजी के पास पहुँचा। बहुत प्रसन्न हुए। मुनिजी ने मेहमान को रोक लिया। नाम था वीसूलालजी डफरिया। डफरियाजी जब दूसरे दिन अकेले ही मुनिजी के पास गए तो उन्होंने कहा कि जब कल आओ तो राजमल को लेकर आना। दूसरे दिन जब मैं गया तो उन्होंने सब को मंगलीक दी। वही मुनिजी की अन्तिम मंगलीक और अन्तिम भेट है। उसके बाद तो पूना गए और मुंबई के बाम्बे अस्पताल में रहे। बाद में देवलोक हो गए। मैं यह सब इसीलिए लिख रहा हूँ कि अपनी बात कहने में, लिखने में और पढ़ने में भी सुख है। अतीत में खोए रहने में, अभिव्यक्ति सुख का स्रोत बन जाती है। हम जिन्दगी को आज के नजरिए से देखने लगते हैं। आत्मकथा के प्रूपस् को पढ़ते समय मैंने उसे अनुभव किया है। इसे पढ़कर दूसरे लोग — पाठक वृद्ध क्या अनुभव करते हैं, यह जानने की इच्छा है। मैं औरंगाबाद के १९६८ से २००४ ई तक के मेरे अपने अतीत के जीवन से जुड़ा हुआ हूँ। इसी अभिव्यक्ति के बल पर आत्मविश्वास के साथ शेष कार्य पूरा करने की योजना है। इति शुभम्।

२ फरवरी २००४

५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा,

औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ४३१ ००५

- राजमल बोरा

मराठवाडा विश्वविद्यालय (पहाडसिंहपुरा)

आज जहाँ पर मराठवाडा विश्वविद्यालय स्थित है, उस क्षेत्र का नाम पहले पहाडसिंहपुरा था। पहाडसिंह औरछा का राजा था। शाहजहाँ के समय में पहाडसिंह को दक्षिण की जागीर मिली। गोंडवाने में गायें जोतो जाती है, यह पहाडसिंह को अच्छा न लगा। भाट के मुख से उमने ऐसा समाचार सुना तो वह गोंडवाने की ओर बढ़ गया। उसने गायों को इससे मुक्ति दिलाई। कहा है—

वीरसिंह जू के वंश प्रबल पहाडसिंह,
तेरी बाट हेरती हैं, गौएँ गोंडवाने की।

पहाडसिंह को शाहजहाँ ने १६४१ ई. में औरछे की गद्दी दे दी थी। उसी के समय में पहाडसिंह दक्षिण में दौलताबाद तक चले आए। दौलताबाद से आगे बढ़कर औरगाबाद के निकट सद्दाद्रि की माला की तलहटी में पहाडसिंहपुरा बसाया। इनकी रानी का नाम हीरादेवी था। पहाडसिंह के बड़े भाई जुझारसिंह ने अपनी

रानी से कहकर अपने छोटे भाई हरदौल को विष देने के लिए विवश किया । रानी अपने देवर को बहुत चाहती थी । उसने हरदौल को सब बतला दिया था । फिर भो उसने विष मिश्रित भोजन कर लिया । इससे हरदौल की तत्काल मृत्यु हो गई । बुन्देलखण्ड में हरदौल का यह कथानक बहुत प्रसिद्ध है । हरदौल के चबूतरे बाद में बहुत जगह बने हैं । पहाडसिंहपुरा में भी स्वर्ण-महल के प्रवेश द्वार से लगी मडक की दूसरी ओर यह चबूतरा आज भी खण्डहर के रूप में है ।

पहाडसिंहपुरा में बुन्देलखण्ड की संस्कृति दर्शानेवाले अवशेष आज भी बिखरे हुए हैं । इनमें सबसे प्रसिद्ध 'स्वर्ण-महल' है । मराठी में इसे ही सोनेरी महल कहते हैं । सोनेरी महल के प्रवेश द्वार के ठीक सामने विश्वविद्यालय का शासकीय भवन है । पहाडसिंहपुरा का क्षेत्र आज विश्वविद्यालय का क्षेत्र है । इस क्षेत्र में कई भवन बने हुए हैं । एक ओर यह क्षेत्र बेगमपुरा से लगा हुआ है तो दूसरी ओर इसकी सीमाएँ उत्तर-पूर्व की पर्वतमाला तक पहुँचती हैं । इसके दक्षिण-पश्चिम में भावसिंहपुरा है और दक्षिण में जयसिंहपुरा है । जयसिंहपुरा के निकट ही विश्वविद्यालय का प्रवेश द्वार है । यह द्वार १९७४ ई. में बना । रेणियुंटावार पढरीनाथ (छोटा नाम — नाथ साहब) के समय में बना । उस समय में विश्वविद्यालय के कुलपति थे ।

मराठवाडा विश्वविद्यालय की स्थापना १९५८ ई. में २३ अगस्त को हुई । उसका विधिवत् उद्घाटन पं. जवाहरलाल नेहरू ने किया । इस विश्वविद्यालय को शासन की ओर से ६९.७६९ स्क्वैअर किलोमीटर भूमि सोनेरी महल के समीप की — पहाडसिंहपुरा की भूमि — मिली । इस क्षेत्र में ही विश्वविद्यालय के सभी भवन बने हुए हैं । प्राकृतिक रूप में यह क्षेत्र वैसे ही सुन्दर है ।

हरदौल को बुन्देलखण्ड में लोकदेवता के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई है । उसके चबूतरे गाँव गाँव में बने हैं । हरदौल के प्रेत के चमत्कारपूर्ण प्रसंगों को नर्मदाप्रसाद गुप्त ने विस्तार से लिखा है । वे लिखते हैं —

“कहा जाता है कि हरदौल की मृत्यु पर एक मेहतर और कुत्ता ने अवशिष्ट भोजन खाकर प्राण दे दिये थे । मेहतर की चौतरिया (चबूतरे का छोटा रूप) तो पहिचान बन गई है, संभवतः इसी कारण उच्च और निम्न वर्ग — दोनों एक-सी श्रद्धा रखते हैं और सभी हरदौल की पूजा करते हैं । एक घटना यह भी प्रसिद्ध है कि हरदौल के सात सौ साथियों ने प्राण-त्याग कर उनका अनुसरण किया था । बहुत महाराई

से देखने पर यह राजा के प्रति मौन विरोध का सूचक प्रतीत होता है। सामूहिक प्राण-त्याग उस युग की ऐसी मिसाल है, जो इतिहास में नया अध्याय जोड़ती है। दूसरी घटना राजा के प्रति प्रजा का असंतोष है। एक जनश्रुति के अनुसार प्रजाजनों ने राजा से हरदौल की हत्या का स्पष्टीकरण मांगा था। कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया भाग ४, पृ १८५ में लिखा है कि जुझारसिंह को अपने लोगों के विरोध का भी सामना करना पड़ा। क्योंकि उसने अपनी पत्नी का अपने भाई हरदौलसिंह से गुप्त प्रेम के संदेह पर भाई को विष दिलवा दिया था, जिसके अनुयायी बहुत अधिक थे। ओरछा की जनता का आक्रोश जहाँ हरदौल की लोकप्रियता प्रकट करता है, वहाँ उस जनपद की जागरूक चेतना का उदाहरण भी प्रस्तुत करता है।

प्रेत के चमत्कार - शेष दो घटनाएँ हरदौल के प्रेत से जुड़ी हुई हैं। लोकप्रचलित है कि हरदौल की बहिन कुंजकुँवारी अपनी पुत्री के विवाह का निमंत्रण देने या भात माँगने ओरछा आई थीं। उन्होंने राजा जुझारसिंह को हत्यारा मानकर न्योता नहीं दिया अथवा जुझारसिंह ने किसी कारणवश लेने से इनकार कर दिया, दोनों प्रकार के विवरण मिलते हैं। लेकिन यह सभी मानते हैं कि कुंजा हरदौल को उसी जगह पर न्योता रख आई, जहाँ उनकी दाह-क्रिया की गई थी। समय पर मोहरी, सोने-चांदी के आभूषणों और अन्य कीमती सामग्री से लदे घोड़ों या गाड़ियों के साथ हरदौल की सवारी दतिया पहुँची। हरदौल की अवाई पर सलामी में तोपे दागी गई, मार्ग में मंगल कलश लिये खड़ी नारियों के अचल अपने-आप मोहरों से भर गए और कुंजा का घर चौकट से जगमगा गया। बहिन और भाई की प्रेमभरी भेट और वर के आग्रह से हरदौल का दर्शना देना, दोनों प्रसंग चमत्कारपूर्ण हैं। इन्हींका प्रभाव जन जन पर छाया हुआ है। इनके अलावा हरदौल की विदाई के समय कुंजा का सभी के विवाहों में इसी प्रकार की सहायता का वचन लेना, सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इस दृष्टि से हरदौल सामाजिक हित से बंध जाते हैं और उनके देवत्व का प्रमुख आधार यही लोकमंगल की भावना है।”

- बुन्देलखण्ड की लोक मस्कृति का इतिहास, नर्मदाप्रसाद गुप्त,
राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली - २. प्रथम संस्करण १९९५ ई पृ ३१८-३१९

नर्मदाप्रसाद गुप्त ने बतलाया है कि हरदौल का प्रेत, हरदौल से अधिक प्रभावशाली रहा है। उस प्रेत ने मुगलो को परेशान कर दिया था। कहते हैं कि मुगलो के प्रतिनिधि हिदायत खॉं, ओरछे में इतने भयभीत हो गए कि वो ओरछा छोड़कर बादशाह के पास पहुँच गये। यह भी कहा जाता है, उक्त प्रेत ने बादशाह को भी प्रभावित किया। जुझारसिंह को गद्दी से हटाने के लिए विवश किया। यह सब कुछ कल्पित होने पर भी इनमें लोकविश्वास है। हरदौल लोक के आदर्श के प्रतीक हो गए थे। जनता की भावना उनके साथ जुड़ गई थी। हरदौल की उपेक्षा मुगल बादशाह नहीं कर सके।

हरदौल का चबूतरा दिखलाने डा भालचन्द्र तेलग मेरे साथ आए थे। उन्होंने बतलाया कि चबूतरे पर नागरी लिपि तथा फारसी लिपि (उर्दू) में — 'हरदौल' नाम चबूतरे पर लिखा हुआ है। चबूतरा ठीक से खड़ा नहीं था। कुछ लुढ़क गया था। आसपास की झाड़ी में छिप गया था। झाड़ी पार कर निकट पहुँचो तो साफ-साफ देखा जा सकता है। चबूतरे के पास में बावली (कुँए के) अवशेष है। कुछ दूरी पर बड़ा पेड़ रहा है। एक छोटे मंदिर के अवशेष भी वहाँ पर है। स्वर्ण-महल के ठीक सामने वह चबूतरा है। Zoology विभाग के छात्र प्रशासकीय भवन जाते आते समय इस चबूतरे के पास से गुजरते रहते हैं।

स्वर्ण-महल के प्रवेशद्वार से बाहर निकलो तो मुख्य सड़क की दाहिनी ओर का विभाग झूलोजी Zoology विभाग की ओर जाता है। इमी मार्ग पर दूसरी ओर मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर के पीछे कुछ दूरी पर हरदौल का चबूतरा है। इस सड़क से सीधे ही सीधे प्रशासकीय भवन की ओर जाने के लिए पगडण्डी है। आस पास बहुत झाड़ी है। इस झाड़ी में ही दाहिनी ओर चबूतरा है। झाड़ी के बीच से गुजरते हुए एक नाला आता है। नाला पार करने पर विश्वविद्यालय की मुख्य सड़क पर पहुँचा जा सकता है। सामने प्रशासकीय भवन है और उक्त सड़क वही पर बस अड्डे से मिल जाती है। प्रशासकीय भवन की कम्पाउण्ड की फेसिंग से लगकर पुराने खण्डहर है। लगता है, वहाँ पर बड़ी बावली रही है। बड़े-बड़े पेड़ भी रहे हैं। उन पेड़ों के अवशेष है। बावली के अवशेष है। पानी की नहरो के अवशेष है। संभवत यहाँ से पानी स्वर्ण-महल में नहरो से पहुँचता हो। स्वर्ण-महल के चबूतरे पर पानी का हौज है। उस हौज में पानी पहले पहुँचता हो। उस चबूतरे से नीचे उतरने के लिए सीढियाँ हैं। उसकी दोनों ओर पानी के नीचे बहने की व्यवस्था है। नीचे बहुत बड़ा प्रांगण है। प्रांगण के चारों ओर ऊँची ऊँची दीवारें हैं। एकदम सामने प्रवेशद्वार है, जिसमें तीन द्वार

है। ये द्वार पत्थरो से बने है। किले के द्वार की तगह है और विशाल है। स्वर्ण-महल पूरी तरह सुरक्षित है। इसीलिए उसे बाधा नहीं पहुँचाई जा सकी। किन्तु प्रशासकीय भवन के चारो ओर भी कुछ होगा। क्योंकि उक्त भवन के सामने के भाग मे तो अवशेष दिखलाई देते है। भवन की नई इमारत बनते समय सब कुछ नष्ट हो गया है। ग्रथालय के पीछे नाला है। नाले तक ही विश्वविद्यालय की सीमाएँ हैं। नाला पार कर ऊपर पहुँचो तो हम निपटनिरजन के आश्रम मे (अब वह मन्दिर है) पहुँच जाते है। मै स्वय कई बार ग्रथालय के पीछे की तार की फेसिंग के छोटे द्वार से निकल कर नाला पार कर निपट बाबा के आश्रम मे गया हूँ। उक्त आश्रम से सीधे ही सीधे पूर्व की ओर चले तो विश्वविद्यालय की मुख्य सडक के समानान्तर से बनी हुई दूसरी मुख्य सडक पर पहुँच जाते है। नाला वहाँ से आगे बढ़ जाता है। दूसरी मुख्य सडक पर पहुँचने के लिए नाले पर बने हुए पुल से गुजरना पडता है। मुख्य सडक पर सामने जनार्दनस्वामी का आश्रम दिखलाई देता है। सडक से दक्षिण की ओर सीधे चले तो गुरु गणेश नगर का प्रवेश द्वार मिलेगा। गुरु गणेश नगर के सामने नई कालोनी बन गई है। सडक सीधी ही सीधी आगे बढ़ती है। उसकी बाईं ओर बीबी का मकबरा है और दाहिनी ओर बेगमपुरा है।

निपट बाबा मूल रूप मे बुन्देलखण्ड के निवासी हैं। औरगजेब के समकालीन है। उनको आवास के लिए स्थान ओरछे की गद्दी की ओर से मिला है। पहाडसिहपुरा मे वे बस गये। औरगजेब के समय मे बाबा सिद्ध हो गए थे। उनकी ख्याति हो गई थी। निपट के ज्ञान को जानने के बाद औरगजेब को कहना पडा — 'ऐसा जलाली फकीर मैने नहीं देखा।' निपट बाबा के शिष्य का नाम निरजन था। निरजन ने निपट बाबा की बहुत सेवा की। इससे निपट के साथ निरजन नाम जुडा हुआ है। निपट बाबा मौलवियों की बानी मे बोलते थे। उनकी फकीरी पर औरगजेब मुग्ध था। निपट बाबा सूफियो की सगत में वैसे ही रहे, जैसे वे नाथ सम्प्रदाय से जुडे रहे। इसी तरह वे दत्त सम्प्रदाय के जनार्दन स्वामी से भी जुडे रहे। जनार्दन स्वामी का आश्रम निपट बाबा के आश्रम के सामने ही है।

यों हम अनुभव करते हैं कि बुन्देलखण्ड की सस्कृति के अवशेष पहाडसिहपुरा मे बिखरे हुए है। उनमे स्वर्ण-महल और निपट बाबा की समाधि आज भी नगर मे ख्यात है। निपट बाबा की भूमि पहाडसिह के समय मे ही आश्रम के लिए दे दी गई थी। औरगजेब के समय में ही नहीं, अपितु निजाम के शासनकाल

तक आग का आग स इम आश्रम का सुवधाए मिलता रहा है । निपट निरंजन के आश्रम में रहनेवाले लछमनगार के पास में ओरछा नरेश का आज्ञा-पत्र १०३४ ई का है । निजाय के शासनकाल का है । 'निपट-निरंजन की बानी' पुस्तक की प्रस्तावना में मैंने इस सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है ।

स्वर्ण-महल पर आज शासन का अधिकार है । पुरातत्व विभाग का कार्यालय वहाँ रहा है और आज तो वहाँ प्रदर्शनी भी (म्युजियम) है । भवन को ठीक किया गया है । किन्तु हरदौल का चबूतरा आज भी बहुतों को मालूम नहीं है । पुरातत्व विभाग इस ओर ध्यान दें तो झाड़ी हटाकर चबूतरे को ठीक किया जा सकता है । हमें आशा करनी चाहिए कि ओरछा के नरेश का ध्यान इस चबूतरे की ओर जाएगा और अवशेष को नया जीवन सृति-चिह्न के रूप में मिलेगा ।

□ □

मराठवाड़ा विश्वविद्यालय में जाइन हुआ

४ दिसम्बर १९६८ ई. को सबेरे मवेरें यूनिवर्सिटी पहुँचा । जाइन हो गया । व्यकट अम्बेकर से साइकिल ले ली थी । उस समय एम.ए. की कक्षाएँ यूनिवर्सिटी में चल रही थीं । डॉ. भालचन्द्र तेलग भाषा विज्ञान पढ़ा रहे थे । विभाग में राजूरकर साहब और मैं दोनों ही थे । अष्टेकर साहब मिले किन्तु विभाग में जाइन नहीं हुए थे । उन्हें अम्बेडकर कामर्स कालेज से छुटकाग नहीं मिल रहा था । वहाँ पर तीन महाने की नोटिस देनी आवश्यक थी । इसलिए तीन महाने बाद वे जाइन हुए । छात्रों की सुविधाओं को देखते हुए कक्षाएँ सबेरे होनी थीं । उस समय एम.ए. फाइनल के छात्रों में छगनलाल गौड, मनोरमा शर्मा आदि थे । एम.ए. प्रथम वर्ष में नदाकिशोर शागा और उनके साथी थे । फाइनल की बैच को मैंने चिन्तामणि, भाग-१, पुस्तक पढ़ाई । एम.ए. प्रीवियस को पढ़ाने के लिए उपन्यास और आधुनिक कविता विषय मिले । जैनेन्द्रकुमार का मुक्तिबोध उपन्यास पाठ्यक्रम में था । इसी तरह हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी पाठ्यक्रम में था । दोनों ही उपन्यास मैंने पढ़ाए हैं । आधुनिक कविता में कामायनी पढ़ाई । ये कार्य आरम्भ हो गया था ।

सबेरे-सबेरे जब व्यकट के घर से निकलता तो ठिठुर जाता था । साइकिल को स्पर्श करने की इच्छा नहीं होती । दरती से हाथ ढककर वैसे ही साइकिल चलाते हुए यूनिवर्सिटी पहुँच जाता था । भवन के बाहर के प्रांगण में धूप में मैंने कक्षाएँ ली हैं । बाहर बैठने में छात्र भी प्रसन्न थे । जो पढ़ाने के लिए पढ़ता,

उन पर लिखना था 'समय'। चिन्तामणि भाग - १, पहले के समय में वे विशेष अभिमान ली और धीरे धीरे टिप्पणियाँ तैयार की। पुस्तक बाद में लिखी। इसी तरह उपन्यासों पर भी टिप्पणियाँ तैयार की और पुस्तक बाद में लिखीं। पहले लेख लिखे और वे लेख हफ्ते भी थे।

औरंगाबाद शहर उम्र समय छोटा था। यूनिवर्सिटी की स्थापना हुए दस वर्ष ही हुए थे। १९५८ ई. में यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई थी। दिसम्बर १९६८ ई. में ही यूनिवर्सिटी का दशान्दी समारोह हुआ। हमारे हिन्दी विभाग के साथ-साथ कामर्स विभाग और समाजशास्त्र विभाग की भी स्थापना हुई। कामर्स विभाग में बापट साहब तथा उनके दो सहयोगी गोपटे और चिरतो साहब की नियुक्तियाँ हुईं। इसी तरह समाजशास्त्र-विभाग में कुलकर्णी साहब और उनके दो सहयोगी सुधा काळदाते और बिलावर की नियुक्तियाँ हुईं। ये तीनों विभाग उस समय नये-नये थे।

□ □

मुस्कर भवन, मिल कार्नर, कोतवालपुरा

व्यक्त अम्बेकर के घर पर अधिक दिन रहना संभव नहीं था। घर की खोज शुरू हो गई। एक सप्ताह के भीतर मैंने घर खोज लिया। मिल कार्नर के ममीप कोतवालपुरा में मुस्कर साहब का नया बंगला बना था। उसमें तीन कमरे मिल गए। उसमें और भी दो पड़ोसी थे। एक पड़ोसी का नाम स्मरण नहीं है। दूसरे पड़ोसी पुराणिक थे। मैंने व्यक्त का घर छोड़ दिया और दिसम्बर के दूसरे सप्ताह में मिल कार्नरवाले मकान में आ गया। एक दिन मुस्कर साहब ने पूछा — 'मकान का क्या नाम रखूँ?' मैंने कहा 'साकेत' रखो।' मुस्कर साहब ने मकान का नाम 'साकेत' रखा।

पत्नी और बच्चे अभी आए नहीं थे। जनवरी में वे आए। फरवरी-मार्च वर्ष के अन्तिम महीने थे। परीक्षाएँ सिर पर मवार थीं। बच्चों को स्कूल में भेजना था। तिरुपति में अनिल प्रथम कक्षा में तथा सुनिल तीसरी कक्षा में पढ़ रहे थे। वहाँ की प्रोग्रेस रिपोर्ट भेरे पास थी। स्कूल छोड़ने के प्रमाण-पत्र भी थे। उनके साथ बच्चों को लेकर होली क्रॉस स्कूल पहुँचा। सिस्टर यूजिन मुख्य अध्यापिका थीं। उसने बच्चों को देखा। प्रमाण-पत्र देखे। प्रोग्रेस रिपोर्ट देखी। प्रवेश हो गया। अनिल को प्रथम कक्षा में और सुनिल को तीसरी कक्षा में प्रवेश मिल गया। नियमानुसार दोनों स्कूल जाने लगे। मिल कार्नर से छावनी तक बस जाती

श्री बस म बठा दत बच्च स्कूल पन्च जाते थे । अनिल उम समय पाँच वष का था । छठे का आरम्भ हुआ था । सुनिल को आठवाँ वर्ष चल रहा था । अनिल बीमार हो गया । फरवरी में स्कूल नहीं जा सका । स्कूल की टीचर घर के मर्याप गृहणी थी । उसके घर पढ़ने के लिए भंजा । जैसे तेसे बदले हुए पाठ्यक्रम के अनुसार परीक्षाओं की तैयारी दोनों में की और दोनों ही यथासमय उत्तीर्ण हुए और अगली कक्षाओं में नियमित हो गए ।

□ □

डा. भालचन्द्र तेलंग

डॉ तेलंग साहब से १९६६ ई में, उनके निवास स्थान पर पहली बार मिला था । बाद में हैदराबाद अधिवेशन में १९६७ ई में मिले थे । अब तो वे आरम्भ में ही नियमित मिलने लगे थे । उस समय उनके पास पुराने माडल की कार थी । उनके ड्राइवर का नाम उस्मान था । बेगमपुरा में विश्वविद्यालय के खेल के मैदान के सामने उनका बंगला था । कार में आते और जाते थे । गवर्नमेंट कालेज से सेवानिवृत्त हो गए थे । हिन्दी विभाग के अध्यापकों में वे वयोवृद्ध थे । मैं जब पहली बार, जाइन होने के बाद, विभाग के सदस्यों साथ उनके बंगले पर गया तो बोले — 'मैं अब साठ वर्ष का हो गया हूँ ।' सेवानिवृत्त होकर उन्हें दो वर्ष हो गए थे । १९६६ ई में ५८ वर्ष की आयु में ही सेवानिवृत्त हो गए थे । विभाग की स्थापना से पहले ही विभाग चल रहा था और वे भाषा विज्ञान तथा काव्यशास्त्र पढ़ाते थे । पद्याकर कवि के वंशज थे । बुन्देलखण्ड के निवासी थे । रीतिकाल के प्रेमी थे । पद्याकर कवि पाठ्यक्रम में था ।

यूनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग के निकट ही उन्हें अलग कक्ष मिला था । वे हिन्दी विभाग में नहीं थे । उन्हें इम्प्लायमेंट एक्सचेंज ब्यूरो का विभाग सौंपा गया था । उसी के वे अधिकारी थे । इस नाते उन्हें स्वतंत्र कक्ष मिला था । फिर भी वे हिन्दी की कक्षाएँ कुछ समय तक लेते रहे । १९६८-१९६९ ई. में यही स्थिति थी ।

तेलंग साहब वाराणसी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को जानते थे । वे लिखते हैं — "मैं सन १९२५ ई से १९२९ ई तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बी.ए. तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का छात्र रहा हूँ । उन दिनों में मेरे सहपाठी श्री कृष्णानन्दजी थे । हम दोनों हिन्दी विभाग की ऊपरी छत पर आचार्य शुक्लजी के जायसी, सूर तथा तुलसी के समीक्षात्मक लेखों की भावुकता पर चर्चा किया करते थे ।"

परी पुस्तक भाव, उद्देश और सवदना' के दो शब्द से —

तेलगु साहब की बातचीत में 'आचार्य शुक्ल' का नाम रहता । गवर्नमेंट कालेज में रहने के कारण अपनी पुस्तकों का प्रकाशन नहीं कर सके । सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने 'पढ़ाकर अनुसंधान शाला' — नामकरण से अपने ही आवास पर नई मस्य्या का आगम किया और उमी दृष्टिकोण से काम भी करने लगे ।

विभाग में उस समय तीन सदस्य थे । डॉ. भ. ह. राजूरकर, मैं और डॉ. गणेश अष्टेकर । हम तीनों से ही हिन्दी विभाग उस समय नया-नया बना था ।

□ □

डॉ. भ. ह. राजूरकर

पूरा नाम भगतसिंह राजूरकर है । इस्मानिया विश्वविद्यालय में वे इसी नाम से जाने जाते थे । हाजिर जवाब, बोलने में चतुर और साहसी । मैं एम ए फाइनल में था और भगतसिंह उस समय प्रीवियस में थे । हमारी कक्षा में वसंत चक्रवर्ती था और प्रीवियस की कक्षा में भगतसिंह थे । दोनों ही पण्डित वशीधर विद्यालंकार के साथ साहस में बात करते । चक्रवर्ती को महाप्राण कहा जाता था । और चक्रवर्ती ने भगतसिंह को लघुप्राण कहना शुरू कर दिया । भगतसिंह चक्रवर्ती से नाटे थे, इसीलिए । प्रीवियस में उस समय भूदेव पाटील, राजेन्द्र भारती, भारत भूषण आदि छात्र थे । भगतसिंह दिल्ली से संस्कृत में एम ए करके आए थे । गुरुकुल के छात्र थे । गुरुकुल में रहने के कारण और फिर दिल्ली में रहने के कारण, उनकी हिन्दी का उच्चारण साफ था । वे मराठी से अच्छी हिन्दी जानते हैं । एम ए होने के साथ वे औरंगाबाद आ गए और देवगिरि कालेज में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक हो गए ।

तिरुपति में डॉक्टर साहब ट्यूबर के रूप में किन्नी को नियुक्त करना चाहते थे । उस समय मैंने भगतसिंह राजूरकर का नाम लिया था । उनसे सम्पर्क सम्भव नहीं हुआ । बाद में उन्हींके सहपाठी भारत भूषण से सम्पर्क हुआ । वह तिरुपति आ गया ।

भगतसिंह राजूरकर से पुन. भेट औरंगाबाद में १९६८ ई. में हुई । उस समय उनकी नियुक्ति रीडर एवं अध्यक्ष के रूप में हुई । देवगिरि कालेज में सीधे वे यूनिवर्सिटी में चले आए । उन्हें यहाँ पर सब लोग 'दादा' कहते रहे हैं और आज भी कहते हैं । केवल विभाग में ही नहीं, अपितु विश्वविद्यालय के अन्य विभागों

के लोग भी, उन्हें दादा के नाम से ही सम्बोधित करते थे। यो वे आरम्भ से लोकप्रिय रहे हैं।

हमारा हिन्दी विभाग, दादा के विभाग के रूप में भी पहचाना जाता था। दादा का कक्ष कभी खाली नहीं रहता। महफिल लगी रहती थी। और दादा स्वयं किसी भी विभाग में सहज रूप में चले जाते। उनके जाने से महफिल जहाँ, वे जाते, वहाँ जमती। यूनिवर्सिटी के किसी भी अधिकारी के पास चले जाने या फोन कर के बुलवा लेते। जो काम, जिससे चाहते, उससे वह काम करवा लेते। टेबल पर बैठे-बैठे सारा काम हो जाता था।

राजूरकर साहब प्रायः प्रथम पुरुष में बात करते। छात्रों के साथ में बात करते समय सम्बोधन में 'तू', 'तेरा' का प्रयोग करते। बोलने में निश्चयात्मक स्वर अधिक रहता। वाणी में दृढ़ता और निश्चयात्मकता का गुण रहता। इससे उन्हें नेतृत्व मिल जाता। औरों में काम लेने की क्षमता उनमें है। उसे प्रशासकीय गुण कहना चाहिए। विश्वविद्यालय के अधिकारियों में सीधा सम्पर्क बनाए रखने के कारण उनका काम जल्दी हो जाता था। दूसरों का काम भी कर देते थे। इसलिए दूसरे विभागों के सदस्य उनसे सहयोग प्राप्त करने के लिए आते रहते थे। यो राजूरकर साहब सामान्य छात्र से लेकर कुलपति तक सम्पर्क बनाए रखते थे।

पुण्य नगरी में आठ नम्बरवाला बगला, उन्होंने विश्वविद्यालय में जाइन होने से पहले बना लिया था। मै १९६६ ई. में पहली बार औरगाबाद आया था। उस समय उनका बगला बना हुआ था। संभवतः उसी वर्ष उनका विवाह हुआ हो। आरम्भ में स्कूटर चलाते थे। गाड़ियाँ बदलते रहे। बाद में प्रोफेसर हो जाने के बाद उन्होंने कार खरीद ली। कुछ दिन पुरानी गाड़ी रखी। बाद में नई फीएट गाड़ी ले ली। स्वयं ड्राइव करते।

पुणे में माध्यमिक बोर्ड में वे हिन्दी पाठ्यक्रम समिति के अध्यक्ष हो गए। इस नाते बोर्ड की बैठकों में उन्हें नियमित जाना पड़ता था। कार में जाते और उसीसे लौटते। १९७८ ई. में मै ग्यारहवीं कक्षा की पाठ्य-पुस्तक का, सम्पादक मण्डल का सदस्य था। पुणे बोर्ड में मुख्य काम करनेवाला, जिनसे हमारा सम्पर्क रहता, वह दामोदर था। उसीसे सारी सामग्री मिलती और उसीको सामग्री सौंपनी पड़ती थी। मेरे साथ काम करनेवालो में रमेश मेहरा थे। उस समय उन बैठकों में राजूरकर साहब के साथ कार में बहुत बार गया हूँ। कार्यवश वहाँ ठहरना

पडता और तब काम करना आवश्यक था। हमारा माथ काम क्रमेवालां में हनुमत नायड भी थे। बहुत गोलनेवाले और बहम करनेवाले। उन्हें चुप करना कठिन रहता। नुझे याद है, उस वर्ष अमल बतुर्दशी से कुछ दिन पूर्व मे वार्ड के कार्य से पुणे में था। दिनभर काम करने के बाद शाम में गणपति देखने लक्ष्मी रोड गए। उम गत को जगह-जगह गणपति देखते रहे। हनुमत नायड माथ में थे। पूरी लक्ष्मी रोड भूम गए। लक्ष्मी रोड पर लक्ष्मी चमक रही थी। रात्रि में ऐसी चहल-पहल अन्ध्र नहीं देखी। मय पैदल घूम रहे थे। पुणे तो पुणे है। और किमी नगर को पैदल घूम कर देखना ही अच्छा रहता है। बहुत जगह हम गणपति के दर्शन के लिए पंक्ति में खड़ा रहना पडा है। दगडू हलवाई के गणपति से लेकर लक्ष्मी रोड के दूसरे म्पिे तक (नाम भूल रहा हूँ) प्रायः रुक रुक कर जाना पडा है। वह सब बोर्ड के कार्य के कारण देखना हुआ है।

राजूरकर साहब कभी अकेले नहीं जाते। किसी-न-किसी को अपने माथ में रखते। पहले में बतला देते और समय पर पहुँचते थे। विभाग में भी व सबके आने में पहले पहुँचते। विभाग में बैठकर भगवद्गीता पढ़ते। गीता उनकी प्रिय पुस्तक है। जब भी बहरा होती, राजूरकर साहब गीता का उल्लेख करते। जैसे सबेर वे समय से कुछ पहले उपस्थित रहते, ठीक वैसे ही सायंकाल में पाँच बजे से पहले आ जाते और फिर दिन भर का रहा-सहा काम देखते। अपना टेबल माफ रखते। जो कामज जिसको सौंपना होता, उसे वे सौंप देते।

विभाग का अकादमिक काम मैं आरम्भ से ही करता रहा हूँ। अकादमिक पत्रव्यवहार का काम भी करता रहता हूँ। मैं जो भी नाम देता, वे नाम प्रायः स्वीकृत हो जाते। विभाग में सेमिनार होते। गोष्ठियों में बाहर से विद्वान् आते। उनके कार्यक्रम होते। इन आयोजनों में सम्मिलित होना पडता। विभाग में आनेवालों में कुछ नाम — डॉ. प्रभात (मुंबई) / डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित (पुणे) / डॉ. नगेन्द्र (दिल्ली) / डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी (दिल्ली) / डॉ. विजयपालसिंह (वाराणसी) / डॉ. हरबशलाल शर्मा (अलीगढ़) / डॉ. नरसिहाचारी (तिरुपति) / डॉ. जगदीश गुप्त (इलाहाबाद) / डॉ. नामवरसिंह (दिल्ली) / प्रो. कल्याणमलजी लोढा (कलकत्ता) / आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (कलकत्ता) / डॉ. श्रीधरसिंह (गुवाहाटी) / डॉ. चन्द्रभान रावत (हैदराबाद) / डॉ. चन्द्रलाल दुबे (धारवाड) / नागार्जुन (दिल्ली से आए थे) / राजेन्द्र यादव (दिल्ली) / नरेन्द्र मोहन (दिल्ली) / बलदेव वशी (दिल्ली) / डॉ. महीपसिंह

(दिल्ली) / श्री रघुवीर सहाय (दिल्ली) / धर्मवीर भारती (मुंबई) / मन्नू भण्डारी (दिल्ली) और अनेक है। विभाग में कोई-न-कोई किसी कारण से विद्वान् और कवि आत ही रहे हैं। जो भी आते, उनका स्वागत करना, ममारोहों का आयोजन करना। उनके आवास तथा उनकी यात्रा के कार्य में सहयोग देना — यह सारा काम डॉ. राजूरकर साहब स्वयं देखते। विभाग के सदस्यों से काम लेते और सारे आयोजन सफल होते।

□ □

मराठवाडा साहित्य परिषद

भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद सदृश, मराठवाडा क्षेत्र में भी परिषद होनी चाहिए। इस दृष्टि से डॉ. राजूरकर साहब ने 'मराठवाडा साहित्य परिषद' की स्थापना की। उसका प्रथम वार्षिक सम्मेलन औरंगाबाद में १४ तथा १५ सितम्बर १९७४ को हुआ। इसके अध्यक्ष कमलेश्वर थे। उसका उद्घाटन भाषण उस समय के कुलपति रे. प. नाथ साहब ने दिया था। उस समय तक राजूरकर साहब प्रोफेसर हो गए थे। दूसरा अधिवेशन सितम्बर १९७५ ई. में लातूर में हुआ। इसी क्रम में तृतीय अधिवेशन नान्देड में २५ तथा २६ सितम्बर १९७६ ई. को हुआ। चतुर्थ अधिवेशन बीड में नवम्बर १९७७ ई. में हुआ। पंचम अधिवेशन परभणी में १९७९ ई. में और षष्ठ अधिवेशन उदगीर में १९८६ ई. में हुआ। यो १९७४ ई. में १९८६ ई. के बीच बारह वर्षों के अन्तराल में ६ अधिवेशन हुए। इन अधिवेशनों में आनेवाले साहित्यकारों में डॉ. धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, चन्द्रकान्त देवताले, डॉ. महीपसिंह, बलदेव वशी आदि हैं। यहाँ, यह स्पष्ट लिख दूँ कि इस क्षेत्र में रीतिकाल तक के साहित्य में अभिरुचि नागण्य रही है। विशेष रूप से आधुनिक कविता (उसमें भी छायावादोत्तर कविता), नई कहानी, नयी कविता आदि से सम्बन्धित साहित्य का अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। पहले, निबन्ध का स्वतंत्र प्रश्न-पत्र था। डॉ. राजूरकर साहब भी उक्त प्रश्न-पत्र को पाठ्यक्रम में रखना उचित मानते थे। किन्तु अन्य सदस्यों के आग्रह के कारण उन्होंने स्वीकृति दे दी। यो वे सब सदस्यों के विचारों का ध्यान रखते थे। आधुनिक साहित्य और उसमें भी कथा-साहित्य को पाठ्यक्रम में अपेक्षाकृत अधिक स्थान मिला है। मुक्तिबोध, धूमिल आदि कवियों को पाठ्यक्रम में अधिक स्थान दिया जाता रहा है।

राजूरकर साहब ठीक अर्थों में प. वशीधर विद्यालकार के उत्तराधिकारी रहे हैं। इसे यो भी कह सकते हैं कि पंडितजी हैदराबाद नगर में ख्यात थे। वही

ख्याति औरगानाद में राजूरकर साहब का प्राप्त हो गड। उन्हें बोलने के लिए मदद मच मिलता रहा है। पांडितजी हेदराबाद के नवाब थे। हाजिर जवाब थे। कवि थे। महफिल में बैठते थे। हंसते-हंसाते थे। पहनावे में शौकीन तबियत के थे। अच्छे से अच्छा फाउटन-पेन रखते थे। उनकी बैग भी वैसी ही रहती थी। बगला तबियत में बनवाया — गगन महल कान्नी में और कम्पाउण्ड में फूलों का बगीचा लगवाया। गाय पीने के शौकीन। स्वयं पीते और ओरो को पिलाते। फ्रीज का पानी पीते थे। खाने-पीने में शौकीन। उनकी आवश्यकत करना कठिन काम रहा है। मेरा अनुभव बतला रहा है। १९६१ ई में पांडितजी तिरुपति आए। गर्मी बहुत थी और फिर वह तिरुपति की गर्मी। घर पर दोनों पति-पत्नी आए। बोल — 'ठण्डा पानी पीए। फ्रीज का पानी लाओ।' उस समय मेरे पास फ्रीज नहीं थी। दौड़ा-दौड़ा गया और होटल से फ्रीज का पानी ले आया। इतना होने पर भी पांडितजी गुरुकुल के व्यक्ति थे। प्राचीन वाइसमय के ज्ञाता, अज्ञता के सम्पादक सब कुछ। हेदराबाद में हिन्दी की शोभा बढ़ानेवाले थे। पांडितजी के कुछ गुण तो राजूरकर साहब में मिल ही जाते हैं। राजूरकर साहब भी शौकीन तबियत के हैं। महफिल की शोभा बढ़ाते हैं। अपनी अभिरुचि के वस्त्र पहनते हैं। फाउटन पेन बदलते रहते हैं। अच्छी ब्रिफ केस रखते हैं। सफारी पहनते हैं। तबियत से काग ड्राइव करते हैं। गीत गाते हैं। फिल्मी संगीत में अभिरुचि रखते हैं। जो जिन्दादिल है। हंसते-हंसाते हैं। इस तरह मैं यो कह सकता हूँ कि वे औरगानाद के पांडित वंशीधर विद्यालकार हैं। पांडितजी वाइस चांसलर नहीं हो सके किन्तु राजूरकर साहब वाइस चांसलर हो गए। उन्हें यूनिवर्सिटी में आज भी सब 'दादा' कहते हैं। दादा — मराठी में बड़े भाईसाहब को कहते हैं। मैं राजूरकर साहब को भाईसाहब कहता रहा हूँ। वही अर्थ है।

□ □

कोतवालपुरा

३ दिसम्बर १९६८ ई को रात्रि में बारह बजे के आसपास औरगानाद पहुँचा। उस समय से अब तक औरगानाद में रहता हूँ। इस समय ३६ वर्ष यहाँ रहते हुए हो गए हैं। आरम्भ के ३६ वर्ष अम्बाजोगाई, सिकदराबाद और तिरुपति में गुजरे हैं। मैं यहाँ आया तब ३६ वर्ष का हो गया था और ३७ वॉ वर्ष चल रहा था। आज मैं ७२ वे वर्ष में हूँ। औरगानाद का स्थायी निवासी हो गया हूँ। यह नगर, अब मेरा नगर हो गया है। इस नगर के साहचर्य में मैंने जो अनुभव किया है, उसकी झलक प्रस्तुत कर रहा हूँ।

औरंगाबाद देखने की जिज्ञासा में १९६६ ई. क. ग्रीष्मकाल में पटना व औरंगाबाद आया था। उस समय तीन चार दिन ठहर कर, यहाँ का विश्वविद्यालय देखकर चला गया था। उसके बाद १९६८ ई. में जब आया उस समय नगर लगभग वैसा ही था। उस समय के औरंगाबाद में और आज के औरंगाबाद में लगभग ४ दशकों का अन्तर है। बहुत परिवर्तन हो गया है। मैं जब यहाँ आया था तो औरंगाबाद परकोटे की सीमाओं से निगम हुआ था। रेलवे स्टेशन में मिल तक का भाग मूना था। स्टेशन पर टांगे मिलते थे। ऑटो इक्का दुक्का होगा। सिटी बस चलने लगी थी। मिल के पास कोतवाली थी। उसे कोतवालपुरा कहा जाता है। मैं पहले कोतवालपुरा, मिल कार्नर पर रहता था। १९६९ ई. का वर्ष कोतवालपुरा में गुजरा है। सुस्करा के बगले में तीन कमरे मिल गए थे। मिल कार्नर यों पहले औरंगाबाद का प्रवेश स्थान था। आज जहाँ, मिल के पास बड़ा बस स्टैण्ड बना हुआ है, वह उस समय नहीं था। बस स्टैण्ड — शाहगज में था। बाहर से आनेवाली सभी बसे शाहगज तक जाती थी।

□ □

गणेश अष्टेकर

उस समय सरस्वती कालोनी, औरंगाबाद की नई कालोनी मानी जाती थी। सरस्वती भुवन कालेज के निकट की कालोनी थी। उस कालोनी में ग. तु अष्टेकर साहब रहते थे। उनके पडोस में उन्हींकी बगल में द. मा. मिरासदार (मराठी के प्रसिद्ध कहानी लेखक) रहते थे। ग. तु अष्टेकर साहब की नियुक्ति भी हमारे माथ हिन्दी विभाग में हुई थी। किन्तु वे उस समय जाइन नहीं हुए थे। अम्बेडकर कामर्स कालेज में प्राध्यापक थे। द. मा. मिरासदार देवगिरि कालेज में मराठी के प्राध्यापक थे। अष्टेकर साहब विभाग में आते रहते थे। बाद में वे भी विभाग के सदस्य हो गए। उनके साथ स्कूटर पर बैठकर उनके घर उन्हीं दिनों जाता रहता था। स्कूटर चलाने में वे निपुण थे। बहुत बार उन्होंने मुझे घर पर छोड़ा था। मिल कार्नर, औरंगपुरा के रास्ते पर है। औरंगपुरा जाने के लिए उन दिनों मिल कार्नर से पाँच पैसे देना पड़ता था। बस का यही टिकट था। विभाग में उन दिनों में रत्नाकर गोगटे जाइन हो गए थे। हम तीनों मिलकर कैम्पस में घूमते रहते थे। विश्वविद्यालय नगर से बाहर था।

औरंगाबाद के परकोटे से बाहर बेगमपुरा है और बेगमपुरा से बाद में जयसिंहपुरा है। जयसिंहपुरा से आगे जाने पर यूनिवर्सिटी का मुख्य प्रवेश द्वार है। यह द्वार

नाथ साहब (पढगीनाथ) जना कल्पपति बने थे उम समय बना है । प्रवेश द्वार में कैम्पस शुरू होता है । मुख्य मडक यूनिवर्सिटी के क्वार्टर्स को पाए करते हुए प्रशासकीय भवन तक जाती है । उसी के सामने बम अड्डा है । आर्ट्स बिल्डिंग अलग है और विज्ञान के भवन भी अलग अलग है । प्रशासकीय भवन के ठीक सामने स्वर्ण-महल (मराठी में उसे सोनेगी महल कहते हैं) है । यह भवन बुन्देला शासकों का रहा है । शाहजहाँ के समय में पहाडसिंह यहाँ आया था । उसीका वह भवन रहा है । इस पूरे क्षेत्र को पहाडसिंहपुरा कहा जाता था । विश्वविद्यालय का पूरा कैम्पस पहाडसिंहपुरा का भाग है ।

सोनेगी महल या सुनहरा महल कहने का एक कारण यह है कि महल के भीतर की छत और आसपास की दीवारों का वह भाग जो छत से सटा हुआ है, उन सब जगहों पर रंगीन डिजाईन नक्काशी है और उन रंगों पर सुनहरी आभा है । इससे उसे सुनहरा महल कहते हैं । महल से बाहर का खुला भाग बहुत ऊँचाई पर है और उसमें पानी का झील है । झील के दोनों ओर नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ हैं । नीचे का प्राणण विशाल है और प्राणण के चारों ओर परकोटा है । अब वह महल पुरातत्त्व विभाग में है । उमका कार्यालय वहाँ पर है । कार्यालय ऊपर की मजिल पर है और नीचे प्रदर्शनी की व्यवस्था है । उस महल के ठीक पीछे महाद्वि की पर्वतमाला है । इस पर्वत श्रृंखला के एक सिरे पर जो सुनहरे महल के ठीक पीछे है, ऊँची चोटी है । इस चोटी पर गोगा पीर विराजमान है । राजस्थान में इस गोगा पीर की बड़ी मान्यता है । किसी ने इस पीर की सफेदी की है और यह चोटी गोगापीर सहित दूर-दूर तक दिखलाई देती है । अष्टेकर साहब और मैं आते-जाते इस गोगा पीर को देखते रहते थे । हम दोनों ने चोटी तक पहुँचकर गोगा-पीर के दर्शन करने की ठानी । हमारे साथ रत्नाकर गोगटे भी हो गए । रविवार की छुट्टी के दिन हमने कुछ नाश्ते की सामग्री ले ली और पीने के लिए पानी रख लिया । पहाड पर चढ़ने लगे । हमारे लिए वही एक्सेस्ट था । मार्ग बना हुआ नहीं था । रास्ते की खोज हमें ही करनी थी । यह सोचते सोचते चढ़ते गए । यह देखते गए कि ऊपर पहुँचनेवाले किस रास्ते से गए होंगे । बातें करते हुए और प्रकृति का सौंदर्य देखते हुए अतएव हम एक दूसरे का हाथ पकड़ते हुए ऊपर पहुँच गए । गोगा पीर के पास की जगह बहुत सकडी थी । मुश्किल से भीतर एक ही व्यक्ति प्रवेश कर सकता था । बारी-बारी से हम देख आए । बातें करते-करते गोगटे साहब उत्साहित हो गए । उनकी इच्छा हुई कि

गोगा पीर क दर्शनार्थ पुन आना चाहिए । उन दिनों समर्थनगर मे उनका बगला बन रहा था । बात सभवत १९७५ ई की होगी । आरम्भ के (जनवरी-फरवरी) महीने हो । बगला बनते ही हम लोग पुन यहाँ आकर पीठाई खाएंगे । बगला बन गया । हम लोग पुन गये । वाम्तुशान्ति की पीठाई का मेवन किया । गोगा पीर की चाटी से औरंगाबाद के विस्तृत क्षेत्र दिखलाई देता है । विश्वविद्यालय के भवन दिखलाई देते है । और उन भवनों के पीछे बीबी का मकबरा भी दिखलाई देता है । गोगा पीर के द्वार के ठीक सामने पहाड की तलाहटी पर एक छत्री बनी हुई है । उस छत्री के पीछे का क्षेत्र भावसिंहपुरा है । सभवत वह छत्री भावसिंह की हो । ऐतिहासिक स्थलों की जिज्ञासा करते हुए और उन पर चर्चा करते हुए लोग लौट आए ।

कोतवालपुरा में रहते समय तिरुपति से सारा सामान आ गया था । उनमे मेरी साइकिल भी थी । इस साइकिल का उपयोग सिकंदराबाद तथा तिरुपति मे नियमित करता रहा हूँ । १९५२ ई से १९६८ ई. तक लगभग सतरह वर्ष तक मैंने साइकिल का उपयोग किया है । औरंगाबाद आने पर मैंने कुछ दिन साइकिल का उपयोग ब्यकट के घर पर रहा, तब तक (एक सप्ताह) किया है । बाद मे कोतवालपुरा में मैं बस से विश्वविद्यालय जाने लगा । तिरुपति से इस बीच साइकिल आ गई थी । वह वैसे ही पडी हुई थी । बहुत दिनों तक पडी रही । कोतवालपुरा से मै टाउन हॉल के निकट की कालोमी आनन्द नगर में पहुँच गया । वहाँ भी साइकिल वैसे ही पडी हुई थी । अष्टेकर साहब आते तो उस पडी हुई साइकिल को देखते । उनके कारण मैंने उक्त साइकिल को ठीक किया । साइकिल चलने लगी । किन्तु उसका उपयोग मैंने नहीं मेरे लडके सुनिल ने किया । होली क्रॉस स्कूल, साइकिल पर जाने लगा । स्कूल मे वह साइकिल खो गई । फिर नहीं मिली ।

अष्टेकर साहब लातूर के पास के अष्टा गाँव के थे । चौधरी थे । उनके गाँव में उनका बडा सम्मान था । अपनी बुजुर्ग पीढी का बहुत ध्यान रखते थे । माता-पिता का सम्मान करते और उनकी सेवा करते । अपने छोटे भाई नारायण का भी ध्यान रखते । दूसरी ओर अपने बच्चों को पढाते । उन्हे दो पुत्र थे । बाबू और संघर्ष और दो पुत्रियाँ - बडी का नाम भूल गया हूँ । छोटी का नाम क्रान्ति था । बडा पुत्र अमरीका गया और वही का हो गया । उसका विवाह किया ।

बड़ी बंटी का ब्याह भी किया । सेवानिवृत्त होने के बाद वेदान्त नगर के निकट एक फ्लैट उनके पुत्र ने खरीद लिया । उसी में उनका परिवार रहता है ।

दौलताबाद तथा खुलताबाद आदि स्थानों पर पैदल घूमते समय वे मेरे साथ थे । उनके साथ जो स्थान मेने घूमकर देखे है, उसका विवरण मैंने अपनी पुस्तक 'देवगिरि के यादव राजा' में दिया है । ऐतिहासिक स्थल को घूम फिर देवने की और उन्हें जानने की मेरी इच्छा रही है । महाराजकुमार डॉ रघुवीरसिंह से मिलने के बाद तो इच्छा और बलवती हो गई । मैं किसी स्थल पर जाना चाहता तो अष्टेकर साहब से कहता । वे समय निश्चित कर लेते और हमारी यात्रा हो जाती थी । न जाने क्यों वे महाराष्ट्र से बाहर अक्सर मिलने पर भी नहीं गए । मुझे स्मरण नहीं कि वे कली उत्तर या दक्षिण की यात्रा पर गए । मुंबई, पुणे चल जाते थे । मैं पुणे के रूबी अस्पताल में (सितम्बर १९९२ ई.) बीमार पड़ा हुआ था । आपरेशन हुआ था । मुझे देखने के लिए विभाग के अन्य सदस्यों के साथ अष्टेकर भी आए थे । पटना में उन्हें पुरस्कार लेने जाना था । नहीं गए । हम दोनों का साहचर्य अधिक होने पर भी घर पर, भोजन करने कभी नहीं आए । जो सब के साथ चाय पी लेते थे । बाहर से विद्वान् बन्धु आते ही रहते थे । उनकी सेवा में उपस्थित रहते ।

हम दोनों ने मिलकर एक पुस्तक लिखी । उसका नाम है - 'मराठी भाषा और साहित्य' । उसमें भाषावाला खण्ड मेरा लिखा हुआ है और साहित्य वाला खण्ड अष्टेकर साहब का लिखा हुआ है । उसका प्रकाशन १९८६ ई. में 'नेशनल पब्लिसिंग हाउस' नई दिल्ली से हुआ है ।

सेवानिवृत्त होने के बाद के दिवस थे । हमारा मिलना कम हो गया । एक दिन अचानक अष्टेकर साहब का फोन आया । बोले 'गोगटे साहब बीमार है । हेगडेवार दवाखाने में है । मैं दवाखाना गया । गोगटे साहब से मिलकर आया । लेटे हुए थे । पहचाना । डॉक्टर ने बात करने से रोका था । थोड़ी देर बैठकर लौट आया । उस समय बापट साहब भी वहाँ पर मिले । कुछ मास बीत गये । पुनः अष्टेकर साहब का फोन आया । बोले 'गोगटे साहब, घर पर है, और गभीर रूप से बीमार हैं । मैं समर्थनगार गया । टाउन हॉल के मकान मालिक पाटील साहब से मिला । उन्हें साथ लेकर गोगटे साहब के घर पर गया । लेटे हुए थे । शरीर क्षीण हो गया था । उनके तीन पुत्र है । बड़ा अमरीका में । अन्य दोनों में से एक बम्बई और एक यही पर था । मैं जब गया तो पुत्र आए हुए थे ।

कुछ वाक्य बोलें । लगा कि अब उठकर बैठनेवाले नहीं हैं । कुछ दर बैठकर हम दोनों चले आए । अष्टेकर साहब के फोन तो आए, किन्तु वे स्वयं नहीं मिले । कुछ दिन बीत गए । सबेर-सबेर फोन आया — 'गोगटे साहब नहीं रहे । नौ बज शव-यात्रा है ।' मैं जाने के लिए तैयार हाकर गेट से निकला । हमारी कालोनी के रमेश देशपाण्डे द्वार पर खड़े हो गए । उन्होंने स्कूटर रोक लिया था । कहने लगे — 'गोगटे साहब के घर चलना है ?' मैंने — 'हाँ, कहा । उनके साथ तुरन्त पहुँच गया । वहाँ पर अष्टेकर साहब मिले । उनका पुत्र सघर्ष स्कूटर पर उन्हें छोड़ गया था । उनसे उसी समय बात हुई । स्मशान में हम साथ-साथ थे । सघर्ष लौट आया और उन्हें लेकर चला गया । मैं भी अपने घर लौट गया । उनको सघर्ष के साथ आते ओर जाते देखकर एक झटका लगा । वे स्वयं स्कूटर पर नहीं आए । मैंने १९८९ ई के दिसम्बर के बाद स्कूटर चलाना बंद कर दिया था । मैंने स्वयं अधिक ध्यान नहीं दिया ।

एक दिन अचानक डॉ. पारसमल बोरा का फोन आया — 'अष्टेकर साहब की लडकी कान्ति का निधन हो गया है । कैसे हुआ ? मुझे कुछ मालूम नहीं । अनिल उन दिनों वेदान्त नगर में रहता था । अनिल से कहा कि हमें अष्टेकर साहब के घर जाना है । वह हमें घर पर ले गया । अष्टेकर साहब बैठे हुए थे । विवाह कुछ दिन पूर्व हुआ था । दामाद बैठा हुआ था । कोई कुछ बोलने-बतलाने की स्थिति में नहीं था । विवाह कैसे हुआ और असमय मृत्यु कैसे हुई । गूढ़ था । मैंने पूछा भी नहीं । ठीक नहीं लगा । गूढ़ रखने में ही भलाई थी । इतना जान गया कि प्यारी बिटिया के चले जाने से अष्टेकर साहब को सदमा पहुँचा है । वे क्या कहे ? इस सदमे से वे बाहर निकलने और मिलने-जुलने की स्थिति में नहीं रहे । स्वास्थ्य गिर गया ।

डॉ. पारसमल बोरा का क्वार्टर, डॉ. अष्टेकर साहब के क्वार्टर के निकट था । पड़ोसी थे । आना-जाना घर की तरह था । उनको सब जानकारी रहती थी । डॉ. पारसमल बोरा विश्वविद्यालय में पोलिटिकल साइंस के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हों गए थे । कुछ दिनों के लिए वे रजिस्ट्रार भी हुए थे । मेरे घर पर भी उनका आना-जाना अधिक था । अष्टेकर साहब के समाचार उनसे मिल जाते थे ।

अष्टेकर साहब ने जीवन में सघर्ष किया । धूमिल उनका प्रिय कवि था । उस पर उन्होंने पुस्तक भी लिखी । वह जयपुर से छपी है । उनका शोध-प्रबन्ध 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र और विष्णुशास्त्री चिपळूणकर' — पर था । वह भी जयपुर

से छप गया था। उनको व्यग्र लिखने का शौक था। पुस्तक लिखी किन्तु छपी नहीं। क्रान्ति चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने बच्चों के नाम क्रान्ति और संघर्ष रखा।

भारतीय हिन्दी परिषद का जून १९८४ ई. में औरंगाबाद में अधिवेशन हुआ। उस समय उन्होंने स्मारिका के लिए लेख लिखा और अपने मित्र कुटुम्ब से भी लेख लिखवाया।

एक दिन अचानक सायंकाल में पाँच बजे डॉ. पारसमल बोरा का फोन आया कि अष्टेकर साहब नहीं रहे। उनका देहात हो गया। उनके घर गया था। उनका शव उनके गाँव अष्टा ले गए हैं। शव के बिदा होने पर घर लौटा हूँ। पहले आपको फोन कर रहा हूँ। सुनकर कुछ समझ में नहीं आया। अन्तिम समय में मैं उन्हें देख भी नहीं सका।

पूरा वृत्त मुझे बाद में मालूम हुआ। उस दिन वे अपनी बड़ी बेटी की बेटी को पहुँचाने के लिए रेलवे स्टेशन गए थे। बेटी नान्देड जानेवाली थी। गाड़ी अभी आई नहीं थी। अष्टेकर साहब फर्स्ट प्लेटफार्म के वेटिंग रूम में बैठे हुए थे। लडकी बाहर ट्रेन की प्रतीक्षा में थी। मालूम हुआ कि गाड़ी तीन नम्बर के प्लेटफार्म पर आएगी। गाड़ी के आने का संकेत मिलते ही लडकी नाना के पास पहुँची। बिदाई लेकर जाना चाहती थी। वेटिंग रूम में बैठे-बैठे ही अचेत हो गए। लडकी कुछ समझ नहीं पाई। उसने यात्रा स्थगित कर दी। फोन किया और स्वयं नानाजी को लेकर अस्पताल पहुँची। नानाजी नहीं रहे, यह वह पहचान नहीं सकी। घर पर शव पहुँचा। पत्नी भी नहीं थी। वह गाँव गई हुई थी। बाळू अमरीका में था। अकेला संघर्ष था। वह पहुँचा और शव को अष्टा ले जाने का निर्णय हुआ। सब जगह समाचार दौड़ाए गए।

सच तो यह है क्रान्ति के निधन का सदमा जबरदस्त था। सह नहीं पाए। बाहर निकलते नहीं थे और उसी में चल बसे।

मैं उनकी पत्नी के लौट आने की प्रतीक्षा में था। दाभोलकर का फोन आया कि घर पर आकर मिलना चाहता हूँ। उसीने फोन पर बतलाया कि अष्टेकर साहब के घर जाकर आया हूँ। बाळू आया हुआ है और तीन बजे आज पुनः अमरीका चला जाएगा। तुरन्त हम दोनों अनिल के साथ अष्टेकर साहब के घर

गए । बाळू मिल गया । और लोग भी मिले । उमी दिन मुझे पूर्ववृत्त विस्ताप से मालूम हुआ । यह भी मालूम हुआ कि उन्हें अकेले घर से बाहर नहीं जाने देते थे ।

□ □

अध्यापन

डॉ रमेशचन्द्र शाह ने आत्मकथा के प्रथम भाग को पढ़कर ७ जुलै २००३ को पत्र लिखा । पत्र इस प्रकार है —

M-4, निराला नगर, भदभदा रोड

भोपाल - ४६२ ००३

दिनांक ७-७-२००३

प्रिय डॉ बोरा,

जीवन यात्रा के पड़ाव - १, मुझे यथासमय मिल गई थी और प्रवास के दौरान मे उसे पढ़ भी गया था । अच्छी रुचिकर लगी थी । वह वही अलमोडा में रह गई है । वहाँ भी मेरा एक पुस्तक-संचय है । पुस्तक अच्छी है — दो दूक अनुभवों का समावेश उसमें है । आशा है दूसरे खण्ड में अध्ययन अर्थात् साहित्य के अध्ययन से एकात-निबिड रूप से सम्बन्धित प्रसंग भी होंगे । जिससे दूसरे अपने ममानधर्मा भी प्रेरणा ग्रहण कर सकें । जीवन सघर्ष अपनी जगह है पर एक अध्यापक — नैहिक अध्यापक के अपने - Classroom Teaching - कक्षा के अपने अतरंग अनुभव शोध करने-करवाने के सिलसिले में भी हुए अनुभवों का आलोचनात्मक आकलन भी अपना महत्त्व रखते हैं । हिन्दी के इस अध्ययन जगत् एकेडेमिक सुविधा की यह स्थिति बिडंबना भी होगी । है ही । उसके और समकालीन साहित्य-रचना की ... बीच जो असांभोज्य भी क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहा है, उस बारे में भी कुछ चिंतन मनन चाहिए । हो सके तो ।

शुभकामनाओ सहित
रमेशचन्द्र शाह

शाह साहब अपना जगह ठीक है। इस सम्बन्ध में मैं अपनी बात कह रहा हूँ। सब के अनुभव अलग-अलग हो सकते हैं। मेरे भी अपने अनुभव हैं। कुछ प्रसंग लिख रहा हूँ।

एम ए की कक्षाएँ आरम्भ में ही मुझे (१९५९ ई) मिल गईं। आरम्भ में दो ही छात्र थे। राघवन और रानी सयुक्ता। मुझे प्राचीन तथा मध्यकालीन कवियों को पढ़ाना पड़ा। तदर्थ मैं तैयारी करता था। और पुस्तक के साथ कक्षा में जाता था। एक घण्टा पढ़ाने के लिए तीन-तीन घण्टे पढ़ता था। आरम्भ में मेरा ध्यान पाठ्यक्रम के पाठ पर ही केन्द्रित रहता था। पाठ ही समझ में न आए तो समीक्षा कर्तों ? पढ़ाते-पढ़ाते में स्वयं सीख रहा था। सभी पाठ्य पुस्तकें खरीदता था और छात्रों के खरीदने के लिए कहता। छात्रों के हाथ में पुस्तक देखता तो मुझे प्रसन्नता होती। एक घण्टे में पाँच-छ छद्म पढ़ाता था। उनका भावार्थ समझाता। मूरदास के पद, तुलसीदास की विनयपत्रिका, बिहारी के दोहे, केशवदास की रामचरितका, आदि आदि पुस्तकें मैंने पढ़ी और पढ़ाई। प्रायः जब भी विषयों का बँटवारा होता तो मुझे वे विषय दिए जाते जो दूसरे अध्यापक पढ़ाना नहीं चाहते। मुझे चयन करने और अपनी अभिरुचि व्यक्त करने का अवसर मिला ही नहीं। मैंने इसे कभी बुरा नहीं माना। स्वीकार कर लेता और तैयारी में लग जाता। तिरुपति में प्रायः सभी छात्र तेलुगु-भाषी और कुछ तमिल-भाषी रहते। वहाँ के मुस्लिम छात्र भी तेलुगु-तमिल का व्यवहार करते। उन्हें ब्रजभाषा और अवधी के काव्य मैंने पढ़ाए हैं। पाठ का वाचन करना आए और भावार्थ समझ में आए तो बड़ी बात मानना चाहिए। ऐसे छात्रों से मुझे जूझना पड़ा है। पाठ्यक्रम के पाठ को प्रेषणीय बनाना ठीक से समझाना — मेरा प्राथमिक कार्य था। उस कार्य को मैंने अपनी क्षमता से पूर्ण किया।

इस कार्य के साथ-साथ मैं शोध-कार्य भी कर रहा था। दूसरे वर्ष रावतजी आ गए थे। वे भाषा विज्ञान पढ़ाने लगे। उनका वह कार्य था। उक्त विषय का प्राथमिक परिचय मुझे रावतजी से मिला। ध्वनि-विज्ञान का अध्ययन, मैंने उन्हीं से सीखा। आरम्भ में मैंने — 'भूषण के काव्य में प्रयुक्त ध्वनियों का विश्लेषण' रावतजी के निर्देशानुसार लिखा। उक्त लेख मैंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका को भेजा। वह वर्ष ६८, अंक १-२, सन् २०२० में प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व भी एक लेख — 'पर्णालपर्वतग्रहणाख्यान और शिवभूषण' रावतजी के निर्देशानुसार लिखा। उक्त लेख मैंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के वर्ष

६ . अंक ४ . सवत् २०१७ में प्रकाशित हुआ । बाद में तो और लेख भी तिरुपति में रहते हुए छप रहे हैं । इनके छप जाने से कार्य के प्रति मेरा विश्वास बढ़ा है ।

भूषण के शोध कार्य में सबसे पहले मैंने 'भूषण की भाषा' वाला अध्याय लिखा है । भाषा से सम्बन्धित एक आलेख 'भूषण के काव्य में प्रयुक्त सजाओ का अध्ययन' सम्मेलन पत्रिका, (इलाहाबाद के) भाग ५३, संख्या १-२, पौष-ज्येष्ठ १८८९ शक सवत् में प्रकाशित हुआ है । इस शोध कार्य का उपयोग मैंने कक्षाओं में विषय के अनुसार किया है । रावतजी जब तिरुपति से राजस्थान के वनस्थली विद्यापीठ में चले गए तो विभाग में भाषा विज्ञान पढ़ाने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ । इस समय डॉक्टर साहब ने निर्णय दिया कि — 'बोराजी भाषा विज्ञान पढ़ाएँ ।' फिर मेरी ओर देखते हुए कहा — 'क्यों बोराजी, भाषा विज्ञान पढ़ाएँ ना ?' मैंने अपनी स्वीकृति दे दी । भाषा विज्ञान पहली बार पढ़ा रहा था । पाठ्य-पुस्तकें खरीद ली और पढ़ाने लगा । स्वयं पढ़ता और पढ़ाने का अन्तर तब मेरी समझ में आया । समय-समय पर मुझे कार्यवश विषय बदलने पड़े हैं । उस समय उत्साह था । मैं घबराया नहीं । नया विषय पढ़ने लगा ।

घर पर सस्कृत-व्याकरण (लघुसिद्धांत कौमुदी) पढ़ता था । तदर्थ सस्कृत का अध्यापक नियमित पढ़ाने आता था । सस्कृत-व्याकरण के कारण भी भाषा विज्ञान समझाने में सहायता मिली है । मैंने विभाग में भाषा विज्ञान पढ़ाने समय अपना ध्यान ध्वनि-विज्ञान पर अधिक केन्द्रित किया । छात्रों को पढ़ाने-पढ़ाते मुझे विषय और भी समझ में आता गया । उनसे लिखवाता भी था । उन दिनों आचार्यजी विद्यापति पढ़ा रहे थे । मैंने छात्रों से कहा कि विद्यापति के काव्य में प्रयुक्त ध्वनियों का विश्लेषण करो । संयुक्त स्वर, स्वरसमूह, संयुक्त व्यंजन को पहचानो और उनके उदाहरण क्रमशः लिख कर लाओ । एक छात्रा — सब समझ रही थी । वह सब लिखकर ले आई । दिखलाया । मैंने देखा, वह ठीक लिख रही थी । मैंने उससे क्रमशः लिखने के लिए शीर्षक दिए और सामग्री को क्रम से प्रस्तुत करने कहा । दूसरी बार उसने पूरा लिखा और दिखलाया । मुझे प्रसन्नता हुई । मैंने पूरा पढ़ा और किञ्चित् ठीक करके सामग्री को नये सिरे से क्रमशः लिखने कहा । अब तो पूरा शोध लेख बन गया था । मैंने उक्त लेख उसे अपनी ओर से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' को भेजने के लिए कहा । उसने लेख दिए हुए पते पर भेज दिया । मेरा भी एक लेख 'राधामाधवविलासधम्मू : एक बहुधाषी रचना' नागरी प्रचारिणी पत्रिका को प्रकाशनार्थ भेजा हुआ था । छपकर आया नहीं था । उसकी स्वीकृति

मिन १९७३ अक १ मे ४ सन्त २०२५ वाला अक मिला । वह सम्पूर्णानन्द स्मृति अब था । उसमे मेर लेख के साथ-साथ तिरुपति की छात्रा सी. कृष्णमा का विद्यापति की ध्वनियों पर लिखा लेख भी छपा था । मुझे उक्त लेख के छप जाने से अधिक प्रसन्नता हुई । वह छात्रा बाद मे मिली नहीं । उमे वह लेख देखने मिला या नहीं ? मै नही जानता । तीन-चार वर्ष पुरानो बात थी । उसने अपना पता ठीक दिया होता तो उसे अक मिल जाता । उसी अक मे यहाँ के सरस्वती भुवन कालेज के इतिहास के प्राध्यापक का — श्री ब्रह्मानंद देशपाण्डे का — लेख छपा था । वे जब मुझसे मिलन घर पर आए तो मैने उन्हे लेख दिखलाया । उन्हे वह अक मिला नही था । अन्तु ।

मै जो भी पढाता था, उसकी टिप्पणियों तैयार कर लेता था । पढाने के बाद मुझे वह सब याद हो जाता था । कक्षा मे दोहराता था । प्रश्न-पूछता था । छात्रों से सवाद करता । कोई बात मेरी ही समझ मे न आती तो उसके उत्तर की खोज करता । धीरे धीरे क्रमश सब स्पष्ट हो जाता था । मूल पाठ को समझना और समझाकर कहने का मेरा प्रयत्न अधिक रहता । बाद मे मै उसी विषय पर लेख लिखता और पत्रिकाओ मे छपने भेजता । लेख छप जाते थे । उपन्यास पढाने मिले तो उन्ही पर लिखा ; कहानी पर भी लिखा । औरंगाबाद मे आरम्भ के वर्षो मे (उन दिने भाषा विज्ञान तेलग साहब पढाते थे) मैने उपन्यास पढाए — कहानियाँ पढाई । जैनेन्द्रकुमार का 'मुक्तिबोध' तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' पढाया । दोनों पर अध्यापन के आधार पर क्रमश लेख लिखे है । वे लेख मराठवाडा यूनिवर्सिटी के जर्नल मे छपे हैं । 'मुक्तिबोध . खण्डित व्यक्तित्व का चिंतन' — जुलाई १९६९ के अक में छपा और 'बाणभट्ट की आत्मकथा . ललित भावोच्छ्वासों की कथा' जुलाई १९७० के अक में छपा । बाद में ये लेख मेरी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण' (१९७२ ई) में भी अन्य प्रकाशित लेखों के साथ छपे है ।

निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' पढाई तो उस पर भी लेख लिखा । बाद मे वह लेख 'परिन्दे : मौन संवेदना का स्वर' शीर्षक से सचेतना के वर्ष ४, अक २ पूर्णांक १४, ग्रीष्मांक १९७० मे छपा ।

मेरे लेखन मे अध्यापकीय प्रभाव है । तकिये कलाम के रूप मे कुछ शब्दों को श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने पहचाना और पत्र भी लिखा । 'बाणभट्ट की आत्मकथा'

उपन्यास पर मैंने जो कुछ लिखा उसकी अनुमुद्रित प्रति मैंने उन्हें भेजी थी। उनका पत्र इस सम्बन्ध में मिला था। लिखा —

२८०, चित्तरंजन एवेन्यू

कलकत्ता

प्रिय वीराजी

दिनांक ८-४-१९७४

सस्नेह सम्स्कार,

‘वाणभट्ट की आत्मकथा ललित भावोच्छ्वासों की कथा।’ पढ़ गया। आपने परिश्रमपूर्वक उसके लालित्य को विविध कोणों में देखा और दिखाया है। लालित्य को देखने के लिए परिश्रम करना पड़े तो बात गड़बड़ाती है। कहने का मतलब यह है कि आपका सावधान प्राध्यापक रूप ही उममें अधिक मुखरित हुआ है, सहृदय रस भोक्ता कम। शायद हम लोगों का पेशा ही ऐसा है कि हम लोग विश्लेषक अधिक होते हैं, सश्लेषक कम। जो हो, आपका निबन्ध समदरणीय है। मुझे आपने स्नेहपूर्वक स्मरण किया इसके लिए आभारी हूँ। भगवान की कृपा से आप सानन्द रहे।

शुभैषी

विष्णुकांत शास्त्री

मेरा उक्त लेख — बाद में ‘हिन्दी उपन्यास : प्रयोग के चरण’ पुस्तक में (१९७२ ई.) प्रकाशित हुआ। उसे डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने पढ़ा और अपनी सम्पादित पुस्तक ‘हिन्दी उपन्यास पहचान और परख’ (१९७३ ई.) में सम्मिलित किया। उसका प्रकाशन, लिपि प्रकाशन, ई. १०/४ कृष्णनगर, दिल्ली - ११००५१ से हुआ है। डॉ. मदान मुझे अपने लेखों की अनुमुद्रित प्रतियाँ भेजते रहते थे। उनके लेखों को चाव से पढ़ता और उन्हें अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत करते रहता। यद्यपि उनसे मिलना हुआ नहीं किन्तु उनके लेखन से परिचित था। वे मेरे प्रिय लेखकों में थे।

मैं जो पढ़ता था। उसको प्रसंगानुसार छात्रों को बतलाता था। मुझे कक्षा में जाने में कभी भय नहीं हुआ। कक्षा में सौ के आसपास छात्र रहे हैं और दो-तीन (कभी-कभी एक) छात्र भी रहे हैं। एक छात्र भी उपस्थित रहता, तो उसे पढ़ाता रहा हूँ। मैंने छात्रों के आत्मसम्मान को कभी चोट नहीं पहुँचाई।

यदि वे पढ़ते नहीं, लिखत रहा या कक्षा में उपस्थित नहीं रहते तो उन सब के कारण पहचानने के प्रयत्न किये। छात्रों से अकेल में बात करने का प्रयत्न करता। उनकी समस्याएँ के स्वरूप को पहचानता और तदनुसृत उनसे व्यवहार करता। पढ़ात समय पाठ्य-पुस्तक सदैव माथ में रखता। कुछ भूल जाता तो पुस्तक खोलकर कक्षा में भी देख लेता। यद्यपि सब कुछ याद रखता था। तथापि पुस्तक माथ में रखने से कठन-बतलान में बल अधिक रहता। पुस्तक वहीं, जो बार-बार पढ़ी जाए और बार-बार पढ़ने में ही पुस्तक के अंतरण से परिचय होता जाता है। कवि या लेखक कभी पुराना नहीं होता।

आरभ में कुछ पुस्तकें कक्षाओं में पढ़ाने के आधार पर लिखी गई। पढ़ाते-पढ़ाते कभी-कभी बहाव में विषय के अंतरण तक पहुँच जाते हैं आगे ऐसा जब-जब हुआ, उस समय सहज बोध की अनुभूति होती है। उस समय जो कुछ कह जाते हैं, वह लिखा हुआ नहीं रहता। अचेतन में पूर्व संचित ज्ञान, चेतना में अपने-आप मुखरित होता है। मैंने कक्षाओं में ऐसा बहुत बार अनुभव किया है। इससे मुझे आत्मिक तोष भी मिला है। अवसर चूकना नहीं चाहिए। मत चूके चौहाण। चूकने से हानि होती है। कक्षाओं में ही अध्यापक ज्ञान की आग में तपता है। उसकी अपनी परीक्षा वहीं पर होती है। भाषा की लय उसे कक्षा में ही मिलती है। विषय को आत्मसात करते जाने का म्यान (अवसर कह लो) कक्षा ही है। छात्रों के चेहरों पर हमें विषय बोध की प्रतिक्रिया दिखलाई देती है। और वही उसकी सफलता का द्योतक है। ऐसा जब-जब भी हुआ, मैंने उक्त विषयों पर सहज गति से लिखता भी रहा हूँ। यह ठीक है कि टेबल पर शोध-सामग्री रखी रहती और उस पर लिखना भी उतना ही आवश्यक रहता। ऐसा होने पर भी, जो कुछ पढ़ाता, उनमें से कुछ-न-कुछ लिखता रहा हूँ। मुझे यह मालूम हो गया कि समय पर लिख न लूँ या अवसर चूक जाऊँ तो उस सामग्री को खो दूँगा। पुनः याद करके लिखना कठिन है। तदर्थ समय निकालना और अपना काम कर लेना आवश्यक है। किसी दिन यदि ठीक से पढ़ा नहीं पाया तो मानसिक असतोष रहता था। पढ़ाते-पढ़ाते नई नई समस्याओं में भी जूझना पड़ा है। ऐसा जब-जब भी हुआ, उन समस्याओं से जूझने का प्रयत्न करता था। छात्र तो प्रश्न छोड़कर चले जाते हैं। उत्तर देने की प्रक्रिया अध्यापक को करनी पड़ती है। ऐसे कई प्रश्न मेरे सामने आए हैं। इन प्रश्नों में ज्ञान के अन्य विषय रहे हैं— गणित, इतिहास, काव्यशास्त्र, मनोविज्ञान आदि

आदि । मैंने अन्य-अन्य विषया की पुस्तकें इसी हतु खरीदी और पढ़ता गया हूँ । दूसरे वर्ष उसी विषय को पुन पढ़ाने समय टूट हुए या रह गए प्रश्नों का उत्तर मैंने दिया है । छात्र तो नये गहते किन्तु मैं तो अपने लिए पुराना गहा हूँ । और जब उसी आत्मतोष के साथ पढ़ाता तो मेरा असतोष दूर हो जाता । अपनी कमजोरी को पहचानने का स्थान कक्षा है । अध्यापक की कसौटी क्लाम रुम है ।

जो पुस्तक मैंने पढ़ी नहीं उस पर कुछ नहीं कहता था । छात्रों को माफ बतला देता की यह पुस्तक मैंने नहीं पढ़ी है । जयपुर में आपातकालीन सगोष्ठी में (अक्तूबर १९७६ ई) डॉ नगेन्द्र आए हुए थे । उनका व्याख्यान चल रहा था । जब वे बैठ गए तो विद्वान् बन्धुओं ने उनसे प्रश्न किये । प्रश्न नागेश्वरलाल ने पूछा था । जिस पुस्तक पर नागेश्वरलाल ने प्रश्न किया, वह पाश्चात्य काव्यशास्त्र से सम्बन्धित था । डॉ नगेन्द्र ने प्रश्न पहचान लिया था । अतः उसी प्रकार की दूसरी जो पुस्तक उन्होंने पढ़ी थी । उस पुस्तक को आधार बनाकर उन्होंने उत्तर दे दिया । उन्होंने साफ कह दिया कि वह पुस्तक उन्होंने नहीं पढ़ी ।

□ □

भाषा विज्ञान के प्रश्न

तिरुपति में मैंने एक वर्ष ही भाषा विज्ञान पढ़ाया था । औरंगाबाद १९६८ ई में आया । उस समय डॉ. भालचन्द्र तेलग भाषा विज्ञान पढ़ा रहे थे । १९७० ई के बाद में वे इन सेवाओं से मुक्त हो गए । उस समय मुझे भाषा विज्ञान विषय मिला । उस समय से सेवानिवृत्त होने तक फरवरी १९९३ ई तक लगभग वाईस-तेईस वर्ष मुझे भाषा विज्ञान ही पढ़ाना पडा है । प्रधान रूप से दो पुस्तके पाठ्यक्रम में थी - भाषा विज्ञान — भोलानाथ तिवारी और हिन्दी भाषा का इतिहास — धीरेन्द्र वर्मा । इन दोनों पुस्तकों के साथ साथ एक तीसरी पुस्तक हिन्दी व्याकरण-कामता प्रसाद गुरु भी पाठ्यक्रम की पुस्तक मानकर सब को खरीदने और पढ़ने के लिए कहता था । इन पुस्तकों को पढ़ने तथा पढ़ाने में, मैं 'हिन्दी भाषा के इतिहास' से अधिक जूझता रहा हूँ और आज भी, उक्त जूझना बन्द नहीं हुआ है । तदर्थ ऐतिहासिक भाषा विज्ञान पर ध्यान देना आवश्यक है । डॉ. धीरेन्द्र वर्मा पूरी तरह से विदेशी विद्वानों को मान्यताओं (भाषा परिवार की अवधारणाओं को) को मानकर चले है । उनके लेखन में बौद्धिक ईमानदारी है । उनका लेखन वैज्ञानिक पद्धति से ठीक है । मैं यह भी मानता हूँ कि उनकी

उस पुस्तक के समान आज भी दूसरी कोई पुस्तक नहीं है। धीरेन्द्र वर्मा सुनीतिक्रमण चाटुन्या की मान्यताओं को मानकर चले हैं।

सम्प्रति में केवल दो-तीन मुख्य प्रश्न लिखे गए हैं। उनके भी विस्तार में न जाकर प्रश्नों की व्यावहारिकता पर विचार कर रहा हूँ। प्रश्नों का सम्बन्ध भारतीय इतिहास और भूगोल में है। भाषाओं की दृष्टि से भारतीय इतिहास पर और भारतीय भूगोल पर चित्रण करनेवाली अच्छी पुस्तकें आज भी हिन्दी में नहीं हैं।

यह मान लिया गया है कि आर्य लोग बाहर से आए। पश्चिमोत्तर भारत से आए। आर्य ही नहीं अपितु द्रविड लोग भी बाहर से आए। दोनों परिवार अलग-अलग हैं। भाषा की दृष्टि से दो परिवार बतलाकर दोनों परिवारों का मेल-मिलाप को काटकर अलग करने का प्रयत्न विदेशी विद्वानों का रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने विदेशी मान्यताओं का खण्डन किया है। इसे आज भी मान्यता मिली नहीं है।

प्रश्न है — भाषा में बोली का जन्म होता है या बोली से भाषा का विकास होता है। पढ़ाया तो यह जाता है कि बोली पहले है और भाषा बाद में। ठीक है तो भाषा का इतिहास पढ़ाते समय भाषा को आधार मानकर (संस्कृत को जननी भाषा मानकर) इतिहास क्यों लिखा जाता है? धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक में लौकिक संस्कृत को आधार मानकर मूल भाषा मानकर — हिन्दी भाषा का इतिहास लिखा गया है। क्या किसी साहित्यिक और समृद्ध भाषा से बोली का जन्म होता है? और फिर सीधे बोली का उल्लेख न करते हुए हिन्दी के मानक रूप (खड़ी बोली का — हिन्दी में परिणत रूप) से उदाहरण देकर हिन्दी भाषा का इतिहास लिखा गया है। और फिर इस इतिहास में भी तत्सम (संस्कृत के मूल शब्द) शब्दों को छोड़ दिया गया है। तत्सम शब्दों का इतिहास लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। केवल तद्भव शब्दों का इतिहास लिखा गया है। इस इतिहास लेखन में भी हिन्दी व्याकरण — कामताप्रसाद गुरु को धीरेन्द्र वर्मा ने आधार माना है। गुरु का व्याकरण १९२० ई. का है। आज वह पुराना है किन्तु उसके समान दूसरी कोई पुस्तक आज भी अपने-आप में विषय पर पूर्ण पुस्तक दूसरी नहीं मिलती। संस्कृत के विद्वान् गुरु के व्याकरण को स्वीकार नहीं करते। वे तो उसे ग्रामर कहते हैं। प. काशीराम शर्मा पाणिनि के व्याकरण को व्याकरण कहते हैं और गुरु के व्याकरण को ग्रामर कहते हैं।

संस्कृत की पद्धति (उमकी चाल) अलग है और हिन्दी की पद्धति (चाल) अलग है। दोनों का मेल कहाँ ? दोनों का सम्बन्ध अलग है। प. किशोरीदाम वाजपेयी ने प्रथमतः धीरेन्द्र वर्मा का खुलकर विरोध किया। उन्होंने अपनी पुस्तक को व्याकरण नहीं कहा। वे उसे शब्दानुशासन कहते हैं। उनका मानना ठीक है कि संस्कृत का शब्दानुशासन अलग पद्धति का है और हिन्दी का शब्दानुशासन अलग पद्धति का है। वे सीधे संस्कृत को — धीरेन्द्र वर्मा की तरह — मूल भाषा मानकर हिन्दी भाषा का इतिहास-लेखन लिखने के पक्ष में नहीं हैं। विश्वविद्यालयों में आज भी प. किशोरीदास वाजपेयी को पढ़ाया नहीं जाता।

धीरेन्द्र वर्मा संस्कृत के व्याकरण और गुरु के व्याकरण के रूपों को लेकर (वह भी तद्भव रूपों को) भाषा का इतिहास लिखते हैं। आप मेरी कठिनाई को समझते होंगे या समझने का प्रयत्न कर सकते हैं कि संस्कृत का व्याकरण तथा हिन्दी का व्याकरण न जाननेवाले छात्रों को उनके रूप लिखकर उनका ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाना रहा है। इस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते-करते मैंने हिन्दी भाषा का इतिहास पुस्तक पढाई है।

यह मैं मानता हूँ, कि बार-बार धीरेन्द्र वर्मा की पुस्तक पढी है। उपजे हुए प्रश्नों को निदान खोजने के लिए मैंने विषय से सम्बन्धित दूसरी पुस्तकें भी पढी हैं। प्रत्येक बार धीरेन्द्र वर्मा पढाते हुए मुझे लगता कि वे अपनी जगह ठीक हैं। किन्तु उनकी मूल मान्यता ही गलत लगती। उनके इतिहास में रिक्त स्थान बहुत हैं। इतिहास की बीच की कड़ियाँ गायब हैं। मूल-संस्कृत (लौकिक संस्कृत) शब्द और बाद में हिन्दी का मानक रूप। प्राकृत के जो उदाहरण मिले, वे ठीक — अन्यथा स्थान रिक्त हैं। कठिनाई व्याकरणिक प्रत्ययों की अधिक है। शब्द समूह ही नहीं, अपितु व्याकरणिक प्रत्ययों की व्युत्पत्ति संस्कृत से बतलाने का प्रयत्न करते हैं। सगति बैठती नहीं तो साफ नकार जाते हैं। लेखन में ईमानदारी है। संस्कृत में जोड़ने की पूरी कोशिश करते हैं और ऐतिहासिक क्रम को बतलाने के लिए कल्पित रूप (इतिहास में जो मिलते ही नहीं) बतलाते और समाधान प्रस्तुत करते हैं। उन कल्पित रूपों पर वे पूरी तरह विश्वास नहीं करते और अन्त में प्रश्न-चिह्न छोड़ जाते हैं। उनका लेखन वैज्ञानिक है — विशुद्ध वैज्ञानिक है। इतिहास तथा भूगोल की पूरी उपेक्षा है। उनकी पुस्तक को प्रथम वाचन में समझा नहीं जा सकता जब कि उनकी पुस्तक अन्य पुस्तकों की तुलना में अधिक सरल और स्पष्ट है।

बाद के वर्षों में धीरे-धीरे नर्मदा की पुस्तक पढ़ते समय आरम्भ में ही उनकी मान्यताओं को स्पष्ट कर देता रहा हूँ। उस पुस्तक को आधार मानकर और परीक्षाओं के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर छात्रों को वस्तुस्थिति बतलाने लगा। अपनी मान्यता अलग में बतलाकर पुस्तक की मान्यताओं का विवेचन करता रहा हूँ। छात्रों को वही लिखना है, जो पुस्तक में है। पुस्तक को पार करने के बाद मान्यताओं के विवेचन की बात आनी है। मैंने पहले से ही छात्रों को भ्रम में नहीं रखा। जो मैं अनुभव करता वह साफ-साफ बतला देता था। संक्षेप में भाषा विज्ञान पर जो पुस्तकें लिखी हैं, वे कक्षाओं में भाषा विज्ञान पढ़ाने के कारण हैं।

□ □

प्राकृत भाषा

प्राकृत भाषा को ऐतिहासिक क्रम में संस्कृत के बाद में रखा जाता है। उसे संस्कृत से व्युत्पन्न भाषा कहा गया है। प. किशोरीदास वाजपेयी ने प्राकृत को महत्त्व दिया। वे प्राकृत का सम्बन्ध हिन्दी से बतला नहीं सके हैं किन्तु उनकी दूरदृष्टि में प्राकृत भाषा है। उन्होंने संस्कृत को पूरी तरह से नकारा है। अपनी तालिका में उन्होंने प्राकृत के तीन रूप बतलाए हैं। - प्रथम प्राकृत (वैदिक काल की जनभाषा)/ द्वितीय प्राकृत (जिसका पाले रूप प्राकृत)/तृतीय प्राकृत (जिसे अपभ्रंश कहा गया है) और बाद में हिन्दी कहा है। संस्कृत को नकारते हुए ही, संस्कृत का सहारा लेते हुए उन्होंने हिन्दी शब्दानुशासन लिखा है। सच देखा जाए तो हिन्दी भाषा के इतिहास की प्राथमिक खोज प. किशोरीदास वाजपेयी ने की है। उन्होंने दूसरे संस्करण के आरम्भ में संवत् २०२३ में (अर्थात् १९६६ ई. में) लिखा — 'प्राकृतवाले आगे आएं' उनके वाक्य इस प्रकार है —

“हमने हिन्दी का रूप विवेचन करते समय संस्कृत का सहारा लिया है, सो कोई अपराध नहीं है। जो लोग प्राकृत से हिन्दी का सम्बन्ध मानते हैं, इसी णाऊ णाऊ प्राकृत से, उन्हें सामने आना चाहिए और हिन्दी का एक ऐसा व्याकरण तैयार करके दिखाना चाहिए, जिसकी पट्टी (संस्कृत से नहीं) इस तथोक्त प्राकृत से बैठे। देश में प्राकृत के विद्वानों की कमी नहीं है। हम उनकी वैसी कृति की प्रतीक्षा में हैं और - 'तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि'”

म उम उज्ज्वलमति महान् अध्यवसायी विद्वान् के चरणो को अपने सिंग पर लेकर कृत्यकृत्य होऊँगा, जो प्राकृत के आधार पर हिन्दी का व्याकरण प्रस्तुत कर देगा ।”

(हिन्दी शब्दानुशासन, सवत् २०२३, पृ ५ सात और आठ)

संस्कृत का सहारा लेते हुए प. किशोरीदाम वाजपेयी व्याकरण अवश्य लिखते हैं किन्तु उनके लेखन में संस्कृत को मूल भाषा नहीं माना गया है। संस्कृत और हिन्दी भाषा की प्रकृति में जो भेद है, उसे स्पष्ट करते हुए उनका लेखन आगे बढ़ता है। स्थापित मान्यता से उनका विरोध है। मान्यता को नकारते हुए प्रमाण और उदाहरण देते हुए लिखना अपेक्षाकृत कठिन है। इस कठिनाई को विषय का विद्वान् ही समझ सकता है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने प्राकृत की पूरी उपेक्षा की है। प. किशोरीदास वाजपेयी का ममर्थन तो उन्होंने किया किन्तु प्राकृत के सम्बन्ध में वे मौन रह गए। इसी तरह वे अपभ्रंश भाषा पर भी वे स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं लिखते। कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण को भी उन्होंने महत्वपूर्ण नहीं माना। चलते ढंग से भी गुरु के व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते। इतनी बात सच है कि डॉ. रामविलास शर्मा ने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की महत्ता को पहचाना और उसी को उन्होंने अपने अध्ययन का आधार बनाया।

□ □

ऐतिहासिक भाषा विज्ञान

मैंने जो पुस्तकें भाषा विज्ञान पर लिखी हैं — वे ‘ऐतिहासिक भाषा विज्ञान’ की हैं। मेरी योजना में इन्हें लिखना नहीं था। पत्रिकाओं के सम्पादकों ने मुझसे लिखवा लिया। प. विद्यासागर विद्यालंकार ने मुझसे दो पुस्तकें लिखवाईं। भारत की भाषाएँ पूरी पुस्तक धारावाहिक ‘प्रकर’ में छपी हैं। पुस्तक बाद में छपी। उसके बाद उन्होंने ‘भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी भाषा’ पुस्तक के तीनों खण्डों की समीक्षा लिखने कहा। पहले उन्होंने प. काशीराम शर्मा को लिखा। उनके पास तीनों खण्ड नहीं थे। मैंने उन्हें अपनी ओर से तीनों खण्ड भेजे। दो-तीन महीने बाद उन्होंने पुस्तकें वापिस भेज दीं। कहा — ‘नहीं’ लिखेंगे। उसके बाद पं. विद्यासागर विद्यालंकार ने लिखा — ‘अब आप ही लिखो।’ एक लेख में लिखना संभव नहीं था। अतः धारावाहिक रूप में लिखता गया। लेख छपते रहे। उक्त लेखों की अनुमुद्रित प्रतियाँ मैंने डॉ. रामविलास शर्मा तथा

डॉ नाम-रामचंद्र की क्रमशः भेजता रहा है। दोनों की आर में प्राप्ति सूचनाएँ मिलती रही है। बाद में मेने आर्य परिवार पर अपने विचार प्रकट करते हुए लेख लिखा। उक्त लेख गणकालीन भारतीय साहित्य के सम्पादक 'गिरधर राठी' ने प्रकाशित किया आर क्रमशः लाब्रेने कहा। बाद में वे धारावाहिक लेख 'भारत की प्राचीन भाषाएँ' — पुस्तक में प्रकाशित हुए। दोनों ही पुस्तकें 'ऐतिहासिक भाषा विज्ञान' और 'भारत की प्राचीन भाषाएँ' — दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली में प्रकाशित हुई। यो ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की ओर मेरा ध्यान गया है। आज भी यह विषय उपेक्षित है। प्राकृत भाषा का आधुनिक भाषाओं से जो सम्बन्ध रहा है, उसको बतलाने के प्रयत्न नहीं हुए हैं। मैं उक्त विषय पर काम को आगे बढ़ाना चाहता हूँ। प. काशीराम गर्मा ने इस विषय पर जो काम किया है, उसे अभी पहचाना नहीं गया है।

□ □

अनुसंधान और शोध-छात्र

भाषा विज्ञान के साथ-साथ मुझे नये शोध-छात्रों को अनुसंधान से सम्बन्धित एक प्रश्न-पत्र का पाठ्यक्रम पढ़ाना पड़ा। यह पाठ्यक्रम एम फिल का था। एम ए. में भाषा विज्ञान और एम फिल में 'साहित्य और समयवर्गी विद्याशाखाएँ' — दो पेपर मुझे पढ़ाने पड़े। शोध का दूसरा सामान्य प्रश्न-पत्र - डॉ चन्द्रभानु सोनवणे पढ़ाते थे। एम ए में वे काव्यशास्त्र पढ़ाते थे। यो भाषा-विज्ञान के साथ-साथ अनुसंधान से सम्बन्धित एक पेपर मुझे मिला था। यह तो एम फिल की बात हुई। एम फिल के अन्य दो प्रश्न-पत्रों के पाठ्यक्रम बदलते रहते थे। उनमें पाठ्य-पुस्तकें काव्य, नाटक, कथा साहित्य आदि की पुस्तकें रहती थीं। लघु प्रबन्ध भी लिखना आवश्यक था। उसका सम्बन्ध तीसरे पेपर की पाठ्य-पुस्तकों से रहता था। हम लोग जितने प्राध्यापक थे, उस हिसाब से छात्रों का वितरण लघु-प्रबन्ध के लिए होता था। प्रत्येक प्राध्यापक को एम फिल. का एक छात्र मिलता था। उस छात्र का वह निर्देशक होता था। अनुसंधान का कार्य यो देखे तो अधिक था। एम.फिल के छात्र का निर्देशन करना, उससे सीमित समय में प्रबन्ध लिखवा लेना आवश्यक था। इनके साथ-साथ पीएच डी के शोध-छात्र अलग रहते।

एम फिल में छात्रों की संख्या सीमित रही है। अधिकतम सख्या प्राय प्राध्यापकों की सख्या को ध्यान में रखकर निर्धारित की जाती थी। सब को एक-एक शोध — छात्र प्रबन्ध लिखवाने मिलता था। आठ-नौ छात्र रहते थे।

उनमें से कक्षा में मुश्किल से चार-पाँच उपस्थित रहते थे। प्रायः पाठ्यक्रम में आधुनिक कवि (समकालीन कवि कहना चाहिए) और कथाकार अधिक (कहना चाहिए) रहा करते थे। प्रबन्ध कवियों तथा कथाकारों पर अधिक लिखवाए गए हैं। केन्द्र में कथा-साहित्य अधिक रहा है और उसके बाद समकालीन कवियों को अधिक जगह मिली है। भारतेन्दु युग से पहले का साहित्य प्रायः उपेक्षित रहा है।

अनुसंधान के क्षेत्र में या काम करवाने में छात्रों से सीधा सम्पर्क रहता है। अनुसंधान का काम कक्षा में कम और कक्षा से बाहर — ग्रंथालय में अधिक रहता है। उससे व्यक्तिगत रूप से मिलना आवश्यक होता है। नये शोध-छात्रों घबराए हुए रहते हैं। उनमें आत्मविश्वास हो तो कार्य आगे बढ़ता है। सब में अधिक कमी पुस्तकों की रहती है। सामग्री की खोज में आधा समय निकल जाता है। उन्हें समझाना और बतलाना और भी कठिन होता है।

कुल ग्यारह छात्रों की पीएच.डी. उपाधि १९७३ ई. से १९९५ ई. तक मिली है। अन्तिम दो छात्रों को मेरे सेवानिवृत्त होने के बाद में मिली। ग्यारह शाध-छात्रों में छह छात्रों के शोध-प्रबन्ध प्रकाशित भी हुए हैं।

□ □

□ शकुन्तला पांचाल - मैं शोध-छात्र हो या शोध-छात्रा हो — शोध-यात्रा पर भेजा रहा हूँ। विषय के जानकार नामी विद्वानों से मिलने कहता रहा हूँ। पुस्तकें खरीदने लगाता। शोध-यात्रा में क्या-क्या मिला? सब पूछता था। तदनुसार कार्य आगे बढ़ता था। शकुन्तला पांचाल पहली शोध-छात्रा है। उसका विषय 'बिहारी की भाषा' है। उसे १९७३ ई. में उपाधि मिली। बाद में उसे यहीं पर विवेकानन्द कालेज में नौकरी भी मिल गई है। आज वह स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग की अध्यक्ष है। उसी कालेज में है। परिश्रम से उसने सब कुछ पाया है। उसे मैंने अपने गुरु डॉ. चन्द्रभान रावत के पास भेजा। वह तिरुपति गई और बाद में मथुरा (लोहबन) भी गई। इसी तरह उसे डॉ. हरदेव बाहरी के पास इलाहाबाद भी जाने के लिए कहा। कोश का काम करना था। इसलिए कोश विज्ञान के अधिकारी विद्वान् से मिलना आवश्यक समझकर उसे वहाँ भेजा। इस नाते मेरा भी डॉ. हरदेव बाहरी से परिचय हुआ। बाद में जब मैं इलाहाबाद गया तो डॉ. हरदेव बाहरी से मिलकर आया था। मैंने अनुभव किया कि मथुरा और इलाहाबाद की यात्राओं के बाद में शोध-छात्रा का आत्मविश्वास बढ़ा है। उसे यह मालूम हो गया कि क्या करना है। चार वर्षों के भीतर उसे उपाधि मिल गई। डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित उसकी मौखिकी के लिए आए थे।

बदनागवण श्रोत्रिय दूसरे शोध-छात्र थे । विषय था —

□ 'भक्तिकालीन भक्त कवियों की सौंदर्य भावना' - पहले इसी नाम पर रजिस्ट्रेशन हुआ । इसमें प्रधान चार कवि — मूर, तुलसी, कबीर और जायसी पर काम करना था । मैं आरम्भ में ही विषय को सीमित करना चाहता था । किन्तु माने नहीं । कहा - 'मैं सब कर लूँगा' । काम आरम्भ करते के बाद उन्हें कबीर और जायसी पढ़ना ठीक नहीं लगा । वे केवल मूरदास और तुलसीदास पर ही काम करना चाहते थे । मेरी दृष्टि में वह भी अधिक था । मैंने विषय वहीं रखते हुए विषय की सीमाओं का ध्यान रखते हुए क्रोष्टक में लिखवा दिया । 'मूर तथा तुलसी के सदर्भ में' । मूर और तुलसी भी अधिक होंगे, यह जानकर मैंने उन दोनों कवियों की भी सीमाएँ बना दी । तुलसी में केवल 'गमचरितमानस' और मूरदास में केवल मूरदास के पद्यों की सख्याएँ बनवा दी । अब तो श्रोत्रियजी को वह भी अधिक लगा । बाद में वे मूरदास को भी छोड़ना चाहते थे और केवल 'गमचरितमानस' पर काम करना चाहते थे । किन्तु बार-बार विषय बदलना संभव नहीं था । मोदर्य बोध का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए कवि समर्थों के चयन का काम करने कहा । उपमानों की तालिकाएँ बनवाई । काठों पर अलग-अलग लिखने कहा । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पढ़ने कहा । इसी तरह राजशेखर की पुस्तक भी पढ़ने कहा । विष्णुधर ने कवि समर्थों पर स्वतंत्र कार्य किया है । वह पुस्तक BHU से छप गई थी । वह मँगवाई गई । श्रोत्रियजी ने श्रम किया । तालिकाएँ बनवाई । सब कुछ किया । बीच-बीच में पबरा जाते थे । उन्होंने औरगाबाद में रहकर काम किया । उन्हें धर्माबाद से आना पड़ता था । उनका काम पूरा हुआ । १९७८ ई में उन्हें उपाधि मिली । डॉ. श्रीधरसिंह मौखिकी के लिए कालिकट से आए थे । प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है ।

□ कमलाकर गंगावणे ने कथाकार रामेय राघव विषय पर काम किया । रामेय राघव की पत्नी जयपुर में रहती है । उनसे मिलने गंगावणे जयपुर गए थे । श्रीमती सुलोचना राघव ने उनकी सहायता की । सामग्री उपलब्ध हुई । रामेय राघव की मित्र-मण्डली से मिलने आगरा भी गये । १९७९ ई में उपाधि मिली । प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है । सुलोचना राघव के भाई यहाँ पर पुलिस विभाग में DIG थे । वह अपने भाई से मिलने आई थी । घर पर मिलने आई । गंगावणे का प्रकाशित प्रबन्ध मुझ से लेकर गई । बाद में गंगावणे की नियुक्ति हिन्दी विभाग में हुई । अब सेवानिवृत्त हो गए हैं । मौखिकी के लिए डॉ. प्रेमशंकर सागर से आए थे ।

□ दर्शनसिंग सिलंगर का विषय महाराष्ट्र की हिन्दी पत्रिकाओं का इतिहास था। प्रबन्ध में १९७५ ई तक की पत्रिकाओं का इतिहास है। दर्शनसिंग ने महाराष्ट्र के प्रमुख नगरों का भ्रमण किया। पत्रिकाओं के कार्यालयों में गये और प्रोफार्मा के अनुसार सामग्री और आंकड़े लिखकर लाए। नमूने के तीन-चार अंक भी एकत्रित किए। सामग्री बहुत हो गई। सब की तालिकाएँ बनवाई। एक अध्याय भारत की हिन्दी पत्रिकाओं पर भी लिखा। प्रबन्ध में सर्वेक्षण की सामग्री व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है। १९७९ ई में उपाधि मिली। मौखिकी के लिए डॉ रमेशकुन्तल मेघ अमृतसर से आए थे। उक्त प्रबन्ध प्रकाशित नहीं हुआ। दर्शनसिंग के निधन का समाचार मिला। होनहार युवक अममय में चला गया। प्रबन्ध छपने से रह गया। विश्वविद्यालय में प्रबन्ध की प्रति है।

□ राजलक्ष्मी नायडू ने 'विष्णु प्रभाकर व्यक्तित्व और कृतित्व — पर काम किया। राजलक्ष्मी नायडू श्री विष्णु प्रभाकर से मिलने दिल्ली गई थी। उसको सारी सामग्री मिल गई थी। काम पूरा हो रहा था किन्तु परेशान रहती। सामग्री को व्यवस्थित आकार देने में समय लगा। वह १९८४ ई में पीएच डी हो गई। उसका प्रबन्ध छप गया है। वह अब स्थायी अम्बेडकर कामर्स कालेज में हिन्दी की प्राध्यापिका है।

□ रंगादेवी शुक्ला के शोध-प्रबन्ध का विषय 'मिश्रबन्धु और उनका साहित्य' था। मिश्र बन्धु लखनऊ में रहते थे। अतः रंगादेवी शुक्ला को लखनऊ भेजा। इलाहाबाद और वाराणसी भी जाने के लिए कहा। वह गई। साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद में स्वयं प्रभात मिश्र ने अभिरुचि ली उसे वहाँ उपलब्ध सामग्री से अवगत किया। इसी तरह वाराणसी में नागरी प्रचारिणी सभा में भी उसे विपुल सामग्री मिली। लखनऊ में मिश्रबन्धुओं के घर पर गई। घर पर वृद्ध प्रतापनारायण मिश्र मिले। उन्होंने रंगादेवी शुक्ला को सामग्री दिखलाई। उसने मिश्रबन्धुओं की आत्मकथा की पाण्डुलिपि भी देखी। वह अप्रकाशित थी। सब कुछ देखने के बाद वह लौट गई। उस यात्रा में उसका काफी काम हो गया था। मेरी इच्छा रही कि आत्मकथा की फोटो कापी ले आती तो उसको प्रबन्ध के साथ जोड़ा जा सकता है। उसे पुनः लखनऊ भेजा। वह गई और आत्मकथा की फोटो कापी ले आई। प्रबन्ध के साथ आत्मकथा को अलग से जोड़ा गया। १९८४ ई में उसे उपाधि मिली। उसके बाद वह मिली नहीं। प्रबन्ध छपा नहीं। आत्मकथा भी छपी नहीं। प्रबन्ध और आत्मकथा दोनों ही विश्वविद्यालय में हैं।

□ प्रतिभा घारे का विषय 'हिन्दी तथा मराठी के सर्वनाम' था। उसन निर्देशानुसार दानो भाषाओं के विकास को स्पष्ट करने के लिए मस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदी नहीं अपितु प्राचीन कविता के सर्वनामों के विविध रूपों की तालिकाएँ प्रामाणिक पुस्तकों के आधार पर एकत्रित की। प्रत्येक रूप का अलग-अलग विवरण दिया। सारी तालिकाएँ भी प्रस्तुत की। प्रबन्ध पर १९८७ ई. में उपाधि मिली।

□ हैदराबाद से श्रीमती सी वसन्ता आई। उस्मानिया विश्वविद्यालय से उमने एम. ए. किया था। उसके पति स्टेट बैंक ऑफ इंडिया में शाखा में अधिकारी थे। इससे वसन्ता को यहाँ रहना था। भीमसेनजी निर्मल से परिचित थी। उसने 'नीरज' पर काम करने की इच्छा व्यक्त की। उसके पति भी नीरज को चाहनेवालों में थे। इच्छा न होते हुए छात्रा की अभिव्यक्ति को ध्यान में रखते हुए मैंने विषय स्वीकार कर लिया। उसने श्रम किया और काम किया। नीरज में मिलने अलीगढ़ गई। वह तेलुगु की पत्रिकाओं में लिखती रही है। उसके तेलुगु के उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए हैं। १९८७ ई. में वह पीएच.डी. हो गई। उसका प्रबन्ध 'गीतकार नीरज' वाणी प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। डॉ. रमेशकुतल मेघ और डॉ. श्रीधरसिंह उसके परीक्षक थे। ठाकुर माहब उस समय गुवाहाटी से मौखिकी के लिए आए थे। वसन्ता को किसी कालेज में नौकरी नहीं मिली। वह अनुवाद का कार्य करती रही। उसने मराठी सीख ली। लातूर में रहते समय उसने 'उचल्या' उपन्यास का मराठी से तेलुगु में अनुवाद किया। वह साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित हुआ। बाद में उसने प्रख्यात उपन्यासकार विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'आर्द्धनारीश्वर' का तेलुगु में अनुवाद किया। वह भी साहित्य अकादमी दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। तापी धर्मारव की तेलुगु पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में किया। उनका प्रकाशन राधाकृष्ण प्रकाशन से हुआ है। उसका कार्य जारी है। सम्प्रति वह औरंगाबाद में रहती है।

□ मराठी के प्रोफेसर एव अध्यक्ष डॉ. युसूफ पठाण की पत्नी एन. बी. पीरजादे ने 'महाराष्ट्र का हिन्दी सन्त साहित्य' विषय पर काम किया। १९८८ ई. में उन्हें उपाधि मिली।

पी-एन. डी. के लिए यो तो बहुत से छात्र मिलते रहे हैं। कुछ छात्र रजिस्ट्रेशन के बाद में बीच में ही काम छोड़कर चले गये। व्यक्तिगत कारण रहे हैं। नौकरी मिल गई तो काम छोड़ दिया। छात्राओं का विवाह हो गया तो काम छोड़ दिया। और भी कुछ कारण हो सकते हैं। टिककर धैर्य के साथ काम करनेवाले ही अन्त में मफल हुए। इन छात्रों के कारण मैंने सम्बन्धित

विद्वानो और लेखको मे पत्र-व्यवहार किया हे । तदनुमार छात्रो को यात्रा पर जाने के लिए कहा है । अवसर मिलने पर मै भी जब उस गाँव या शहर मे गया तो विद्वानो और लेखको मे मिलने गया हूँ । ग्गादेवी गुक्ला मिश्रबन्धुओ के घर गई थी । मै भी बाद मे जब लखनऊ गया तो उस समय मिश्र बन्धुओ के घर पर गया था । प्रतापनारायण मिश्र से मिलकर आया हूँ । मै इससे पूर्व १९७९ ई मे भी लखनऊ गया था । लखनऊ मे उस्मानिया विश्वविद्यालय के मेरे गुरु डॉ रामकुमार खण्डेलवाल रहते है । ग्रीष्मावकाश मे लखनऊ मे थे । उनसे मिलने गया । घर पर मिल गये । मैने कहा — श्री नारायण चतुर्वेदी से मिलना चाहता हूँ । उनको साथ लेकर श्री नागयण चतुर्वेदी से मिलने गया । कोठी के बाहरी आगन मे खटिया पर लेंटे हुए थे । उठकर बैठ गए । बहुत वृद्ध हो गए थे । सरस्वती की फाइले उनके पास मे थी । उन्होने दिखलाई । बैठकर बाते की । बहुत प्रसन्न हुए । उन्होने मेरे लेख 'सरस्वती' मे प्रकाशित किये है । लौटते समय उन्होने हम दोनो को अपनी सम्पादित पुस्तक 'अस अद्भुत बानी' की एक-एक प्रति दी । ५ जून १९७९ ई को यह भेट हुई थी । भूषण कवि का एक बृहत् चित्र भी दिया । वह चित्र 'भूषण और उनका साहित्य' — पुस्तक के दूसरे संस्करण में छपा है ।

पी-एच डी के छात्रो से एम फिल के छात्रो की सख्या अधिक रही है । प्रबन्ध लिखवाने के लिए प्रति वर्ष एक छात्र रहता ही था । बहुत हुआ तो वैकल्पिक रूप मे आधुनिक कवि रहते । मैने जैसे पीएच डी के छात्रो को सामग्री एकत्रित करने वाहर भेजा है, वैसा भेजना कठिन हो जाता । तदर्थ पत्र-व्यवहार करता । अज्ञेय की कहानियों पर कु. भपीदर कौर टुटेजा को प्रबन्ध लिखवाना था । तदर्थ मैने अज्ञेय को पत्र लिखा था । उत्तर मे अज्ञेय का पत्र मिला था । पत्र का उत्तर इस प्रकार है —

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

कैवेंटर्स ईस्ट, कैवेंटर लेन,

सग्दार पटेल मार्ग

नई दिल्ली - २१

जुलाई ३, १९८१ ई.

प्रियवर,

आपका १० जून का पत्र मिला है । आपकी जोध-छात्रा आवश्यक समझे तो पत्रव्यवहार कर सकती हैं । मेरी सम्पूर्ण कहानियाँ

दो जिल्दो में राजपाल के यहाँ से प्रकाशित हुई है - पुस्तक मगाने के लिए अलग-अलग नाम देना आवश्यक नहीं है, लेकिन एक भाग का नाम है 'छोटा हुआ स्मृता' और दूसरे का 'लौटती पगडंडियाँ'। उनके साथ कहानी तथा विशेष रूप में अपनी कहानी के विषय में भूमिकाएँ भी हैं जो शोध-छात्रा के लिए उपयोगी हो सकती है।

हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य नाम के निबन्ध संग्रह में भी कहानी विषयक दो-एक लेख है जो कदाचित् उपयोगी हो। इसी प्रकार आत्मनेपद तथा लिखि कागद कोरे में कुछ प्रश्नोत्तर है जो काम आ सकते हैं। ये दोनों पुस्तकें भी राजपाल की हैं। अपरोक्ष नाम से भेट वार्ताओं की एक पुस्तक छपी है जिसमें भी कुछ उपयोगी सामग्री हो सकती है। यह पुस्तक सरस्वती विहार, दरियागज दिल्ली की है। आशा है आप प्रसन्न हैं। यह तो आपके पत्र से ज्ञात हुआ कि आप औरगाबाद में हैं।

सस्नेह

आपका

डॉ राजमल बोरा

सचिदानन्द वात्स्यायन

६, आनन्द नगर,

टाउन हॉल, औरगाबाद - ४३१ ००१

कु भूपीदरकौर टुटेजा को १९८२ ई. में एम फिल की उपाधि मिली। उसके बाद उसने अपना नाम पीएच डी के लिए भी रजिस्टर्ड किया था। किन्तु विवाह हो गया। उसके बाद छोड़ दिया। टुटेजा से पूर्व सुरेश खाण्डवे ने 'यशपाल की कहानियों का शिल्पविधान' विषय पर काम किया। वह १९८१ ई. में एम फिल हुआ। इसी तरह रमाकान्त अपरे ने 'नागार्जुन की कविता' पर काम किया। उसे १९८४ ई. में उपाधि मिली। एम ए के लिए भी प्रबन्ध लिखवाये गये। कुमुदिनी तळेले ने 'धूमिल की कविता' पर काम किया। यह काम १९७९ ई. में पूरा हुआ।

सेवानिवृत्त होने से पूर्व के वर्षों में मैंने निर्णय कर लिया था कि भाषा विज्ञान से सम्बन्धित विषय पर काम करवाऊँगा। छात्र-गण कथा-साहित्य पर ही काम करना चाहते थे। ऐसे जो भी छात्र आते मैं अन्य सदस्यों के पास भेज देता

था। अन्तत दो छात्रों ने काम करना स्वीकार किया। उनका रजिस्ट्रेशन पीएच डी के लिए हुआ। व है —

श्री भालेराव नान्देड जिला - भाषा सर्वेक्षण

दीनानाथ फुलवाडकर परभणी जिला . भाषा सर्वेक्षण

इन दोनों में भालेराव लातूर के महाविद्यालय में प्राध्यापक थे और दीनानाथ फुलवाडकर गगाखेड में थे। मैंने दोनों से ही कह दिया था कि उन भाषाओं पर काम करना है जिन्हें जनजातियाँ बोलती हैं। ऐसी कितनी भाषाएँ हैं और उनको बोलनेवाले समुदाय क्या करते हैं। मेरी इच्छा तो मराठवाडा की सभी जनजातीय भाषाओं का सर्वेक्षण करवाना था। सब जिलों के लिए तो छात्र मिले नहीं तो जो मिले उन पर मतौष करना पडा। भालेराव को १९९४ ई में तथा दीनानाथ फुलवाडकर को १९९५ ई में उपाधियाँ मिली। दोनों ही डॉक्टर हो गए। यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि दीनानाथ फुलवाडकर तो शान्त चित्त से काम करता रहा किन्तु भालेराव को विषय अटपटा लगा। ममझने और काम पूरा करने में समय लगा। उसे अपने काम पर विश्वास ही नहीं था। उसको देखने और विश्वास दिलाने हेतु लातूर में उसके घर पर भी गया हूँ। मैं पी-एच डी. के छात्रों के घर पर जाता रहा हूँ। उनकी पुस्तकें देखता था। लिखित सामग्री देखता था। जो घबराए रहते या स्वयं में आत्मविश्वास की कमी रहती तो उनके घर जाने में उनमें आत्मविश्वास बढ़ता था। छात्र के घर पर तो अकेले चला जाता था। किन्तु छात्रों के घर पर अकेले नहीं गया। राजलक्ष्मी नायडू के घर पर अष्टेकर साहब को साथ लेकर जाता रहा हूँ। कमलाकर गगावणे भी बहुत घबराए रहते। उसके घर पर भी गया हूँ। अतत गगावणे के लिए अपने कमरे में जगह दी और पास में बैठाकर काम करवाया। जो छात्र आत्मविश्वास से काम करते, उनके घर पर नहीं गया। छात्रों के माता-पिता से भी आवश्यकतानुसार मिलता रहा हूँ। विशेष रूप से छात्रों के पिता से मिलता था और अपनी लडकी की कठिनाइयों से अवगत करता। इच्छा रही कि उनका काम ढग से पूरा हो जाए। जो कोई लिखकर लाता। उन्हें पढवाता और ध्यान से मुनता था। उनकी सामग्री को उसी समय देखता, जब वे सामने बैठे हुए रहते क्योंकि उन्हें उनकी भूलों से उसी समय अवगत कर देता था। जो पढता या लिखता नहीं था, उनसे बात क्या करे ? पढते समय — मूल पुस्तकें साथ में लाने के लिए कहता था। मुझे सन्देह होता तो मूल पुस्तक देख लेता था। ऐसा होने के कारण काम में विलम्ब भी

हृत् ७ । नीगज मे काम बगनाला का काम पूरा हुआ ह । भालेराव का प्रबन्ध — जनजातियों की बोली समाज और मस्कृति नाम ग छप गया ह । २००० ई मे, इसका प्रकाशन हुआ । इम प्रकाशन से उसका आत्मविश्वास बढ़ा हे । औरगाबाद आया । घर पर मित्ना । प्रबन्ध की प्रति दी । उसकी प्रसन्नता मुझे अच्छी लगी । गनेवाला छात्र मुक्कुगक और प्रसन्न चित्त लौटकर आए तो अच्छा लगता है । अध्यापक की उपलब्धि यही है । २९ जून २००३ को लातूर मे फोन आया । भालेराव बोल रहा था । मर, मेरी नियुक्ति पुणे विश्वविद्यालय क हिन्दी विभाग के रीडर के रूप म हा गई हे । कल ३० जून को पुणे जा रहा हूँ । १ जुलाई २००३ को जाइम होना है । मेरी और पुस्तकें भी छपी हे । मिलने आऊंगा । सुनकर मुझे अच्छा लगा । मैंने बधाई दी ।

दीनानाथ फुलवाडकर की अपने ही कालेज मे तरकी हो गई और अधिक व्यस्त रहने लगा है । प्रबन्ध के प्रकाशन की ओर ध्यान नहीं दिया । यू जी.सी के प्राजेक्ट पर काम कर रहा है । बीदर जिले की भाषाओं — पर उसका कार्य जागी है । बीदर जिले पर काम करने के लिए मैंने ही उसे कहा हे । इसका कारण यह है कि इम जिले मे मराठी, तेलुगु और कन्नड — तीनों भाषाओं का सगम हे । भाषाओं की त्रिवेणी सगम इस जिले मे है । बीदर जिला आज तो कर्नाटक मे है और उसके भी कारण है । कल्याणी के चालुक्य राजाओं ने इसी क्षेत्र को अपनी (कल्याणी को) राजधानी का स्वरूप दिया । कल्याणी बीदर जिले मे हे । उससे पहले राष्ट्रकूटों की राजधानी भी इसी जिले मे थी । राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों के समय मे मराठी, तेलुगु तथा कन्नड भाषाओं को स्वतंत्र रूप मिल नहीं सका था । वस्तुत राष्ट्रकूटों तथा चालुक्य के समय मे इन भाषाओं का उदगम काल मानना चाहिए । इस दृष्टि से इन भाषाओं से पहले इस क्षेत्र में प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ रही हैं । काल्डवेल के कारण दक्षिण की भाषाओं को उत्तर की भाषाओं से अलग कर दिया है । इस दृष्टि से बीदर जिले की भाषाओं का अध्ययन उत्तर-दक्षिण की भाषाओं का सगम बतलानेवाला क्षेत्र हैं । इस दृष्टि से इस जिले की भाषाओं का अध्ययन आवश्यक समझता रहा हूँ । दीनानाथ फुलवाडकर का काम जारी है । उसे देखने के बाद म कुछ विस्तार से कह सकूंगा ।

□ □

2

शोध-परियोजना

तिरुपति में मैंने मध्यकालीन वीरकाव्यों पर यू जी सी के प्रोजेक्ट पर कार्य किया था। मैं उसी कार्य को आगे बढ़ाना चाहता था। तदर्थ मैंने पत्र-व्यवहार किया। अब तक मैंने उत्तर भारत की कोई यात्रा शोध कार्य के प्रयोजन से नहीं की थी। मैं विद्वानों को मिलना और उनसे चर्चा करना चाहता था। तदर्थ यात्रा करना चाहता था। तिरुपति से जो यात्राएँ होती, वे प्रायः (पूना को छोड़कर) पारिवारिक स्वरूप की थीं। अब तो मैं अपने क्षेत्र में आ गया था। जब चाहे, तब परली, लातूर जा सकता था और परिवार के लोग भी आने-जाने लगे थे। और फिर तिरुपति से लम्बी यात्रा पर निकलना अपेक्षाकृत कठिन था। औरंगाबाद से तिरुपति जाने में जितना समय लगता, उतने समय में दिल्ली पहुँचा जा सकता था। यों औरंगाबाद उत्तर भारत और दक्षिण भारत के मध्य में है। मिल कार्गर पर रहते हुए ही मैंने डॉ. रामविलास शर्मा को पत्र लिखा। कुछ प्रश्न पूछे थे।

उनका उत्तर मिला। मैंने ग्रीष्मावकाश में यात्रा की योजना बनाई। वीरकाव्यों के अध्ययन के लिए उदयपुर, जयपुर आदि की यात्रा पर जाने की योजना थी।

□ □

अप्रैल १९६९ ई. : प्रथम शोध-यात्रा

अप्रैल १९६९ ई के द्वितीय सप्ताह में ग्रीष्मावकाश का आरम्भ हुआ। छुट्टियाँ होते ही यात्रा पर निकला। सबसे पहले सीधे आगरा गया। आगरा में राजा की मण्डी स्टेशन के निकट धर्मशालाएँ हैं। वही ठहर गया। १९६३ ई में अलीगढ़ अधिवेशन के समय आगरा पहुँचा था किन्तु आगरा में ठहरा नहीं था। उस समय मकखनलाल शर्मा आगरा में रहते थे। उनसे मिला था। वे साहित्य-सन्देश का सम्पादकीय कार्य करते थे। उन्होंने मेरे कुछ लेख साहित्य-सन्देश में प्रकाशित किये थे। इसी तरह उस समय डॉ सत्येन्द्र से भी, उनके बगले पर मिला था। इस बार मैं विनोद पुस्तक मन्दिर के मालिक भोलानाथजी से पुन मिला। उनसे पूछकर ही बाद में डॉ. रामविलास शर्मा से मिलने उनके निवास स्थान पर पहुँचा। बगला नया था। १८ अप्रैल १९६९ ई को मिला। सबेरे सबेरे गया था। पत्र-व्यवहार उनसे पहले ही हो गया था। वीरकाव्यों पर काम कर रहा था। उक्त विषय की ऐतिहासिकता पर चर्चा हुई। जो कुछ बात हुई, उसे मैंने उसी दिन सायंकाल में टिप्पणियों के रूप में लिख ली। आगरा का किला देखा। ताजमहल देखा। दयालबाग देखकर आया। एक दिन फतेहपुर सीकरी देखकर आया। दूसरे दिन सबेरे सबेरे महेन्द्रजी से मिलने साहित्य सन्देश के कार्यालय 'साहित्य रत्न भाण्डार' पहुँचा। महेन्द्रजी मिल गये। उनसे बात हुई। वृद्ध हो गए थे। उन्होंने बहुत काम किया। उनके समय में आगरा ही केन्द्र था। दिल्ली को बाद में महत्त्व प्राप्त हुआ। प. जगन्नाथ तिवारी से उस समय मिलना नहीं हुआ। उनका नाम डॉक्टर साहब से तिरुपति में कई बार सुना है। तिरुपति में डॉक्टर साहब, डॉ चन्द्रभान रावत, डॉ रामबाबू शर्मा—सभी आगरा से जुड़े हुए थे। आगरा के बाद में वहाँ से मथुरा गया। स्टेशन पर पण्डों ने परेशान किया। मुझे मथुरा में ठहरना नहीं था। प्रभुदयाल मीतल से मिलना था। उनका पता था। मिलकर आया। होली गेट पहुँचने से पहले ही स्टेशन के निकट उनकी कोठी थी। द्वारका मन्दिर गया और लौटकर जयपुर गया। दिल्ली नहीं गया।

जयपुर में स्टेशन के निकट पंचायती धर्मशाला है। उसी में ठहर गया। यूनिवर्सिटी गया। हिन्दी विभाग में गया। इतिहास विभाग में गया। डॉ. नरेद

भानावत से मिला । इतिहास विभाग मे उम समय गोविन्दचन्द्र पाण्डेय थे । उनसे मिलना चाहता था । मिले नही । उस समय सरनामसिंह शर्मा हिन्दी विभाग मे थे । डॉ. सत्येन्द्र भी वही पर थे । डॉ. सत्येन्द्र को उनके कार्टर पर मिला । वही पर सरनामसिंह शर्मा भी मिल गए थे । दूसे दिम किसी ने मुझे मथुरालाल शर्मा का परिचय दिया और उनका निवासस्थान भी बतलाया । तदनुसार उनकी कोठी पर गया । मिल गये । वे सेवानिवृत्त वाइस-चांसलर थे । इतिहास के प्रोफेसर थे । उन्होंने जदुनाथ सरकार के चार वाल्यूमों का 'मुगल साम्राज्य का पतन' हिन्दी मे अनुवाद किया था । उनसे बात हुई । वे बड़े उदार थे । उन्होंने पूछा — 'कहाँ ठहरे हो ?' मैंने धर्मशाला का नाम बतलाया । बोले ठीक है । यहाँ ठहरना चाहो तो चले आओ । उपरवाला कमरा दिखलाया । वंशभास्कर के सभी छ भाग उनके पास में थे । उन्होंने दिखलाए । कहा — 'बैठकर पढ़ो । उन्होंने मेरे भोजन की व्यवस्था कर दी । तीन-चार दिन उनके घर पर बैठकर पढ़ता रहा और लिखता भी रहा । चाहकर भी उस लिखित सामग्री का उपयोग अपने लेखन मे नही कर सका हूँ । उसके प्रथम राशि के द्वादश मथूख का छंद लिख रहा हूँ । छंद के साथ साथ मैंने उसका अर्थ भी लिख लिया था । वह इस प्रकार है —

वंशभास्कर — प्रथम राशि, द्वादश मथूख

प्राकृत संस्कृत पद प्रचुर ब्रजदेसी हु बिसेम ॥

अथ अपभ्रंस हु अधिक पैसाची कंह पेस ॥४॥

ब्रजविभक्ति जुत है बहुत, ए ५ पद सभरवार ॥

बहुटों ए हि विभक्ति बिनु, अपभ्रंस अनुसार ॥५॥

पुर दिल्ली, ग्वालोर पुर, बीच ब्रजादिक देस ॥

पिगल उपनामक गिरा, तिनकी मथुर बिसेस ॥६॥

या तै नरबानी यहहि, रक्खी तँहँ इक और ॥

कहुँ अर्थ रु पद इड करन जोहु सुनहु मति जोर ॥७॥

अर्थ — इस ग्रंथ मे प्राकृत, संस्कृत, ब्रजभाषा और अपभ्रंश भाषा के पद बहुत हैं और कही कही पैसाची भाषा के पद भी है ॥४॥ हे सांभरवार (चहुवाण) इन भाषाओं के बहुत से पद तो ब्रजभाषा की विभक्तियों सहित हैं और ये ही पद बहुत सी जगह अपभ्रंश भाषा के अनुसार बिना विभक्ति भी हैं ॥५॥ दिल्ली नगर और ग्वालोर नगर के बीच ब्रज आदि देश हैं, उन देशों की भाषा जिसका उपनाम पिगल है, बहुत ही मथुर है ॥६॥ इसी कारण से मैंने यही नर भाषा रक्खी

है जिसमें अर्थ और पद को दृढ़ करने के लिए एक और नवीन गीति रखी है
सो भी बुद्धि लगाकर सुनिये ॥७॥

(कृष्णसिंह बारहठ ने टीका लिखी है । पृ १४० से)

□ □

वंशभास्कर

वंशभास्कर का कवि सूर्यमल्ल मिश्रण का जन्म १८१५ ई में हुआ । उसकी
मृत्यु १८६८ में हुई । वह उन्नीसवीं शती का कवि है । ब्रिटिश शासनकाल है ।
मुझे १६०० ई से १८०० ई के बीच के कवियों पर काम करना था । इसीलिए
बाद में मैंने इस कवि पर कार्य नहीं किया । मैं चाहता तो उसके सभी वाल्यूम
खरीद सकता था । बाद में मैंने मराठवाडा विश्वविद्यालय के ग्रंथालय में उक्त काव्य
के सभी भाग मगवा लिये ।

उक्त ग्रंथ का अध्ययन उस समय जो किया, उससे मेरा लाभ हुआ है ।
इतनी बात सच है कि उक्त ग्रंथ के महत्त्व को हिन्दी साहित्य के इतिहास में जगह
नहीं मिली है । मुझे लगता है कि पृथ्वीराजरासो से वंशभास्कर तक एक परम्परा
रही है । एक छोर पर चंदबरदाई है, तो दूसरे छोर पर सूर्यमल्ल मिश्रण है । सूर्यमल्ल
मिश्रण ने ब्रजभाषा में काव्य लिखा है और पिंगल का परिचय दिया है । परम्परा
का पालन करते हुए उसने लौकिक (ऐतिहासिक) काव्य लिखा है ।

उदयपुर के आलमशाहखान ने वंशभास्कर पर शोध कार्य किया है । वह
शोध-कार्य मैंने प्रकाशित रूप में नहीं देखा । आलमशाहखान कहानी लेखक के
रूप में अधिक ख्यात हुए । उनकी कहानियाँ 'सारिका' में छपती रहती थी ।

□ □

बीकानेर : श्री अगरचंदजी नाहटा

भूषण पर शोध करते समय, मैंने बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा को पत्र
लिखे थे । उन पत्रों के उत्तर भी मिले थे । उन्होंने लिखा था कि बीकानेर, जोधपुर,
उदयपुर की यात्रा करने से बहुत सामग्री मिलेगी । तिरुपति में रहते हुए उस समय
बीकानेर नहीं गया था । जयपुर का काम हो जाने पर बीकानेर जाने का निर्णय
किया । कस्तूरचंद कासलीवाल से मिलना चाहता था । उनसे मिलना नहीं हुआ ।
मैं सीधे बीकानेर पहुँचा । आगरा और जयपुर की यात्रा में ही थक गया था ।
बीकानेर स्टेशन पर उतरते ही सीधे टागा किया और नाहटों की गवाड पूछते-पूछते

पहुँच गया। सभवतः सबेरे आठ-नौ बजे पहुँचा था। रात में सो नहीं सका था। घर में पहुँचा तो नाहटाजी मिले नहीं। वे आसाम गए हुए थे। उनका पुत्र मिला। उसने मुझे ऊपर का कमरा दे दिया। मैं वैसे ही सो गया। दोपहर तक सोता रहा। बाद में उठकर स्नान किया। भोजन किया। उनके पुत्र ने ग्रथालय दिखाया। अभय जैन ग्रथालय का भवन निकट ही था और वह श्री अंगरचन्द्रजी नाहटा का था। उनके पास विपुल सामग्री हस्तामलक थी। उक्त ग्रथालय में बैठकर उक्त ग्रथालय से टिप्पणियाँ तैयार कर लीं। आवश्यक पुस्तकें जो देखने में आईं, उनकी सूची बनवा ली। छिताई चरित्र सबसे पहले वहाँ पर देखी। राजस्थान पुरातन ग्रथमाला के अन्तर्गत प्रकाशित कुछ रचनाएँ देखी — 'कवि पीथल विरचित, जुगल विलास' पुस्तक देखी। राधाकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित छंद उसमें थे। सम्पादकों में मुनि जिनविजयजी और लक्ष्मीकुमारी चूडावत के नाम थे। उसी क्रम में कवीन्द्राचार्य सरस्वती की रचना 'कवीन्द्र कल्पलता' देखी। उसका परिचय विस्तार से लिख लिया। और भी पुस्तकें देखी। नाहटाजी के घर पर ही जहाँ मैं ठहरा हुआ था, उस कक्ष में मैंने स्वयं डॉ. करणीमिह की लिखी पुस्तक 'बीकानेर के राजघराने का केन्द्रीय सत्ता से सम्बन्ध' (सन १४६५ ई. से १९४९ ई. तक) देखी। उसका प्रकाशन बीकानेर से ही हुआ है। उक्त पुस्तक के परिशिष्ट की सामग्री लिख ली। उसमें बीकानेर के साथ साथ समकालीन जोधपुर, जयपुर, उदयपुर और केन्द्रीय शासकों के नाम ईसवी मन् के क्रम में लिखे हुए थे।

□ □

उदयपुर : साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ

बीकानेर में और कहीं नहीं गया और किसी के पाम गया भी नहीं। वहाँ से सीधे उदयपुर गया। चाहकर भी जोधपुर नहीं गया। उदयपुर में सूरजपोल के पास चम्पालाल धर्मशाला में ठहर गया। साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ के निदेशक डॉ. देवीलाल पालीवाल ने उसी धर्मशाला का नाम बतलाया था। उक्त धर्मशाला से साहित्य संस्थान निकट था।

उस समय साहित्य संस्थान में डॉ. मोतीलाल मेनारियाजी पृथ्वीराजरासों का कोष तैयार कर रहे थे। वे अलग कक्ष में बैठते थे। उनकी सहायता के लिए संस्कृत भाषा के एक विद्वान् की भी नियुक्ति हुई थी। मोतीलालजी मेनारिया पहले मेवाड़ के सरस्वती पुस्तकालय के ग्रंथपाल थे। वह पुस्तकालय गुलाब बाग में है। वहाँ से सेवानिवृत्त होने के बाद में वे उक्त कोष-सम्पादन का काम करने

लगे । शब्दों के कार्ड बनाए गए थे । उन पर चर्चा होती, खोज होती ओर तब अर्थ लिखा जाता । बाद में वह कौष छपा या नहीं ? मैं नहीं जानता । दूसरी बार जब उदयपुर गया, उस समय भोतीलालजी मेनारिया नहीं रहे ।

साहित्य सस्थान में डी दिनभर बैठकर काम करता था । टिप्पणियाँ लिख लेता । पुस्तकें देखता । उनकी सूची लिख लेता । उपलब्ध सामग्री खरीद ली । वहाँ से शोध-पत्रिका निकलती रही है । उसका ग्राहक हो गया । डॉ देवीलालजी पालीवाल ने महाराणा प्रताप पर विशेष कार्य किया है । उनके द्वारा सम्पादित पुस्तकें साहित्य-सस्थान से छपी भी हैं । उनके साथ साथ सस्थान में उस समय देव कोठारी से भी परिचय हुआ । बाद में देव कोठारी उक्त सस्थान के निदेशक हो गए ।

उदयपुर की झीलें देखी । राजमहल और मन्दिर देखे । बाजार ओर गलियाँ देखी । उदयपुर पर्यटकों के लिए उत्तम स्थल है । उदयपुर में सायंकाल में, कभी-कभी प्रातःकाल में भी गुलाब बाग पहुँच जाता था । घूमने-फिरने के लिए वह अच्छा स्थान है । सूरज पोल से निकट भी है । एक दिन सरस्वती पुस्तकालय भी पहुँच गया । वहाँ के अधिकारी से भी मिला । मैंने वीर विनोद की चर्चा सुनी थी और यह भी किसी ने बतलाया था कि गुलाब बाग के सरस्वती पुस्तकालय में वह उपलब्ध है । मैंने वीर विनोद खरीदने की इच्छा व्यक्त की । वहाँ के अधिकारी ने कहा कि केवल फारमे मिलेंगे । जिल्दे आपको तैयार करनी होगी । लाल कपड़े में लपेटे हुए वीर विनोद के फारमे मुझे दिखलाए गए । मैंने दो प्रतियाँ खरीदी । एक अपने लिए और दूसरी मराठवाडा विश्वविद्यालय के ग्रथालय के लिए । दोनों के अलग अलग बिल लिए और दोनों प्रतियाँ लाल कपड़े में बंधी हुई लेकर अपने स्थान पर पहुँचा । औरंगाबाद लौटने पर मैंने एक प्रति यूनिवर्सिटी के ग्रथपाल गोरे साहब को बिल-सहित दे दी । उन्हें बतलाया कि यह ग्रथ आऊट ऑफ प्रिंट है । बाद में मैंने तो उक्त ग्रथ की आठ जिल्दे तैयार कर ली । कविराजा श्यामलदास का यह विशाल ग्रंथ वाराणसी में उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरणों में छपता रहा है । किसी ने महाराणा से कविराजा के सम्बन्ध में कुछ कह दिया और महाराणा ने आदेश देकर ग्रथ की जिल्दे बनवाना रोक दिया था । भारत के स्वतंत्र होने तक यह स्थिति बनी रही । स्वतंत्रता के बाद उक्त ग्रथ पर से बंधन तो हट गया किन्तु जिल्दों का काम तब भी नहीं हुआ । अध्ययन हेतु जो विद्वान् खरीदना चाहता था उसे फारमे दिए जा रहे थे । भारत इतिहास सशोधक मंडळ पूना में भी मैंने वीर विनोद की जिल्दे देखी है ।

उदयपुर मे मैने वीरकाव्यो की सूची तैयार की । उपलब्ध काव्य ग्रथालय मे देखे । कुछ ग्रथ खरीदे । डॉ देवीलाल पालीवाल से जो चर्चा हुई उसकी टिप्पणियाँ लिख ली । महाराजकुमार डॉ रघुबीरसिंह का परिचय मुझे वही पर मिला । खिडिया जगा की वचनिका और रतनरासो का परिचय भी मुझे यहीं पर मिला । 'रतलाम का प्रथम राज्य' तथा 'मालवा मे युगान्तर' पुस्तको की जानकारी भी मिली । बतलाया गया कि मुनि जिनविजयजी चितौड के पास चर्दरिया ग्राम मे मिलेगे । महाराजकुमार — मन्दसौर के निकट 'सीतामऊ' मे मिलेगे । मैने नाम और पते सब लिख लिए । उस समय जयपुर, बीकानेर तथा उदयपुर मे जो सामग्री मिली, उस सब का उपयोग आज तक नही हो सका है । इसका कारण यह है कि क्या पढना चाहिए, क्या छोड देना चाहिए — इसका निर्णय मै नही कर सका । उस समय मै तथ्यों को बटोरने में लगा हुआ था । उन पर चिन्तन करने के लिए समय भी नही था ।

आगरा, जयपुर, बीकानेर तथा उदयपुर की यात्रा करने के उपरान्त लगभग तीन सप्ताह की यात्रा पूर्ण करने के बाद औरगाबाद लौट आया । मेरे साहू शामलालजी बम्ब, उस समय परभणी में थे । मेरी पत्नी मेरी यात्रा के काल में औरगाबाद मे नही रही । वह बच्चों को लेकर परभणी पहुँच गई । परभणी से किसी को भेज दिया जाता और पत्नी तथा बच्चे उसके साथ परभणी पहुँच जाते । परभणी से बाद मे आवश्यक होने पर परली होते हुए अपने गाँव हिवरा माता-पिता के पास भी पहुँच जाती थी । स्कूल खुलने से पूर्व वह पुन औरगाबाद आ जाती थी । मिल कार्मर पर पडोस में रावसाहब रहते थे । तेलुगु भाषी थे । प्राणीशास्त्र विभाग में थे । उनके घर पर महत्त्वपूर्ण सामान रख दिया जाता था । रावसाहब भी वहाँ पर कुरुलकर के मकान मे किराये से रहते थे ।

तिरुपति से सारा सामान व्यवस्थित रूप में पहुँच गया था । फिर भी गृहस्थी पूरी नहीं थी । गैस मैने तिरुपति में देखी तो थी किन्तु खरीदी नही थी । १९६९ ई में मैने स्थानीय एजेण्ट चन्दूलाल टी पारिख से गैस खरीदी । तुरन्त मिल गई । उस समय सिलेण्डर के साथ गैस २५० रुपयो मे मिली । गैस का चूल्हा घर मे आ गया । लोहे के काट्स (पलंग) खरीदे । तेजमल लातूर से आया था । उसने वजाजि स्कूटर का नम्बर लगवाया । मेरा ध्यान उस ओर नही था । तेजमल की तरह न तो मैं व्यावसायिक रूप में सोचता-विचारता और न ही कभी व्यावहारिक रूप मे सफल रहा । काम चल रहा था ।

□ □

वाराणसी की यात्रा

१९६९ ई में ही अक्तूबर-नवम्बर में दीपावली के एक मास के अवकाश के दिना में वाराणसी गया। उस समय डॉक्टर साहब वाराणसी पहुँच गए थे। उनको क्वार्टर मिल गया था। उसी में रहते थे। प्रोफेसर का क्वार्टर उन्हें बाद में मिला। मैं तो सीधे नागरी प्रचारिणी सभा में पहुँचा। वहाँ पर ठहरने के लिए स्थान मिल गया। उस वर्ष की दीपावली मैंने वाराणसी में — सभा — में गुजारी। सबेरे मैं कारमाइकेल पुस्तकालय जाता था और दोपहर में सभा के ग्रथालय में बैठकर काम करता था। कारमाइकेल पुस्तकालय चौक से गोदौलिया के रास्ते पर है। विश्वनाथजी के मन्दिर के निकट ही है। उक्त पुस्तकालय में बहुत-सी प्राचीन पुस्तकें हैं। मैंने पुस्तकें सूची तैयार कर ली। कुछ काव्य ग्रंथों की टिप्पणियाँ लिख लीं। इसी तरह दो-तीन दिन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ग्रथालय में काम किया। डॉक्टर साहब के साथ ग्रथालय गया था। बाद में तो अकेले चला जाता था। विश्वविद्यालय का कैम्पस बहुत बड़ा है। डॉक्टर साहब इसी कैम्पस में सबेरे-सबेरे और शाम में भी घूमते रहते हैं। लका तक चले आते हैं और सकट मोचन के मन्दिर में जाते हैं। सकट मोचन मन्दिर जाना उनकी दैनिक दिनचर्या का भाग है। वाराणसी से बाहर गए हुए ही तो अलग बात है। मैं उनके साथ कई बार सकट मोचन मन्दिर गया हूँ। वहाँ से लौटकर लंका के नुक्कड़ पर दूध-जलेबी ले लेते थे। लौटकर पुन सभा आ जाता था। सभा से विश्वविद्यालय का कैम्पस बहुत दूर है। साइकिल रिक्शे से जाना पड़ता था। वाराणसी साइकिल रिक्शे का नगर है। साइकिले भी खूब हैं। गलियाँ संकड़ी हैं। जिन्हे हम मुख्य सड़कें कहें, वे भी संकड़ी हैं। भीतर जो गलियाँ हैं, वे तो और भी संकड़ी हैं। विशेष रूप से गंगाजी के घाटों के निकट के मोहल्ले तो और भी संकड़ी गलियों से भिरे हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ब्रह्मनाल में रहते थे। उनके घर डॉक्टर साहब के साथ गया हूँ। वह तो मणिकर्णिका घाट के रास्ते पर है। स्वयं विश्वनाथजी का मन्दिर पहुँचने के लिए संकड़ी गलियों से गुजरना पड़ता है। लंका से लगकर असी घाट है। वहाँ पर असी नदी आकर गंगाजी से मिलती है। असी घाट से गंगाजी के किनारे-किनारे अलग-अलग घाट हैं। वह क्रम राजघाट तक है। असी घाट से राजघाट तक कमान बनती है। उन घाटों के किनारे पर वाराणसी है। वरुणा और असी नदी के बीच में जो गंगाजी है, वह वाराणसी की गंगाजी है। सारे घाट असी घाट और राजघाट के बीच में हैं। इनमें मध्य भाग में दशाश्वमेध

घाट है। इस घाट से गोदौलिया जानेवाली सड़क जाती है। यही चौड़ी सड़क है। गोदौलिया वाराणसी नगर का केन्द्र है। नागरी प्रचारिणी सभा में रामनगीन शर्मा से मेरा परिचय हो गया था। उसे साथ में लेकर असी घाट मे गजघाट तक किनारे-किनारे पैदल घूम आया। असी घाट से आगे लका के छोर पर पुल है। इस पुल को पार कर रामनगर पहुँच सकते हैं। रामनगर ठीक विश्वविद्यालय के प्रंगण के सामने है। बीच में गंगाजी हैं। जिन्हें गंगाजी के साफ जल में स्नान करना होता है, वे गंगा पार जाते हैं। मैं भी डॉक्टरसाहब के साथ गंगा पार गया हूँ। गंगाजी में स्नान भी किया है। इसी तरह साइकिल रिक्शों में बैठकर सारनाथ भी देख आया। एक दिन गजघाट के मार्ग से बस में रामनगर पहुँच गया। वहाँ का किला और महल देखा। यों वाराणसी में देखने योग्य बहुत से स्थल हैं। गजघाट से नगर की ओर आओ तो रास्ते में बरुणा के किनारे-किनारे आश्रम दिखलाई देते हैं। रेलवे लाइन राजघाट से आती है। राजघाट पर ही गंगाजी का पुल है। उन दिनों में मुझे पैदल घूमने-फिरने का शौक था। डॉक्टर साहब के साथ रहने से भी पैदल घूमने की आदत हो गई थी। सभा में निकलता तो मैदागिन होते हुए चौक पहुँच जाता था। चौक आने से पहले बुलानाला पर ही माग्वाड़ी भोजनालय था। वहाँ पर सबेरे शाम भोजन के लिए पहुँच जाता था। यो मग लगभग एक मास वाराणसी में बीत गया। मैंने आस भैरव, बुलानाला की पुरानी पुस्तकों की दुकानों से पुरानी पुस्तकें जो Out of Print थी, खरीदी हैं। पुस्तकें मैंने कारमाइकेल ग्रंथालय में देखीं। सभा के पुस्तकालय में देखीं। उसी तरह विश्वविद्यालय के ग्रंथालय में देखीं। वे सब पुस्तकें तो मुझे मिली नहीं। किन्तु जो उपलब्ध हुई, वे मैंने खरीद ली। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के पुराने अंक जो भी मिले वे भी ले लिए। आस भैरव के भगवानदास बुकसेलर से पुस्तकें खरीदीं। जो पुस्तकें खरीदी उनमें जयचन्द्र विद्यालंकार की प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत भूमि और उसके निवासी' — पुस्तक भी है। बाद में मैंने इस पुस्तक का बहुत उपयोग किया। सभा में पुस्तकों की जिल्दे बनवानेवाले वहाँ रहते थे। उनसे मैंने पुस्तकों की जिल्दे बनवा ली। पत्रिकाओं की भी जिल्दे बनवा ली। दिनभर घूमता-फिरता अवश्य था किन्तु ध्यान पुस्तकों की खोज पर ही था। उस समय 'हस्तलिखित प्रतियों' की खोज की ओर मेरा ध्यान नहीं था। मैंने सामग्री जो भी देखी, वह मुद्रित थी।

सभा के भवन से सामने उद्यान है । सबेरे उठकर देखता कि काफी लोग, उसमें घूमने-फिरने चले आते हैं । कभी-कभी मैं भी चला जाता था । इस उद्यान के सामने ही सड़क पार करते ही नगरपालिका का भवन था । और वाराणसी का मुख्य डाकखाना सभा के ठीक सामने था ।

□ □

महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह से सम्पर्क

दीपावली की एक मास की छुट्टियाँ वाराणसी में गुजारकर औरंगाबाद लौट आया । आने के बाद जो कुछ देखा, पढ़ा और लिखा उसके आधार पर कार्य की रूपरेखा तैयार की । उदयपुर में मुझे महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह का पता मिल गया था । तदनुसार मैंने १२ दिसम्बर १९६९ ई. को महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह को पत्र लिखा । उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया । उनका वह प्रथम पत्र था । वह पत्र इस प्रकार है —

रघुबीर निवास

सीतामऊ (मालवा)

दिसम्बर १६, १९६९ ई.

प्रिय डॉ. राजमल बोरा,

सधन्यवाद वन्दे । आपका १२/१२ का पत्र यहाँ मुझे कल दोपहर में मिला । सारे समाचार ज्ञात हुए । यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप आजकल 'हिन्दी वीरकाव्यों पर — ऐतिहासिक पर्यालचन' — विषय पर शोध कार्य कर रहे हैं और उसी मदर्भ में आपने काफी सामग्री एकत्रित भी की है और राजस्थान के प्रमुख ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा भी की हैं । उसी शोध कार्य के लिए मेरी कृति 'रतलाम का प्रथम राज्य' चाहिए । साथ ही 'रतनरासो' को भी देखना चाहते हो । तत्सम्बन्धी मेरा उत्तर इस प्रकार है ।

यह बात सत्य है कि 'रतलाम का प्रथम राज्य' की प्रतियाँ अतियाँ अधिक नहीं रही हैं, परन्तु जो व्यक्ति उसका सही और उपयुक्त उपयोग कर सके उसको उनसे प्रति सुलभ कर देना मैं कर्तव्य ही मानता हूँ । सो, मैं उसकी एक प्रति रजिस्ट्री पैकेट से भिजवा रहा हूँ । मुझे वी. पी. से भिजवाना उचित नहीं जान पड़ा । सो उसके मूल्य एवं रजिस्ट्रेशन और उसके खर्च आदि का हिसाब

इसी पत्र में आगे लिख दिया है। कृपया उक्त रकम सुविधानुसार जल्दी से मनीऑर्डर से भिजवा देने का कष्ट उठावें और उस पुस्तक की पहुँच भी सूचित करें। रतनरासो के सम्पादन कार्य में अनपेक्षित अधिक समय लग गया है। उसकी प्रेस कापी लगभग तैयार है। इधर कुछ अत्यावश्यक सुधार, सशोधन, परिवर्तन, किये जा रहे हैं। उसके प्रकाशन की भी व्यवस्था की जा रही है। सो उसके प्रकाशन में अभी पर्याप्त समय लगेगा। क्या आप इधर कभी आने की सोच रहे हैं कि उसकी प्रेस कापी देख सकें। गर्मी की छुट्टियों तक तो उसे अन्तिम रूप प्राप्त हो ही जायेगा।

शेष कुशल। आशा है सानन्द होंगे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य में मेरा सहयोग सदैव सुलभ होगा। इस बारे में आश्वस्त हों। अधिक आगे पत्रोत्तर पाने पर ही।

सधन्यवाद,

भवदीय

(रघुबीरसिंह)

मैंने पत्र लिखा और तुरन्त उत्तर मिला। इसके बाद तो लगातार पत्र मिलते रहे हैं। मुझे एक ऐसा गुरु मिला जो मेरे कार्यों में मेरी तरह अभिरुचि रखनेवाला है और सब कुछ बतलाने के लिए तैयार है।

□ □

सीतामऊ की यात्रा

‘रतनरासो’ का सम्पादन महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह और प. काशीराम शर्मा दोनों ने मिलकर किया है। उसमें इतिहास से सम्बन्धित कार्य महाराजकुमार का है और पाठ का सम्पादन, साहित्यिक विवेचन, अर्थ-मीमांसा — सब कार्य प. काशीरामजी शर्मा का है। टकण का कार्य पूर्ण हो गया था। उसकी एक टंकित प्रति प. काशीरामजी शर्मा के पास में दिल्ली में थी। पंडितजी उस समय केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय दिल्ली में थे। ‘रतनरासो’ देखने और अन्य कार्यों के हेतु मैंने सीतामऊ यात्रा की योजना बनाई। तदनुसार पत्र-व्यवहार जारी रखा। जून १९७० के प्रथम सप्ताह में मैं सीतामऊ गया। सीतामऊ कैसे पहुँचे? यह सब महाराजकुमार ने लिख दिया था। तदनुसार मंदसौर पहुँच गया। मंदसौर से २० मील पूर्व में सीतामऊ है। सीतामऊ गाँव छोटा ही है। बस-स्टैंड के सामने गाँव से बाहरी भाग में

महल बना हुआ है। महल का अहाता बहुत बड़ा है। कम्पाउण्ड वाल बनी हुई हैं। इन्हींमे से एक कमरा मुझे मिला। कमरे पुराने ढंग के लेकिन काफी बड़े थे। पहली बार १९७० ई. में गया उस समय तीनों कमरे खाली थे। उस समय वहाँ स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की शाखा नहीं थी। बाद मे वे कमरे स्टेट बैंक ऑफ इंडिया को अपनी शाखा खोलने के लिए दे दिए गए थे। जिस कमरे मे ठहरा था, उससे बाहर आते ही खुली गैलरी थी। बाहर, कुर्सी लेकर बैठा जा सकता था। सामने विशाल उद्यान था। उसकी देखभाल ठीक न होने पर भी उद्यान व्यवस्थित था। मार्ग थे और वीथिकाएँ बनी हुई थी। उन कमरो के सामने से पनिहारिने गुजरती थी। भीतर बड़ा कुँआ था। वहाँ से वे गगरियों मे पानी लेकर लौटती थी। सबेरे-सबेरे यह क्रम जारी रहता था। रीतिकालीन दृश्य देखे जा सकते थे।

मै अभी तक महाराजकुमार से मिला नहीं था। मुझे समय बतला दिया गया था। तदनुसार मैं तैयार होकर उद्यान की वीथिकाएँ पार करते-करते बतलाए मार्ग से भीतर गया। सामने एक-दूमरे से सटे हुए दो विशाल भवन थे। उनके पीछे एक दूसरा भवन था। उन सब को पार कर और भीतर पहुँचा तो दूर से कुँआ दिखलाई दिया। पनिहारिने वही पर पानी भर रही थी। उद्यान में मोर स्वच्छन्दता से विहार रहे थे। बहुत ही आकर्षक पक्षी है। मोर को मैंने इतने निकट से पहले नहीं देखा था। आगे बढ़ने पर सामने कम्पाउण्ड वाल के पास बड़ा गेट दिखलाई दिया। वस्तुत महल का प्रवेशद्वार यही है। उस गेट के पास भी कुछ कमरे बने हुए हैं। उन्हे पार करने पर महाराजकुमार का भवन मिला। जो ग्रथालय और उनके आवास का स्थान था। महाराजकुमार इसीमे रहते है।

मैं उनके हाल में गया। वही बैठक थी। बैठे हुए मिले। मुझे बुलाकर निकट के सोफा पर बैठने के लिए कहा। मुद्रा गभीर थी। सहज भाव से मिले। मुझे देखकर प्रसन्न हुए। भय लगे, ऐसी मुद्रा नहीं थी। मैंने सहज भाव से जो प्रश्न पूछे, उनके उत्तर दिए। पढने के लिए कुछ पुस्तके निकलवाई और मुझे दीं। शिबसिंह को पुकारा। वह तुरन्त आया। उससे पुस्तके मंगवाई। मुझे दी और कहा — 'बैठकर इन्हें पढ़ो। अपने कमरे में ले जाओ। कल-परसो फिर चले आना। पढकर बतलाना। 'रतनरासो' की टंकित प्रति दिखलाई। बहुत बडी थी। दी हुई सामग्री लेकर बाहर आया। अपने कमरे में गया। पढता रहा। सोचता रहा। हाल से बाहर आने पर वे उठकर भीतर चले गये। यह पहली भेंट थी।

अधिक बात नहीं की जा सकती थी । सायकाल में मिलने का समय बतला दिया । दिन भर काम करने के बाद सायकाल में फिर पहुँचा । उस समय वे कुछ उन्मुक्त थे । शिवसिंह से कहकर दो केम की गोल कुर्सियाँ बाहर खुली गैलरी में गूँधवाई । वहाँ पर बैठ गये । मुझे भी बैठने कहा । मैंने अपनी शोध-यात्रा का विवरण सुनाया । जिन विद्वानों और व्यक्तियों से मिला था उनके नाम बतलाए । सब सुन लिया । मुझे जो कहना था और मेरे मन में जो प्रश्न थे, वे उन्होंने सब सुन लिए । उक्त विषय पर अधिक बोले नहीं । मैंने गोविंदचन्द्र पाण्डेय और मथुरालाल शर्मा के नाम लिए थे । उनके सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा ।

मैं पहली बार ३ जून १९७० को उनसे मिला था । उसी दिन सबेरे उनके पास पहुँचा था । उसी दिन सायकाल में उनसे जब बात कर रहा था तो कुर्सी से उठकर भांतर गये और 'शेष स्मृतियाँ' — पुस्तक की प्रति ले आए । पुस्तक पर लिखा — 'श्री राजमल बोरा को, लेखक की ओर से' — हस्ताक्षर किया और तारीख लिखी — जून ३, १९७० ई. । पहले ही दिन उन्होंने पुस्तक दी । वह पुस्तक आज भी मेरे पास है । विशेष बात यह है कि उस पुस्तक के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जुड़े हुए हैं । मैंने उक्त पुस्तक का बाद में बहुत उपयोग किया है ।

'भूषण और उनका साहित्य' — पुस्तक की प्रति मैंने पहले ही औरंगाबाद से भेज दी थी । उक्त पुस्तक में 'गिवाजी औरगजेब' की भेट गुसलखाने में हुई । — बतलाया गया था । भूषण ने गुसलखाने का उल्लेख किया है । इस गुसलखाने पर स्वतंत्र सामग्री महाराजकुमार ने दिखलाई । पुस्तक का नाम था — 'Mugal Hamam and the Institute of Ghusal-khana — by R. Nath' वह पुस्तक मैं ले गया । कुछ नोट लिखे । लौटा दिया । मैंने तो खरे साहब ने जो बतलाया, उसके आधार पर सब लिख दिया था । अतिरिक्त सामग्री मिली । उससे भी मेरे कथन की पुष्टि होती है ।

सीतामऊ से मैंने ५ जून १९७० ई. को प. काशीराम शर्मा को पत्र लिखा । महाराजकुमार ने मुझे उनका पता दिया था । इसी तरह डॉ. महेन्द्रप्रतापसिंह को भी पत्र लिखा । मैं नक्शे बनवाना सीखना चाहता था । तदर्थ प्रामाणिक नक्शे चाहता था । महाराजकुमार ने Director, Map Publication, Survey of India, Hathukhana, देहरादून का पता दिया । उन्हें भी पत्र लिखा । यों मैंने जाना कि

पत्र-व्यवहार के अपने लाभ है। पत्र-व्यवहार के लाभ-परिणाम मुझे बाद में दिखलाई दिये।

पेशवों के काल में हिन्दी ने राजभाषा का रूप ले लिया था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद में पेशवों का काल आरम्भ होता है और पेशवे महाराष्ट्र तक सीमित नहीं रहे। उनका शासन मध्यप्रदेश, गुजरात आदि तक विस्तार पाते हुए दिल्ली तक पहुँच जाता रहा है। महाराजकुमार रघुबीरसिंह का एक लेख मध्यप्रदेश सन्देश, मार्च १९७० ई. में प्रकाशित हुआ था। लेख का शीर्षक था 'पेशवा राज्य की सम्पर्क भाषा हिन्दी'। इसी विषय पर डॉ. का. शं. केळकर ने शोध-प्रबन्ध लिखा है। शीर्षक है — मराठा शासकों से सम्बन्धित १८वीं शती के हिन्दी पत्रों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन।

यों मैंने बहुत-सी पुस्तकें देखीं। कुछ की टिप्पणियाँ लिख लीं।

महाराजकुमार के साथ बैठकर बात करने के दिन में दो बार ही अवसर मिलते थे। सबरे के समय वे केवल काम की बातें करते। चाय पीने का उन्हें शौक था। शिवसिंह उन्हें चाय लाकर देता था। मैं पास में बैठा रहता तो मेरे लिए भी चाय आ जाती थी। चाय की घूँट के साथ उनकी बातचीत जारी रहती। देखो राजमल ...' सबोधित करने के बाद आगे बढ़ते। अपने गुरुदेव जटुनाथ सरकार के संस्कार के स्मरण सुनाते। कोई नई बात याद आती तो फिर से सबोधित करते — 'देखो राजमल ...' ऐसी ही चर्चाओं में उन्होंने मेरे अध्ययन के विषय को मोड़ दिया। मैं वीरकाव्यों पर काम कर रहा था। लगभग आधा काम हो गया था। उसे पूर्ण करने के लिए ही मैंने लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं। साग काम उन्होंने देखा। नई सामग्री साथ में ले ली थी। उन्होंने मेरा ध्यान 'पृथ्वीराजरासो' — की ओर मोड़ा। कहा — 'इस पर काम करो।' सामग्री कहाँ मिलेगी? कैसे प्राप्त होगी। क्या करना होगा। सब कुछ उन्होंने कहा। परिणाम यह हुआ कि मैंने १९७० ई. के बाद में 'पृथ्वीराजरासो' — पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। रघुबीर ग्रंथालय में 'पृथ्वीराजरासो' का कथानक मालूम हो जाता था। महाराजकुमार ने मेरा जो कार्य चल रहा था, उसको रोका नहीं। उसे चलने दिया। मे उपलब्ध और एकत्रित सामग्री के आधार पर जो भी लिख लेता था, उन्हें भेज देता था। वे उक्त लेख को पढ़कर और जहाँ इतिहास की स्थूला भूलें रह जाती, उन्हें ठीक करने के उपरान्त अपनी टिप्पणी के साथ उदयपुर के डॉ. देवीलाल पालीवाल

(शोध-पत्रिका के सम्पादक) के पास भेज देते । इसकी सूचना वे मुझे पत्र द्वारा दे देते थे । उनके कारण मेरे कई लेख 'शोध-पत्रिका' में छप गए ।

सायकाल का समय उन्मुक्त रहता । उस समय जब मैं महाराजकुमार के पास पहुँचता तो हाल में सबेरे की तरह नहीं मिलते । केन की दो आराम कुर्सियों हाल से बाहर बरायदे में रखी जाती । एक पर वे स्वयं बैठ जाते और दूसरी पर मैं बैठता । इस समय विषय पर बातें नहीं होती । सामान्य विषयों की चर्चा होती । जब मैं बार-बार सीतामऊ जाने लगा तो बाद में सायकाल में अधेरा होने से पूर्व वे जब घूमने निकलते तो मुझे भी साथ में चलने कहते । अपने भवन से बाहर निकलते ही वे सीधे लदूना की दिशा की ओर मूड़ जाते । कुछ दूर जाने पर मुख्य मार्ग छोड़ देते और खेतों में से चलने लगते । चार-छ खेत लाधकर एक टीले पर पहुँचते और वहाँ बैठ जाते । उस क्षेत्र में वह ऊँचा स्थान था । वहाँ से लदूना का तालाब देखा जा सकता था । वास्तव में महाराजकुमार का मूल जन्मस्थान और निवासस्थान लदूना ही था । बहुत बाद में जब मैं एक संगोष्ठी में लदूना पहुँचा था तो उस समय संगोष्ठी का आयोजन वहीं पर किया गया था । सीतामऊ-लदूना की संगोष्ठी में मैं सम्मिलित होता रहा हूँ । महाराजकुमार के मन में लदूना के प्रति आकर्षण का एक बड़ा कारण वह तालाब था । महाराजकुमार जब भी टीले पर बैठते, उन्हें लदूना याद आ जाता था । लौटते समय वे और और समाचार देते रहते थे । धीरे-धीरे मैं उनके साथ ग्रंथालय के भीतर पहुँचकर पुस्तकें देखने लगता था । आरम्भ में भी उन्होंने मुझे आकृष्ट किया और नये विषय पर काम करने को कहा । वह विषय था — 'पृथ्वीराजरासो'

□ □

पृथ्वीराजरासो

हिन्दी वीरकाव्यों पर काम करते-करते मैं स्वयं पृथ्वीराजरासो की ओर कैसे मुड़ गया ? यह मुझे ठीक से याद नहीं । किन्तु यह सच है कि महाराजकुमार ने धीरे धीरे अपने कार्य की ओर उन्होंने मुझे मोड़ दिया । उस समय पृथ्वीराजरासो की मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध नहीं थी । राजस्थान के दरबारों में हस्तलिखित प्रतियाँ बिखरी हुई थी । उनका सर्वेक्षण आवश्यक था । मैं तो हस्तलिखित प्रतियाँ पढ़ना नहीं जानता था । — प्रधान रूप से बीकानेर, जोधपुर, उदयपुर, जयपुर, दिल्ली, वाराणसी आदि प्रमुख स्थानों पर हस्तलिखित प्रतियाँ थी । कांकरौली में भी थी । महाराजकुमार इन सब स्थितियों को जानते थे । उस समय मैं यात्राएँ कर सकता

था। उन्हे ग्रथालयो, राजा-महागजाओ तथा विद्वानो के नाम मालूम थे। उनके पास पहुँच कर काम करना सभव था। हर जगह जाकर ग्रथालयो, पोथीखानो मे पहुँचकर पृथ्वीराजरासो की सामग्री मालूम करना ही नही, उन्हे नोट करना, टिप्पणियों बनाना आवश्यक था। यह सारा काम मै महाराजकुमार के संकेतो पर करता गया। इस कार्य के लिए मैने १९७० ई. से १९७३ ई तक के ग्रीष्मावकाश और दीपावली के अवकाश गुजारे। यात्रा अकेला ही करता था। घर पर नहीं रहता था। यात्राओ का केन्द्र सीतामऊ ही रहता था। वहाँ पहुँचना, महाराजकुमार को पीछे का कार्य बतलाना और फिर नए काम के लिए निर्देश लेकर अगली यात्राओ पर निकलना। ऐसा क्रम चलता रहता था। मै तो निर्देशों के अनुसार कार्य करता था किन्तु उपलब्ध सामग्री उन्हे दिखलाता रहता था। मुझे लगता कि वे स्वयं भी इस विषय पर चिन्तन कर रहे है। उन्होंने तदर्थ पत्र-व्यवहार भी किया। वे सारे पत्र भी उन्होंने मुझे दिखलाए। जो उन्होंने लिखे और वे पत्र भी दिखलाए जो उन्हे मिले है। उन पत्रो मे से मैने कुछ का प्रकाशन भी किया है।

यो महाराजकुमार रघुबीरसिंह का विश्वास अर्जित कर लेना सरल कार्य नही था। एक बार मै मन्दसौर मे महेन्द्र भटनागर से मिलने गया था। सीतामऊ जाने के लिए मन्दसौर स्टेशन पर ही उतरना आवश्यक था। मन्दसौर से सीतामऊ की बस मिलती थी। उन दिनों मन्दसौर में महेन्द्र भटनागर, वहाँ के स्थानीय कालेज मे हिन्दी के प्राध्यापक थे। अब तो वे ग्वालियर मे रहते है। अब भी उनके पत्र मिलते रहते हैं। जब उन्हे मैने महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह के सम्बन्ध मे बतलाया तो उनकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं थी। उनकी यह भी धारणा थी कि उनके निकट पहुँचकर बात करना कठिन है। बहुत कम लोग उनसे मिलने का साहस करते हैं। मैने सदैव महाराजकुमार का सम्मान किया। जदुनाथ सरकार की जन्मशताब्दी थी। उसका आयोजन भारत इतिहास सशोधक मडल पूना ने किया था। उसमें महाराजकुमार आमंत्रित थे। १० दिसम्बर १९७० ई. को यह आयोजन था। तदर्थ वे पूना आनेवाले थे। मुझे भी उक्त समारोह मे आने के लिए सकेत दे दिया था। यों मै अक्तूबर १९७० ई में भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन में पूना पहुँचा था। अधिवेशन से लौटकर मैने महाराजकुमार को पत्र लिखा था। अधिवेशन में जाने से पूर्व १ अक्तूबर १९७० ई को पत्र लिखा था और अधिवेशन से लौटने के बाद ५ नवम्बर १९७० ई. को भी पत्र लिखा था। दोनो ही पत्र प्रस्तुत हैं—

ब्लॉक न ६, आनन्द नगर
टाऊन हाल, औरंगाबाद
दि १ अक्तूबर १९७०

आदरणीय डॉक्टर साहब,

सादर प्रणाम

आपका कृपा-पत्र एव लेख दोनो यथासमय प्राप्त हुए। अत्यंत आभारी हूँ। लेख के सम्बन्ध में आपकी प्रतिक्रिया को जानकर मेरे आत्मविश्वास में वृद्धि हुई है। परिषद में निबन्ध पढने का प्रयास करूँगा। यदि वहाँ समय न मिले तब भी मेरा लिखना सार्थक हो गया। किसी पत्र में तो छप ही जायगा। सच ही तो है, सक्षेप में बात कही भी नहीं जा सकती। केवल दृष्टिकोण ही व्यक्त हो सका है।

रतनरासो इस समय पढ रहा हूँ और जब भी लौटाऊँगा आपको लिखूँगा। इस रासो के प्रति अब मेरी श्रद्धा और बढ़ गई है। काव्य, कथानक, भाषा, वर्णन शैली, प्रबन्धात्मकता एव सामायिक इतिहास सभी दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। उत्कृष्ट वीरकाव्य है। किन्तु हिन्दी में इस वीरकाव्य के रूप में मान्यता शीघ्र मिल जाएगी, ऐसा विश्वास नहीं होता। शुक्लजी के शब्दों में कुभकर्ण कवि ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया। (कारण नायक का चुनाव)

डॉ. भालचन्द्र तेलंग हमारे यहाँ विभाग में हैं। वे पुराने वयोवृद्ध साहित्यिक हैं एव रीतिकाल के विशेषज्ञ एव पद्याकर तेलंग (रीतिकालिन कवि) के वंशज हैं। उन्होंने नायकत्व-हीरोइज्म के सम्बन्ध में एक तर्क दिया है, तर्क के अनुसार दरबारी साहित्य में जिनको नायकत्व प्राप्त हुआ है, उसका आधार ऐतिहासिक मात्र न समझकर (वह तो है ही) उस नायकत्व में धर्मतत्त्व को भी परखा जाय। युद्धवीर की तरह नायक दानवीर और धर्मवीर भी रहे हैं। मध्ययुगीन काव्यों में नायकत्व का एक आधार धर्म भी है। इतिहास के अध्ययन में इस तथ्य को और वह भी विशेष रूप से मध्यकालीन साहित्य के संदर्भ में भूलाया नहीं जा सकता। मैंने अभी तक इस दृष्टिकोण से विचार नहीं किया।

औरंगाबाद का अतीत

आपके विचार में जानना चाहूँगा । निकट-भविष्य में (ग्रीष्मावकाश में) आऊँगा । उसी समय विचार हो सकेगा ।

आशा है सानन्द एव स्वस्थ होंगे । कृपाभाव रखियेगा ।

विनीत

राजमल बोरा

० ०

ब्लॉक नं ६, आनन्द नगर

टाऊन हाल, औरंगाबाद

दि ५ नवम्बर १९७०

आदरणीय डॉक्टर साहब,

सादर प्रणाम

आपका स्नेहपूर्ण पत्र अभी-अभी प्राप्त हुआ । अत्यंत आभारी हूँ । पूना अधिवेशन सफल रहा । निबन्ध पढ़ने का अवसर मिला । इससे पूर्व हैदराबाद के अधिवेशन में भी सम्मिलित हुआ था । उस समय भी मैंने निबन्ध पढ़ा था । इस बार कुछ अधिक आश्वस्त था । विद्वानों को निकट से देखने एव उन्हें सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ । मैंने अब तक तीन अधिवेशन देखे हैं । उनमें मुझे यह अधिवेशन गोष्ठियों की दृष्टि से सफल जान पड़ा । व्याकरण-गोष्ठी सब में अच्छी रही । इस गोष्ठी का सभापतित्व पोतदारजी ने किया । इसी तरह मध्यकालीन साहित्य, आधुनिक साहित्य, काव्यशास्त्र एव भाषा-विज्ञान तथा विविध-साहित्य विषयों पर अलग अलग गोष्ठियाँ हुईं । ममताभाव होने पर भी उपस्थित सभी विद्वानों को निबन्ध पाठ का अवसर मिला । संचालन उत्तम था । विषयों की अधिकता के कारण चर्चा नहीं हो सकी । बहुत से अच्छे निबन्ध पढ़े गये । मैं जिस विषय का अध्ययन कर रहा हूँ, उस पर किसी का भी निबन्ध नहीं था । अधिवेशन से प्रेरणा प्राप्त कर लौटा हूँ । इस बार प्रोफेसर देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रोफेसर एव अध्वक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष निर्वाचित हुए हैं । अगला अधिवेशन म्वालियर में होगा । पूना में अधिवेशन के बाद और तीन दिन तक रुका रहा । इन तीन दिनों में भारत

इतिहास सशोधक मंडल में काम किया। श्री खरे साहब के साथ विचार-विनिमय हुआ। बीजापुर, गोलकोण्डा एवं विजयनगर के इतिहास से सम्बन्धित मराठी पुस्तकें खरीद ली। जिस दिन लौट रहा था उसी दिन श्री देवीसिंह चौहान से भेंट हुई। उन्होंने आपको याद किया। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप पूना आ रहे हैं। श्री काशीराम शर्मा का पत्र प्राप्त हुआ और आपके द्वारा भी ज्ञात हुआ कि रतनरासो का प्रकाशन, जोधपुर से होनेवाला है। यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। पूना से मैं अपने भाई के पास लातूर गया। दीपावली वहीं हुई। यहाँ मैं २ नवम्बर को लौटा हूँ। अब मैंने अपना काम शुरू कर दिया है। उत्तराधिकार युद्धवाला यह अध्ययन जैसे ही पूर्ण होगा, उसकी एक प्रति अवलोकनार्थ आपकी सेवा में भेज दूँगा।

आशा है सानन्द होंगे। स्नेह बनाये रखे।

विनीत

राजमल बोरा

पूना जाकर आने पर भी मे यथासमय १० दिसम्बर १९७० ई. को पुन जदुनाथ सरकार की जन्मशताब्दी के अवसर पर पहुँच गया था। मेरे पहुँचने से महाराजकुमार प्रसन्न हुए। १९७० ई. का वर्ष यों ही गुजरा। मैं एकदम से पृथ्वीराजरासो की ओर नहीं मुड़ा। समय लगा। पुराना काम जारी था। उन्हें पूर्ण करता और तदर्थ जो कुछ लिखता, उन सब को महाराजकुमार के पास भेज देता। उन्हें ठीक लगता तो वे सीधे शोध-पत्रिका (उदयपुर) या नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (वाराणसी) को भेज देते। उन्होंने मेरे कार्य को रोका नहीं। १९७० ई. के बाद मैंने पृथ्वीराजरासो पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। चिन्तन बदल गया।

□ □

डॉ. ब्रजमोहन जावलिया

पृथ्वीराजरासो — पर काम करने का मतलब था पोथीखाने में उक्त काव्य की हस्तलिखित प्रतियों से जूझना। इसमें दो-तीन प्रकार की कठिनाइयों थीं। प्रथम कठिनाई तो यह थी कि प्रतियों को पढ़ना। पोथियाँ सभी हस्तलिखित थीं। लिपिकारों ने उसे लिखा था। उन्हें लाल कपड़ों में लपेट कर रखा था। ये पोथियाँ पोथीखाने या संस्थान में बैठकर षड़ी जा सकती थीं। पहले तो यह निर्णय करना

था कि पढ़ने के लिए किस पोथी का निर्णय करे ? इस क्षेत्र में मेरे सहायक डॉ. ब्रजमोहन जावलिया हुए। जावलियाजी उदयपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की शाखा में काम करते थे। उनका सम्पर्क हस्तलिखित पाण्डुलिपियों से था। जावलियाजी के सहयोग से मुझे वांछित पोथियाँ देखने मिलीं। मैं प्रतिष्ठान की उदयपुर शाखा के कार्यालय में बैठकर जब तपती दुपहरी में पोथियों निहारता तो उस समय वहाँ के कार्यालय के लोग कभी-कभी कहने लगते — 'इनमें क्या देख रहे हैं ? इसमें क्या लाभ है ?' वस्तुतः वे लोग मुझे काम से रोकना चाहते थे। कारण यह था कि मेरे बैठने तक या काम करने तक उन्हें अपनी ऊँटनी पर रहना आवश्यक था। जब पोथी लोटा दी जाती तो फिर उन्हें छुड़ी मिल सकती थी। जो मैंने कार्य आरम्भ कर दिया था। मुख्य काम उदयपुर में ही सीख सका। और उसमें मुझे डॉ. ब्रजमोहन जावलिया का सहयोग अधिक मिला।

□ □

डॉ. नरोत्तम स्वामी

स्वामीजी राजस्थान के पुराने विद्वान् थे। डॉ. ब्रजमोहन जावलिया के गुरु थे। वे बीकानेर में रहते थे। उनके अपने समय में पृथ्वीराजरासो के वे अधिकारी विद्वान् थे। बीकानेर में जब उनके घर पहुँचा तो वे मिले नहीं। उनका घर और उनका पुस्तकालय देखा। बाद में मैं यात्रा करते हुए जब आगरा पहुँचा तो प्रकाशक बन्धु के कार्यालय में मिल गए। बात हुई। किन्तु घर पर मिलकर जो बात होती, वैसी बात नहीं हो सकी। प्रथम बार और अन्तिम बार वही मेरी उनकी भेट सिद्ध हुई। बाद में उनसे मिलने बीकानेर जाना नहीं हुआ। किन्तु उनकी पुस्तक में सर्वेक्षण की, उस समय तक की पूरी जानकारी थी। उन्होंने पृथ्वीराजरासो का आद्योपान्त पठन और सर्वेक्षण पूर्ण किया था। उनका वर्गीकरण भी है। यद्यपि सब कुछ अति संक्षेप में है किन्तु नए काम करनेवाले के लिए उनकी पुस्तक प्रेरणा स्वरूप है। पृथ्वीराजरासो की हस्तलिखित प्रतियों से वे जितना जूझे हैं, उतना मैं जूझ नहीं सका हूँ। जोधपुर में उपलब्ध धारणोजवाली पाण्डुलिपि को वे ठीक और प्रामाणिक मानते थे। मैंने वह प्रति पहले जोधपुर में देखी तो उसके नोट लिए थे। उसके फोटोग्राफ्स भी लिए थे और वे सब मैंने अपनी पुस्तक में दिए हैं। महाराजकुमार का निष्कर्ष भी उस प्रति को सब से पुरानी माननेवालों में है। 'पृथ्वीराजरासो' पर मेरी पुस्तक १९७४ ई. में छप गई। उस पुस्तक के लिख देने तक भी महाराजकुमार रुके नहीं। उनकी इच्छा थी कि मैं उस पाण्डुलिपि

का सम्पादन करूँ और बाद में सटीक प्रकाशन करवाऊँ। तदर्थ मैं पुनः जोधपुर गया था। उस समय वह प्रति वहाँ पर नहीं मिली। मालूम हुआ कि मूल पाण्डुलिपि स्वामीजी लेकर गए हैं। वे उसका सम्पादन कर रहे हैं। कुछ वर्षों बाद जब पुनः जोधपुर गया तो पाण्डुलिपि मिल गई। मैंने उस समय उक्त पाण्डुलिपि की फोटो प्रति प्राप्त कर ली। यहाँ स्वामीजी के सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि स्वामीजी अन्त तक पृथ्वीराजरासो से जुड़ते रहे। उनका सम्पादन कार्य पूरा नहीं हुआ। मैं उनसे चाहकर भी पुनः नहीं मिल सका। उनसे भेट मात्र घर से बाहर हुई।

□ □

पं. काशीराम शर्मा

ऊपर पं. काशीराम शर्मा के सम्बन्ध में लिख चुका हूँ; 'रतनरासो' के कारण उनसे पत्र-व्यवहार हुआ। रतनरासो का उपयोग करते हुए मैंने औरगंजब के उत्तराधिकार युद्ध पर आलेख भी लिखा। उक्त आलेख शोध-पत्रिका, उदयपुर के दो अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुए। 'रतनरासो' का कार्य आरम्भ किया था। उसके बाद तो काम अग्रे बढ़ता गया। पृथ्वीराजरासो की पाण्डुलिपि के सम्पादन का जब काम आरम्भ किया तो महागजकुमार ने मुझे फिर उनसे सम्पर्क करने के लिए कहा। इससे पहले भी जब भी दिल्ली जाता तो उनसे मिलने के लिए मोतीबाग अवश्य जाता। पं. झाबरमल्ल शर्मा अधिनन्दन-ग्रन्थ का काम पंडितजी ने ही किया था। तदर्थ एक लेख भी लिखा था। उनके साथ डॉ. हरबगलाल शर्मा से मिलने के लिए उनके आवास पर भी गया। उनके कारण डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव तथा श्री गोविंद मिश्र से परिचय हुआ। सीतामऊ की संगोष्ठियों में वे कई बार मिले। किन्तु पृथ्वीराजरासो के सम्पादन के समय तक वे सेवानिवृत्त हो गए थे। मैंने धारणोजवाली प्रति का पूरा पाठ लिख लिया था। पाण्डुलिपि पढ़ना जावलिथाजी से सीख लिया था। उसी आधार पर मैंने पाठ लिखा था। किन्तु पाठ लेखन ठीक है या नहीं इसकी जाँच करना था और इसके लिए महाराजकुमार का आग्रह था कि मैं उनके पास जाऊँ। तदर्थ जब दिल्ली गया तो मालूम हुआ कि पंडितजी जम्मू गए हैं। उनका पता लिखकर मैं जम्मू गया। वहाँ पर वे मिल गए। वे मूल पाठ धाराप्रवाह पढ़ते थे। मूल पाठ में लिपिकता की भूले वे पहचानते थे। छंदों से परिचित थे और वे उन छंदों को प्रवाह के साथ पढ़ लेते थे। वे मूल पाठ पढ़ते गए और मैं अपना पाठ ठीक करता गया। इस तरह मैंने अपने पाठ

का वाचन सुना और उसे ठीक किया। अर्थ की चिन्ता किये बिना मैंने सारा पाठ किया। बाद में अर्थ भी जान गया। आते-जाते तर्की नदी देखी। लौटने का टिकट लेने मार्केट गया। सबेरे शाम पंडितजी के साथ धूमता था। खाना-पीना रहना सब कुछ उन्हीं के घर पर ही था। यह बात अप्रैल-मई १९८५ ई. की है।

यहाँ यह लिखूँ कि पृथ्वीराजरासो के लिए मैंने दो परियोजनाएँ प्रस्तुत की और दोनों परियोजनाएँ स्वीकृत हुईं। यात्रा के लिए राशि मिली थी। पुस्तकें भी खरीदी गईं। पहली योजना से सम्बन्धी पुस्तक १९७४ ई. में प्रकाशित हो गई। दूसरी योजना का काम भी पूर्ण हुआ है। प्रकाशन में विलम्ब हो रहा है। इस वर्ष (२००४ ई.) प्रथम भाग हैदराबाद से छप गया है। शेष दोनों भाग प्रकाशनाधीन हैं।

□ □

डॉ. रामविलास शर्मा

यहाँ बीच में ही पुनः डॉ. रामविलास शर्मा का उल्लेख करना चाहता हूँ। उनसे मैं महाराजकुमार से मिलने से पूर्व ही आगरा में मिलकर आया था। मैं सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के इतिहास की पुस्तकें पढ़ रहा था। डफ का ग्रंथ 'मराठों का इतिहास' तथा कर्नल जेम्स टॉड का ग्रंथ 'राजस्थान का इतिहास' मैंने तिरुपति में ही पढ़ लिए थे। मन में कुछ शंकाएँ थीं इसीलिए ८ जून १९६९ ई. को उन्हें विस्तृत पत्र लिखा था। पत्र इस प्रकार है—

दि. ८ जून १९६९

आदरणीय डॉक्टर साहब,

सादर प्रणाम

इससे पूर्व लिखा हुआ पत्र मिला होगा। यह पत्र विशेष रूप से अपनी जिज्ञासा व्यक्त करने के लिए लिख रहा हूँ। अध्ययन करते समय मन में अनेक मन्देह उपजते हैं और तथ्यों का मूल्यांकन ठीक दृष्टिकोण में अभाव में नहीं हो पाता। नीचे मैं इतिहास (भारतीय इतिहास) के सम्बन्ध में कुछ शंकाएँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। आप इन्हें दूर करेंगे। इसी विश्वास से निवेदन कर रहा हूँ।

(१) प्रथम बात, मुगलों के सम्बन्ध में है। मुगलों को भारतीय मानना चाहिए। (आपने यही कहा था और मत्त भी है।) किन्तु ऐतिहासिक ग्रंथों में उन्हें विदेशी माना गया है।

(२) दूसरी बात मुगलों के साथ भारतीय नरेशों के अनवरत संघर्ष में (ऐतिहासिक कारण युद्धों के चाहे जो रहे हों) मुगलों का विरोध धार्मिक धरातल पर हुआ है। धर्म एवं संस्कृति के आधार पर उनके लिये तुरक एवं अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। बात काव्यों की है और यहाँ दृष्टिकोण (धर्म एवं राष्ट्र के सम्बन्ध के आधार पर) तत्कालीन है। हम युग में इतिहास पर आरोपण नहीं कर सकते। हाँ तथ्य अवश्य खोज सकते हैं और फिर यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है।

(३) तीसरी बात, इतिहास का विश्लेषण (प्राप्त तथ्यों का विश्लेषण) करते समय काल-विभाजन कहे, वंश या जाति का इतिहास कहे, राजपरिवार का इतिहास कहे, हमें किसी न किसी दृष्टिकोण को बनाकर चलना पड़ता है। उदाहरण के लिये, सिक्खों का इतिहास, राजपूतों का इतिहास, जाटों का इतिहास, बुन्देलों का इतिहास, मराठों का इतिहास, इतिहास के सभी नाम, जातिवाचक है, कहीं स्थानवाचक हैं। यदि समय रूप से (भारत वर्ष एक है) देखें तो इन नामों को किस रूप में देखें ? मुगलों की स्थिति का भी इस सदर्भ में विश्लेषण करना पड़ता है। विभाजन भौगोलिक सीमाओं के आधार पर हो, रस या जाति के आधार पर हो, धर्म के आधार पर हो या किसी अन्य आधार पर हो। अब तक लिखे गये इतिहासों में पुस्तक का नाम जैसा होता है, दृष्टिकोण वैसा ही मिलता है। मैं अब तक निश्चय नहीं कर पाया हूँ, जाति या व्यक्ति का विस्तार देते समय उनकी चारित्रिक विशेषताएँ भी लिखना पड़ता है और तुलना भी करनी

— (अपूर्ण)

पत्र का शेष अंश अगले पृष्ठ पर था। वह अंश खो गया है। उत्तर मुझे १४-६-६९ के पत्र में मिला। पत्र इस प्रकार है—

० ०

दि. १४-६-६९

प्रिय बोर,

१. बाबर विदेशी था; अकबर हिन्दुस्तानी। विदेशी के देसी बनने में समय लगता है। जो अकबर को विदेशी कहते हैं, उनसे मेरा मतभेद है।

२ तुर्क धार्मिक नहीं; जातिवाचक शब्द है। हिन्दू-मुस्लिम दगे आज भी होते हैं। १६वीं सदी में रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट दल आपस में लड़े। जब तक धर्म रहेगा, धर्म के नाम पर लड़ाई भी होगी। सवाल यह नहीं है कि लोग स्थिति को क्या मनझते है वरन् यह कि स्थिति है क्या। लीगी मुसलमान अपने को अलग कौम मानते थे, तो क्या अलग कौम हो गये ?

३ पंजाब एक जाति, सिख उसमें एक सम्प्रदाय, जाट एक पुराना कबीला जो सिखों, हिन्दुओं, पंजाबी-हिन्दी जातियों में बँटा हुआ है। आवश्यकता है दूसरों की बातें दोहराने की नहीं, अपनी समझ से वैज्ञानिक विवेचन करने की है।

शेष, यदि मिलें।

रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा पत्रों के उत्तर तुरन्त देते थे। उसके बाद में तो मैं महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह की ओर अधिक आकृष्ट हो गया। बीच में कभी पत्र लिखता या कुछ पूछता तो वे साफ बतलाते कि उन का ध्यान उक्त विषय की ओर नहीं है। जब मेरा ध्यान भाषा विज्ञान की ओर गया तो उनसे पुन सम्पर्क बढ़ा और वह अन्त तक बना रहा।

□ □

श्री शंभुनाथ वाजपेयी

पृथ्वीराजरासो के कार्य से मुझे पुन वाराणसी जाना पडा। बृहत् संस्करण का प्रकाशन वही से हुआ है। उसके लिए जिस पाण्डुलिपि को आधार बनाया गया है, उस प्रति को देखना आवश्यक था। सभा का पुस्तकालय तो सब के लिए खुला रहता था। किन्तु प्रायः पाण्डुलिपियाँ देखने नहीं मिलती थीं। आरम्भ में मेरा ध्यान पाण्डुलिपियों की ओर नहीं था। बाद में पृथ्वीराजरासो की हस्तलिखित प्रतियाँ देखना आवश्यक हो गया। तदर्थ शंभुनाथजी वाजपेयी ने मेरी सहायता की। वे सभा के अधिकारी थे। उनके हस्ताक्षर से सभा का सारा कार्य होता था। उनके कक्ष में सभा के पुराने प्रकाशनों की प्रतियाँ थीं। नागरी प्रचारिणी पत्रिका के पुराने अंक भी थे। हंसमुख स्वभाव के थे। परिश्रमी थे। सभा में बैठे ही रहते थे। उनके हाँ कह देने से सारा काम हो जाता था। एक बार हँसी-हँसी में उन्होंने कहा कि हमारी सभा का नाम नागरी प्रचारिणी है, साहित्य सम्मेलन

नहीं है और सच तो यह है कि सभा का सारा काम साहित्य का है। नागरी के प्रचार का काम साहित्य सम्मेलन कर रहा है क्योंकि परीक्षा विभाग साहित्य सम्मेलन में है। शम्भुनाथजी वाजपेयी के कारण सभा की हस्तलिखित प्रतियाँ देख ली और उस प्रति (मुद्रित) का मिलान कर लिया। मुद्रित बृहत सस्करण की मूल प्रति सभा में है। पंड्याजी वाली प्रति वही है। इसका विस्तृत विवेचन मैंने अपनी पुस्तक में किया है।

□ □

समाहरणात्मक प्रस्तावना

पृथ्वीराजरासो पर महाराजकुमार डॉ. रघुवीरसिंह ने समाहरणात्मक प्रस्तावना लिखी है। जो काम करता रहा, वह महाराजकुमार डॉ. रघुवीरसिंह को बतलाता रहा। उस सारे काम को देखते समय दो-तीन जगह अटक गए थे। एक तो उन्होंने मध्यम सस्करण की मुद्रित प्रति देखी नहीं थी। वह प्रति मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित की थी। मैं वाराणसी में उनकी दुकान पर गया। पूछा — ‘असली पृथ्वीराजरासो आपने छापा है, उसकी प्रति दिखलाइए।’ कहा — ‘पुस्तक नहीं है।’ मैंने कहा — ‘मुझे भीतर आने दीजिए और पुराना स्टॉक जहाँ रखा है, वह स्थान दिखलाइए, मैं खोज लूँगा।’ उन्होंने मुझे पुस्तक खोजने की सुविधा दी। मैंने पुरानी पुस्तकों में उक्त पुस्तक खोज ली। लाहौरवाले स्टॉक की पुस्तक थी। मैंने दो प्रतियाँ खरीद लीं। एक अपने लिए और दूसरी महाराजकुमार के लिए। दूसरी बात कर्नल जेम्स टॉड की प्रतियाँ देखनी थीं। उसका विवरण तो मिल गया। किन्तु वे सारी प्रतियाँ लंदन में थीं। मैंने पत्र-व्यवहार किया। लंदन से पत्र भी मिले। फोटो प्रतियाँ प्रयत्न करने पर मिल सकते थे। मैंने मारा पत्र-व्यवहार महाराजकुमार के पास भेज दिया। उसके आधार पर उन्होंने सीधे लंदन से पत्र-व्यवहार को आगे बढ़ाकर उन्होंने टॉड की महत्त्वपूर्ण प्रति प्राप्त कर ली। महाराजकुमार ने स्वयं यात्राएँ नहीं की किन्तु उन्हें सब कुछ मालूम था। उन्होंने मेरी सामग्री का अवलोकन किया और समाहरणात्मक प्रस्तावना लिखी। बहुत श्रम से लिखी। वह प्रस्तावना ‘पृथ्वीराजरासो इतिहास और काव्य’ (१९७४ ई.) में प्रकाशित है।

□ □

महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह

मेरे शोध कार्यों का आरम्भिक विषय 'हिन्दी वीरकाव्य' रहा है। पी-एच डी का विषय 'भूषण और उनका साहित्य' तथा डी.लिट् का विषय — 'हिन्दी वीरकाव्य. सर्वेक्षण, वर्गीकरण एवं मूल्यांकन (१६०० ई - १८०० ई.)' रहे हैं। १९६० ई. में पी-एच डी. के लिए नाम रजिस्टर्ड हुआ। और डी लिट् वाला प्रबन्ध १९७९ ई. में प्रकाशित हुआ। यो मैं लगभग दो दशकों तक इसी विषय पर काम करता रहा हूँ। और इस कार्य में मुझे अनेक विद्वानों का सहयोग मिला है किन्तु प्रधान रूप से जिनके निर्देशन में काम करता रहा हूँ, वे हैं — महाराजकुमार डॉ रघुबीरसिंह। उनसे सम्पर्क औरंगाबाद आने के बाद में हुआ है। १९६९ ई के बाद हुआ है। यह सम्पर्क उनके निधन होने तक फरवरी १९९१ ई. तक रहा है।

हिन्दी वीरकाव्यों पर मैंने जो भी कार्य किया है, उस पर उनके साथ पत्र-व्यवहार किया है। उनका प्रथम पत्र दिसम्बर १६, १९६९ ई का है। तब

से जुलाई २३, १९८८ ई तक कुल १९४ पत्र मिले हैं। इन पत्रों का सकलन मैंने १९९० ई में प्रकाशित करवाया है। पत्रों को प्रकाशित करने से पूर्व सीतामऊ गया था — अप्रैल १९८९ ई. में मिला था। उस समय वे अस्सी से ऊपर के हो गए थे। वृद्ध थे। उन्होंने प्यार से पाण्डुलिपि देखी और मुझे लौटा दी। बोले — 'ठीक है। छपवाओ।' वहाँ से सीधे जयपुर पहुँचा। ट्रेन में बैठे-बैठे २३ अप्रैल १९८९ ई को पुस्तक का 'ज्ञापन' (आरम्भ का निवेदन) लिखा और श्री सियाशरणजी खण्डेलवाल को पुस्तक दे आया। १९९० ई में पुस्तक छप गई। १९९० ई में मैं बीमार था। घर पर ही था। श्री सियाशरणजी ने पुस्तक की प्रति घर पर लाकर दी। पुस्तक उनकी उपस्थिति में छप गई। महाराजकुमार ने पुस्तक देख ली थी, इसका मुझे सन्तोष है। उनकी प्रतिक्रिया जान नहीं सका। क्योंकि उसके बाद मैं मिलना नहीं हुआ। फरवरी १९९१ ई में महाराजकुमार चल बसे। अन्तिम वर्षों में उनके पत्र भी नहीं मिले। पत्रों की पुस्तक के ज्ञापन की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत है —

“लगभग दो दशकों में, एक शोध-छात्र के रूप में मैंने क्या कुछ जाना है, सीखा है और इम पथ पर कार्य किया है, उसका कच्चा चिट्ठा इन पत्रों में स्पष्ट है। ये सभी पत्र व्यक्तिगत होने पर भी इनमें विषय बाहुल्य है, शोध सम्बन्धी अनेक संकेत है, कार्य करनेवालों के लिए दिशा-निर्देश है, कई ऐसे तथ्यों का उद्घाटन है जिनको लेखन में स्थान नहीं मिल सका है, और सब से बढ़कर आत्मीय वचनों द्वारा ज्ञान-पथ पर चलने के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन है। मैंने जो लेखन कार्य किया है, उस कार्य में ये पत्र मुझे सदैव आत्मबल प्रदान करते रहे हैं। मेरी अपनी योजनाओं के संकेत इनमें हैं और मैं जानता हूँ कि योजनानुसार कार्य मैं अब भी नहीं कर सका हूँ। बहुत कुछ शेष है, जो अभी करना है।”

“इन पत्रों में बहुत तथ्य ऐसे हैं जिनका उपयोग मैं चाहकर भी यथास्थान नहीं कर सका हूँ। सब कुछ लिख लेने और बाद में छप जाने पर महाराजकुमार ने ऐसे तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया, जिनकी ओर मेरा ध्यान नहीं जा सका है और वे सब तथ्य ऐसे हैं जिन्हें पुस्तक में जगह नहीं मिली है। इतिहासकार को तथ्य बड़े प्यारों लगते हैं और वह तथ्यों की रक्षा करने के लिए सदैव

तन्पर रहता है। सारे तथ्यों का उपयोग हो या न हो किन्तु उनकी सुरक्षा का आग्रह सदैव उनमें बना रहता है। ऐसे आग्रह का परिचय इन पत्रों में मिल जायेगा।”

(महाराजकुमार डॉ रघुबीरसिंह के पत्र — राजमल बोरा के नाम, प्रकाशक — पब्लिकेशंस स्कीम, ५७ मिश्र राजाजी का रास्ता, जयपुर - ३०२००१, प्रथम संस्करण १९९० ई. — ज्ञापन से)

‘ममहारणात्मक प्रस्तावना’ छप जाने (१९७४ ई में) के बाद में महाराजकुमार को लगा कि उसमें बहुत-सी भूले रह गई है। उन भूलों का रह जाना, उन्हें अखरने लगा। उन्होंने उक्त प्रस्तावना को बदलना चाहा। जुलाई २१, १९८२ ई के पत्र में लिखा —

दो वर्ष पहले तुमने आग्रह किया कि तुम्हारी पुस्तक ‘पृथ्वीराज रासो : इतिहास और काव्य’ में प्रकाशित अपनी ममहारणात्मक प्रस्तावना को मैं सशोधित कर दूँ, जिससे तुम्हारी इस पुस्तक के आयोजित दूसरे संस्करण में उसे प्रकाशित करवा दिया जावे। परन्तु पिछले डेढ़-दो वर्षों में अपनी अन्य व्यस्तताओं के साथ ही अपनी आँखों की व्याधि के कारण मैं तुम्हारे उस आग्रह की ओर ध्यान नहीं दे सका।

सौभाग्य से इधर शल्यक्रिया के फलस्वरूप अपनी बाँई आँख से मैं पुन देखने लगा हूँ। पुन मुझे यथेष्ट अवकाश भी मिल गया है, जिससे मैंने पिछले दस दिनों में अपनी उस ममहारणात्मक प्रस्तावना को पूर्णतया सशोधित कर दिया है। अब उसकी स्वच्छ प्रतिलिपि तैयार की जा रही है, जिसे पुन देख लेने के बाद उसकी प्रतियाँ टंकित करवा ली जावेगी। इस सम्बन्ध में तुम्हारी सूचना मिलने पर उसकी टंकित प्रति मैं रजिस्ट्री से तुम्हें भिजवा दूँगा।’

(डॉ रघुबीरसिंह के पत्र, राजमल बोरा के नाम, पत्र क्रमांक १४५,
पृ. १६४ तथा १६५)

उक्त प्रस्तावना मुझे अगस्त १९८२ ई में मिल गई। पृथ्वीराजरासो · इतिहास और काव्य पुस्तक का दूसरा संस्करण छपा ही नहीं है। मैंने महाराजकुमार के आग्रह से ही जोधपुर की दो-तीन बार यात्राएँ की थी। उनकी इच्छा रही कि

धारणोजवाली प्रति का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कर दूँ। मैं धारणोजवाली प्रति लेकर (जीराक्स की प्रति) आया। उसी जीराक्स प्रति से दूसरी जीराक्स प्रति तैयार की और उसे महाराजकुमार के पास भेज दी। पृथ्वीराजरासो के सम्पादन का काम मैंने उनके सामने ही आरम्भ कर दिया था किन्तु उसका पूरा काम उनके निधन के बाद में हुआ। सम्पादन के तीनो भाग १९९४ ई. में पूर्ण हुए। उसके पहले भाग में आरम्भ में मैंने यह सशोधित प्रस्तावना दी है। इमो वर्ष (२००४ ई.) में छप गई है। विश्वास करना हूँ कि क्रमशः अन्य दोनो भाग छप जावेंगे। इन प्रकाशनों के साथ महाराजकुमार का सौंपा हुआ काम पूरा होगा।

मैंने मेरे दादाजी के बाद में घरेलू डॉट-फटकार महाराजकुमार से ही सुनी है। वे कल्पना लोक में बहकनेवाले नहीं थे। प्रति वर्ष (१९६९ ई. के बाद में) और कभी-कभी वर्ष में दो बार उनसे मिलने जाता रहा हूँ और जब भी जाता — अपने कार्य का विवरण प्रस्तुत कर देता था। आगे के कार्य की योजना बनाता और पुनः दूसरी यात्रा के लिए प्रस्थान करता था। वे जहाँ जाने के लिए कहते, वहाँ चला जाता और जो कुछ देखता-समझता, उसका कच्चा चिट्ठा उनको लिख देता। मेरे लिखे हुए पत्र मेरे पास नहीं है। कुछ है, उन्हें मैंने दिये भी हैं। पत्र न होने पर भी महाराजकुमार के पत्रों में उनके सदर्थ है और सूचनाएँ हैं। मेरे लिए महाराजकुमार ने जयपुर के गोपालनारायणजी बहुरा से पत्र-व्यवहार किया। वह सारा पत्र-व्यवहार मैंने देखा है। उन्हें लिखा और अपनी सम्पादित पत्रोंवाली पुस्तक के परिशिष्ट में उन्हें दिया है। इतिहासकार होने पर भी साहित्य से उन्हें लगाव था।

महाराजकुमार से बात करते समय यदि कोई तथ्यात्मक भूल हो जाती तो वे उसे बरदाश्त नहीं करते। तुरन्त बिगड़ जाते। फटकार लगाते। कहते — 'यह सब बकवास है।' जितनी जल्दी वे गरम हो जाते, उतनी ही जल्दी वे ठण्डे हो जाते। मैं तो आज्ञाकारी शिष्य था। डॉट-फटकार लगाकर मुझे ठीक करनेवाले गुरु मिले थे। केवल बातचीत में ही नहीं, उनके पत्रों में भी डॉट-फटकार है। व्यावहारिक भूलों के लिए भी वे मुझे डाँटते रहे हैं। सच तो यह है कि उनके निकट पहुँचने के लिए उन्हें समझने की आवश्यकता है।

मैंने सामग्री-सकलन का काम, उन्हीं से सीखा है। उन्हें मालूम रहा कि मैं इस विषय पर मैं काम नहीं कर सकता किन्तु सामग्री मिल रही है और वह

महत्वपूर्ण है तो उन्होंने मगवाई है। मैंने स्वयं अपनी यात्राओं में जो सामग्री संकलित की उसकी सूचनाएँ उन्हें भेजी हैं और मेरी सूचनाओं के आधार पर उन्होंने सामग्री मंगवा ली है। उनके पास मे पत्रों का विशाल भण्डार है। वे सब अप्रकाशित हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के दशकों के साहित्यकारों (कवियों तथा लेखकों में) से उनका सीधा सम्पर्क रहा है। मिले हैं और उनसे पत्र-व्यवहार रहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पत्र मुझे उनके सग्रह से मिले हैं। इसी तरह और भी साहित्यकारों के पत्रों की सूचनाएँ मैंने उसी समय अपनी जानकारी के लिए लिख ली थी। उक्त सूची नीचे दे रहा हूँ।

नाम	पत्रों की संख्या	नाम	पत्रों की संख्या
१) श्री अगरचदजी नाटा	१५	२) श्री अनूप शर्मा	६
२) श्री आनंदकृष्ण	१	४) श्री इलाचन्द्र जोशी	४
५) श्री ईश्वरदान अग्निवा	३	६) श्री कमलकुमार चटोपाध्याय	१
७) श्री कन्हैयालाल 'प्रभाकर'	१	८) श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	१०
९) श्री कन्हैयालाल सहल	२	१०) श्री कृष्णाचार्य	३
११) श्री कृष्णानंद	१	१२) श्री कृष्ण नारायण कमलेश	४
१३) श्री कृष्णबिहारी मिश्र	७	१४) श्री काशीप्रसाद जायसवाल	२
१५) श्री कालिकाप्रसाद दीक्षित	३४	१६) श्री काशीराम शर्मा	१९
१७) श्री केशरीसिंह बारहट	१	१८) श्री गणेश ग्युनाथ वैशपायन	१
१९) श्री गुलाबराय	२	२०) श्री गोपालशरणसिंह	१५
२१) श्री गौरीशंकर ओझा	१३	२२) श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	७
२३) श्री चन्द्रभूषण त्रिपाठी	६	२४) श्री चतुरसेन शास्त्री	१०
२५) श्री चन्द्रबली पाण्डेय	२	२६) श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द	१
२७) श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा	६	२८) श्री जनार्दननाथ नागर	२
२९) श्री जयचन्द विद्यालंकार	१६	३०) श्री झाबरमल्ल शर्मा	१
३१) श्री पदुमलाल पत्रालाल बहुरी	१३	३२) श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	८१
३३) श्री देवीदत्त शुक्ल	१६	३४) श्री नरेन्द्र	१५
३५) ना प्र सभा वाराणसी	१२	३६) श्री नाथूलाल व्यास	८
३७) श्री पद्मधर पाठक	१	३८) श्री प्रतापनारायण	१
३९) श्री प्रफुलचन्द्र ओझा	७	४०) श्री प्रभाकर माचवे	१

नाम	पत्रों की संख्या	नाम	पत्रों की संख्या
४१) श्री पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र	१	४२) श्री पुनर्वात्तदास मेनारिया	४
४३) श्री बदीविशाल	३	४४) श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी	१
४५) श्री ब्रजरत्न दास	२	४६) श्री भगवतीचरण वर्मा	९
४७) सुश्री महादेवी वर्मा	४	४८) श्री महेन्द्र	२
४९) श्री मैथिलीशरण गुप्त	३	५०) श्री मोतीचन्द्र	९
५१) श्री यशपाल	४	५२) डॉ रघुवीर	२
५३) श्री रघुपति सहाय	१	५४) श्री रामकृष्ण सुमन	१
५५) श्री रामकुमार वर्मा	२	५६) श्री रामचन्द्र टण्डन	४
५७) श्री ईश्वरचन्द्र सक्सेना	१	५८) श्री रामकृष्ण सुमन	१
५९) श्री जगमोहन निगम	१	६०) श्री खेमराज जोशी	२
६१) श्री अखिल बिनय	१	६२) श्री गोकुलचन्द्र शुक्ल	१
६३) श्री प्राणेश	१	६४) श्री राधेश्याम	१
६५) श्री वासुदेव उपाध्याय	१	६६) श्री बलदेव उपाध्याय	१
६७) श्री गमचन्द्र शुक्ल	५	६८) श्री रामधारीसिंह दिनकर	३
६९) श्री रामनारायण चौधरी	२	७०) श्री राधेश्याम गौरीशकर ओझा	१५
७१) श्री राधाकृष्णदाम	३८	७२) श्री रेषु	१
७३) श्री वचनेश	७	७४) श्री वृन्दावनलाल वर्मा	९
७५) श्री विपिन बिहारी त्रिवेदी	२	७६) श्री विश्वम्भर	१
७७) श्री विष्णु प्रभाकर	१	७८) श्री विष्णुराम सनायधर सुमनकर	४
७९) श्री वासुदेवशरण	३	८०) श्री वियोगी हरि	१
८१) श्री सत्यकेतु विद्यालकर	५	८२) श्री अज्ञेय	९
८३) श्री सियाशरण गुप्त	१२	८४) श्री सुदर्शन	५
८५) श्री सुधाकान्त राय चौधरी	१	८६) श्री सुमित्रानन्दन पन्त	१०
८७) श्री निराला	२	८८) श्री श्रीपतराय	३
८९) श्री श्यामसुन्दरदास	६	९०) श्री शान्तिप्रसाद वर्मा	१९
९१) श्री शुक्देवबिहारी मिश्र	११	९२) श्री हरिभाऊ उपाध्याय	१
९३) श्री हरिशकर	४	९४) श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी	४
९५) श्री क्षेमचन्द्र सुमन	१	९६) श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	७७

इस सूची में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम क्रमांक ३२ तथा क्रमांक ९६ में दो बार आया है। एक जगह उनके ८१ पत्र हैं और दूसरी जगह ७७ पत्र हैं। उनके कुल पत्र $८१+७७=१५८$ हैं। सबसे अधिक पत्र उन्हीं के हैं। ये सब पत्र सीतामऊ नगर के प्रवेशद्वार के भीतर के महल में हैं, जिसमें ऐसी महत्त्वपूर्ण बहुत-सी सामग्री है। उन सबको देखने में बहुत समय लगेगा। ये पत्र महाराजकुमार जहाँ बैठते हैं, वहाँ पर (उस भवन में) नहीं हैं। इन पत्रों के साथ-साथ और-और विशेष लेखकों की सामग्री भी है। जयचन्द्र विद्यालकार की अप्रकाशित और व्यक्तिगत सामग्री अलग से अलमारी में रखी हुई है। बहुत से लेखक काम करते-करते इस लोक को छोड़ देते हैं। उनकी शेष और व्यक्तिगत सामग्री का ठीक से सकलन नहीं — एकत्रीकरण — हो पाता। उनका मूल्य पहचानेवाले प्रायः घर के लोग नहीं होते। जानकार लोग पहुँचते हैं और जो हाथ आए, उठाकर ले जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बहुत-सी सामग्री ऐसे ही लोग उठा ले गए। लोहे के सन्दूक में जो सामग्री थी, वह सुरक्षित रही। अधिक सामग्री पं. केशवचन्द्र शुक्ल के पास में थी।

मैंने व्यक्तिगत जानकारी पाने के लिए बहुत बार प्रश्न पूछे। सकोच के कारण कुछ बतलाते नहीं। पत्र भी लिखे। २३ जुलाई १९८८ ई. को पत्र में लिखा —

‘जो व्यक्तिगत पत्र लिखे भेजे हैं, उनके बारे में स्वयं लिखना बड़ा कठिन होता है सो उत्तर में लिखवा कर शीघ्र ही भिजवा दूँगा।’

(महाराजकुमार के पत्र, अन्तिम पत्र, पत्र क्रमांक १९४, पृ. २०२)

और वह पत्र कभी नहीं मिला। इस पर भी मैंने प्रयत्न जारी रखे और क्रमशः जो कुछ ज्ञात हुआ, वह लिख लिया है। बहुत सक्षिप्त जानकारी लिख रहा हूँ —

पिता — श्री रामसिंहजी के सी आई / जन्मतिथि — २३ फरवरी १९०८ ई.

विवाह — प्रतापगढ़ स्टेट (राजस्थान) की मोहनकुमारी से १९२९ ई.

बड़ी कन्या — उषाकुमारी, जन्म १९३२ ई., माजदा रियासत में विवाह हुआ।

ज्येष्ठ पुत्र — श्रीकृष्णसिंह, जन्म १९३४ ई. - बार्डर सेक्यूरिटी फोर्स में I.G.।

दूसरी कन्या — रमाकुमारी, जन्म १९३६ ई. — विवाह १९५० ई. काठियावाड

में।

दूसरा पुत्र — ब्रजराजसिंह, जन्म १९३८ ई — दादा की उपस्थिति में विवाह — विवाह के तुरन्त कुछ दिन बाद पूना गए। वही पर निधन हो गया। महाराजा रामसिंह का निधन २० मार्च १९६७ ई को हुआ। उससे पूर्व छोटे पौत्र का निधन हुआ। आघात सह नहीं सके। पैतृक अधिकार श्री कृष्णसिंह को दे दिया। महाराजकुमार अन्त तक महाराजकुमार रहे। महाराजकुमार के दो भाई हैं — गोविंदसिंह और रघुनाथसिंह। दो बहने हैं — चादकुमारी (बिजौलिया में) और दुमरी कृष्णकुमारी, सरगुजा की महारानी।

शिक्षा — शिक्षा घर पर ही हुई। जुलाई १९२० को डलिली कालेज इन्दौर भेजा गया। सितम्बर २० को बीमार हो गए। पिताजी पधारे थे। प्रिंसिपल परसी हाईलड नागज थे। बोलचाल हो गई। सरकारने वापिस बुलवाया। टाइफाइड भी था। दिसम्बर २०, में लौट आए। 6th Class में प्रवेश हुआ। सरकार 7th class में प्रवेश चाहते थे। दिसम्बर २० से मार्च २४ तक के चार साल का कोर्स घर पर ही हुआ। रावर्ट किंग प्रिंसिपल था। स्टेट के स्कूलों का इसपेक्टर भी होता था। पढानेवालों में बी. एस. नायक इतिहास-भूगोल पढाते थे। पूना के एस. आर. मराठे इंग्लिश पढाते थे। भानुलाल हेमसावडा, गणित-साइंस के अध्यापक थे। काठियावाड के थे। सस्कृत पढानेवाले सी. के. गडकरी थे। १९२४ ई में बडौदा से परीक्षा दी। इस तरह बम्बई यूनिवर्सिटी से मैट्रिक हुआ। जुलाई-सितम्बर १९२४ ई में होलकर कालेज (इन्दौर) भेजा गया। चार महीने के बाद वापिस बुलवाया। घर पर ही स्टाफ रखा गया।

यह सब मैंने टुकड़ों-टुकड़ों में सुना। सात अगस्त १९८७ ई. को सब लिख लिया था। महाराजकुमार का आत्मकथन अपूर्ण है। वे पिताजी को सरकार कहते थे। पिताजी ने बुलवा लिया कहने के स्थान पर, सरकार ने बुलवाया — कहते थे। स्वयं आजीवन महाराजकुमार रहे और इसी नाम से वे पहचाने जाते हैं।

वीरकाव्यों पर मेरी जो पुस्तके प्रकाशित हुई, वे हैं — भूषण और उनका साहित्य (१९६८ ई.) / पृथ्वीराजरासो . इतिहास और काव्य (१९७४ ई.) / हिन्दी वीरकाव्य सर्वेक्षण, वर्गीकरण तथा मूल्यांकन (१६०० ई.-१८०० ई.) — (१९७९ ई.)। इनमें प्रथम पी-एच डी का शोध-प्रबन्ध है। इसके दूसरे संस्करण में (१९८७ ई में) महाराजकुमार का सहयोग मिला है। पृथ्वीराजरासो इतिहास और काव्य — पूरा का पूरा उन्हींके निर्देशन में लिखा हुआ है। उमी पुस्तक की

समाहरणात्मक प्रस्तावना (दीर्घ है) उन्होंने लिखी है। और तीसरी पुस्तक डी लिट् का शोध प्रबन्ध है। इसकी भूमिका स्वयं महाराजकुमार ने लिखी है। वस्तुतः इसके प्रकाशन के साथ मेरा काम पूर्ण हो जाता है किन्तु उनका सम्पर्क अन्त तक बराबर बना रहा है। १९७९ ई. के बाद नियमित जाना बन्द हो गया था। तब भी पत्र-व्यवहार अन्त तक जारी रहा।

पृथ्वीराजरासो से सम्बन्धित कार्य उन्हीं की प्रेरणा से स्वतंत्ररूपेण किया गया कार्य है। १९७४ ई. में पुस्तक छप जाने पर भी उसके सम्पादन का आग्रह उनका बना रहा। उनका वह कार्य मैंने १९९३-१९९४ ई. तक पूर्ण कर दिया। इन दस वर्षों के बाद उसके तीनो भाग (सटीक और भूमिकाओ सहित) छप रहे हैं। प्रथम भाग इसी वर्ष (२००४ ई.) छपा है।

डी लिट् के प्रबन्ध के चौथे अध्याय के आधार पर मैंने दो पुस्तकें तैयार की। वे हैं — 'राजस्थान के गौरव ग्रंथ 1' (प्रकाशन १९८० ई.) और दूसरी पुस्तक है 'जुझौते बुंदेलो की शौर्यगाथाएँ' (प्रकाशन १९८२ ई.)। इस दूसरी पुस्तक की प्रस्तावना महाराजकुमार ने लिखी है। इसी प्रस्तावना में महाराजकुमार ने लिखा — 'डॉ. राजमल बोरा ने इसी सदर्थ में (हिम्मत बहादुर विरुदावली के सदर्थ में) हिम्मत बहादुर विषयक मान कवीन्द्र द्वारा रचित 'अनूप प्रकास' काव्य का भी उल्लेख किया है, जो अब तक अप्रकाशित है।' — अतः बाद में मैंने उक्त काव्य का सम्पादन किया। पहले उसका प्रकाशन मरू भारती (पिलानी) में धारावाहिक रूप में १९८६-१९८७ ई. में हुआ। उसकी अनुमुद्रित प्रतियाँ, उन्हें उसी समय में भेज दी गई थीं। बाद में उसे पुनः सशोधित कर ऐतिहासिक पर्बालोचन की भूमिका सहित छपवाया। इसके प्रकाशन में मुझे मेरे गुरु डॉ. विजयपालसिंह का सहयोग मिला। उनके कारण, संजय प्रकाशन, वाराणसी से उक्त पुस्तक का प्रकाशन १९९९ ई. में हुआ। महाराजकुमार इस प्रकाशित पुस्तक को देख नहीं सके।

यहाँ, मैं यह स्पष्ट लिख दूँ कि मैंने अपने पत्रों में मेरी निजी कठिनाइयों का उल्लेख किया है। आर्थिक कठिनाइयों। प्रकाशन की कठिनाइयों। पारिवारिक घटनाएँ तथा कार्य के विलम्ब के कारण — सब बतलाता रहा हूँ। और मेरी उन कठिनाइयों को जानकर उनके पत्रों में वे सब उल्लेख मिलते हैं। लगता है, पत्र सामने रखकर क्रमशः सब का उत्तर लिखते थे। पूछे गए प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते थे। उनके पत्रों से मुझे सात्वना ही नहीं, कार्य करने का बल भी मिला है। उनका पत्र मिलते ही मेरा कार्य में उत्साह बना रहता था। मैंने व्यक्तिगत

कठिनाइयों का — घरेलू स्तर पर — उल्लेख महाराजकुमार को लिखे गए पत्रों में जितना किया है, उतना अन्यत्र नहीं किया है। बातचीत करते समय बाद में वे मुझे मात्र 'गजमल' नाम से सम्बोधित करते थे। घर में जैसे पारिवारिक सदस्यों से बात की जाती है, वैसे ही बोलते थे। कहते — 'देखो, राजमल . .' और कहते कहते कंधों पर हाथ धर देते थे। विशेष रूप से सार्यकाल में टहलते समय ऐसी बात होती। जब वे खुले मैदान में चलते तो कभी-कभी गाँव के लोग सामने से गुजरते। वे लोग दूर से ही जोहार करते। सिर झुकाते और निकल जाते। अपनी प्रजा के प्रति उनमें ममता व्यक्त होती। आगे निकल जाते फिर अपनी बात कहने लगते। ऐसे अवसरों पर वे पुरानी बातें सुनाते। चिट्ठानों की चर्चा करते। और सामायिक राजनीतिक प्रवृत्तियों की भी चर्चा करते। अपनी बात को दोहराकर कहने की उनकी आदत रही है।

१९८४ ई. में मैंने दौलताबाद पर २० पृष्ठों का लेख लिखा। भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन (औरंगाबाद) की स्मारिका में उसे छापना था। सम्पादक में ही था। इतिहास पर लिखने का साहस मैंने किया। मैंने उक्त लेख छापने से पूर्व महाराजकुमार को भेजा था। पढ़कर उन्होंने जो प्रतिक्रिया व्यक्त की उससे मैंने लेख छपा ही नहीं। और तब मैंने 'देवगिरि के यादव राजा' स्वतंत्र पुस्तक लिखी। उस पुस्तक की पाण्डुलिपि उन्हें भेजी। उन्होंने पढ़कर उसकी भूमिका लिखी है। १९८७ ई. में पुस्तक तैयार हो गई। महाराजकुमार की भूमिका के कारण उसे ICHR, दिल्ली की ओर से प्रकाशन अनुदान मिला। उसका प्रकाशन १९८९ ई. में हुआ।

मैंने इतिहास सम्बन्धी पुस्तक लिखने के लिए दो पुस्तकों की मामूली सकलित की। 'सातवाहनों का इतिहास' तथा 'विजयनगर साम्राज्य का इतिहास'। इन विषयों पर काम करने की योजना थी किन्तु वह काम वैसे ही पड़ा रहा। महाराजकुमार रहे नहीं और फिर मैं अन्य विषयों में — विशेष रूप से भाषा विज्ञान में — उलझ गया। अब तो दूसरे ही काम इतने हैं कि उन विषयों की ओर ध्यान नहीं दे सका।

यह सब होने पर भी मैंने दो पुस्तकें इतिहास पर लिखी हैं — वे हैं — श्रीकृष्णादेवराय और अकबर पर। दोनों अप्रकाशित हैं।

महाराजकुमार को अपने ग्रन्थालय की चिन्ता थी। उसे वे मस्था का रूप देना चाहते थे। तदर्थ उनका चिन्तन जारी था। १९७५ ई. में उन्होंने श्री नटनागर

शोध संस्थान की स्थापना करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न की प्रगति से सम्बन्धित पत्र वे लगातार लिखते रहते थे। जनवरी २, १९७५ के पत्र में लिखा —

“हॉ, श्री रघुबीर लाइब्रेरी को लेकर अब यहाँ श्री नटनागर शोध-संस्थान की स्थापना हो रही है। इस संस्थान का रजिस्ट्रेशन होने जा रहा है। और मध्यप्रदेश राज्यशासन में अनुदान मिलने लगेगा। आशा है कि अब अगले मास से तो अवश्य ही यहाँ पर कार्यरत हो जावेगा”

(पत्र क्र ७१, पृ ८२ तथा ८३)

१९७६ ई. में मार्च २१ को पुनः पत्र में लिखा —

“श्री मनोहरसिंहजी राणावत यही हैं। तुम्हें अपना सदेश वे स्वयं ही लिख रहे हैं। उन्होंने कार्यभार सम्भाल लिया है। यह संस्थान सक्रिय और प्रगतिशील होता जा रहा है। आगामी वर्ष के अनुदान के लिए प्रयत्नशील हूँ”

(पत्र क्र ८४, पृ ९८)

डॉ. मनोहरसिंह राणावत १९७५ ई. में पूर्व ही महाराजकुमार के सम्पर्क में रहे हैं। उनके पहुँचने के बाद पहले तो पी-एच डी का प्रबन्ध लिखवाया। १९७८ ई. में उन्होंने शोध-ग्रंथ पूरा कर दिया। १९७९ ई. में पी-एच.डी. हो गए।

महाराजकुमार उसके बाद जब भी यात्रा पर निकलते, मनोहरसिंह राणावत साथ में रहते। उन्हें सहायक की आवश्यकता रही है। मनोहरसिंह राणावत के आगमन के बाद संस्था को नई जीवनी शक्ति मिली। वे औरंगाबाद आए तो मनोहरसिंह राणावत साथ में थे। नई दिल्ली में १९८३ ई. विश्व हिन्दी सम्मेलन में पहुँचे तो मनोहरसिंह राणावत साथ में थे। आज तो संस्था का कार्य डॉ. मनोहरसिंह राणावत कर रहे हैं।

अन्तिम वर्षों में भी वे निरन्तर काम करते रहे हैं। उनका निजी भवन — ग्रहालय का रूप ले चुका था। सामने बैठक। भीतर के दो-तीन कमरों में पुस्तकें और लिखने-पढ़ने का टेबल। सारी पुस्तकें कहाँ रखी है, उन्हें मालूम रहती। शिवसिंह से पुस्तकें मंगवाते और उसीसे पुस्तकें यथास्थान रखवा देते। यो मैं अकेला ही वहाँ पहुँचा हूँ, ऐसी बात नहीं। विद्वानों के पहुँचने का वह तीर्थ-स्थल हो गया था। उसका प्रचार-प्रसार कम था। किन्तु जानकार लोग पहुँचते ही रहते थे।

१९७९ ई के बाद मे मेरा आना-जाना कम हो गया था । इस पर भी श्री नटनागर शोध-संस्थान की ओर से आयोजित सगोष्ठियों में जाता था । सगोष्ठियाँ प्रायः लदूना में होती । लदूना का पुराना राजभवन हम लोगों का आवास स्थान हो गया । उसीके पास खुली जगह में सगोष्ठियाँ होती । सम्मिलित भोज में सायंकाल में महाराजकुमार रहते थे । प. काशीराम शर्मा भी इन सगोष्ठियों में आते थे । उनकी उपस्थिति तक हमारा आना-जाना जारी था । दिन भर पंडित काशीराम शर्माजी के साथ चर्चा होती । लदूना से बाहर खुली जगह में घूमने के लिए निकल जाते । एक सगोष्ठी में महाराजकुमार ने प. काशीरामजी शर्मा का सम्मान भी किया ।

महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह का सम्पर्क अपने गुरु सर जदुनाथ सरकार से रहा है । गुरुजी के पत्र उन्हें लगातार मिलते रहे हैं । उन्हीं पत्रों ने श्री नटनागर शोध संस्थान के निर्माण में काम किया है । कुल ३२९ पत्र हैं । इन पत्रों का प्रकाशन महाराष्ट्र राज्य पुरातत्व विभाग की ओर से १९७५ ई. में हुआ । यह पत्र-व्यवहार १९३३ ई से १९५८ ई तक जारी रहा है । उनके दूसरे शिष्य कालिकाजन कानूनगो का पत्र अन्तिम है । वह १५ मई १९५८ ई. का है । उसमें गुरुजी के निधन का समाचार है । कुल ३२९ पत्रों में ३२८ पत्र सर जदुनाथ के हैं । इस पुस्तक को आधार मानकर मैंने एक लेख लिखा — 'जदुनाथ सरकार और महाराजकुमार रघुबीरसिंह ।' — उक्त लेख मैंने लदूना की एक सगोष्ठी में पढ़कर सुनाया । महाराजकुमार उस समय थे ।

महाराजकुमार के निधन के बाद में भी डॉ. मनोहरसिंहजी राणावत की ओर से निमंत्रण-पत्र मिलते रहे हैं । लदूना में पुनः एक सगोष्ठी में गया था । इन्दौर में भी डॉ. मनोहरसिंह राणावत ने सगोष्ठी का आयोजन किया । उसमें भी गया । उसके बाद तो अब पत्र-व्यवहार होता है ।

□ □

पं. काशीराम शर्मा

महाराजकुमार जब तक थे तब तक दूसरे विद्वानों से सम्पर्क होने पर भी मेरा ध्यान उन पर ही अधिक रहा है । यहाँ तक कि वीरकाव्यों का काम बन्द कर देने पर भी, मैं जो कुछ पढ़ता-लिखता, उसकी सूचनाएँ भेजता रहता । उनके पत्र भी मिलते रहते थे । उनके कारण मेरा परिचय पं. काशीरामजी शर्मा से हुआ और वह परिचय इन पत्रियों के लिखने तक बना हुआ है ।

प काशीरामजी शर्मा मूल रूप में सस्कृत के विद्वान् है । राजस्थानी भाषा के वाङ्मय के ज्ञाता भी है । प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ पढ़ लेते हैं । छन्दों के ज्ञाता हैं और छन्दों के क्रम को जानकर सहज उच्चारण से काव्य पाठ करते हैं । उनका काव्य वाचन मैंने सुना है । 'रतनरासो' के कारण मेरा पत्र-व्यवहार हुआ और बाद में मिलना भी हुआ ।

आरम्भ में मैं उन्हें हिन्दी निदेशालय में मिला । वही पर वे काम करते रहे हैं । उनका आवास मोती बाग में था । फ्लैट में रहते थे । उनके कार्यालय में गया और बाद में घर पर भी गया । सबसे पहले मैं दिल्ली १९७१ ई में गया । उसके बाद २००१ ई तक लगातार जाता रहा हूँ । कोई वर्ष ऐसा नहीं गया, जब मैं दिल्ली नहीं गया हो । कभी-कभी तो वर्ष में दो बार और तीन बार भी गया हूँ । महानगर में पैदल भी बहुत घूमा हूँ और रहने के स्थान बदलता रहा हूँ । किन्तु यदि किसी के निवास स्थान पर घरेलू सदस्य बनकर पंडित काशीराम शर्मा के घर पर ही रहा हूँ । मोती बाग — दिल्ली स्टेशन से — बहुत दूर है । उनके घर जाने-आने में पूरा दिन चला जाता है, इसलिए आरम्भ में उनके घर पर ठहरता नहीं था । चाँदनी चौक पर ही ठहरता था, किन्तु एक रात उनके घर पर गुजारता था । रात में ठहरे बिना बात भी नहीं होती ।

मुझे वीरकाव्यों से भाषा विज्ञान की ओर मोड़ने वालों में पंडितजी का योगदान मैं भूल नहीं सकता । पुस्तक पढ़कर विषय को जानना और व्यक्ति के मुख से सहज गति से सुनना — दोनों में बहुत अन्तर है । पंडितजी उन विद्वानों में हैं, जिनके कंठ में विद्या है । सस्कृत के विद्वानों के गुण उनमें हैं ।

'रतनरासो' से पूर्व कवि रघुनाथ रसाल कृत 'रामचरित्र' तथा 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी री महेश दासोत री खिडिया जगारी कही' — दोनों के सम्पादन में पंडित काशीरामजी ने महाराजकुमार का सहयोग दिया है । 'रामचरित्र' का प्रकाशन १९५६ ई में हुआ और वचनिका का प्रकाशन १९६० ई में हुआ । दोनों का प्रकाशन राजकमल प्रकाशन दिल्ली से हुआ है । उन दिनों में महाराजकुमार दिल्ली में थे । पंडितजी ने इन काव्यों में काव्य पक्ष को उजागर किया है । इन काव्यों की टीका भी लिखी है । 'रतनरासो' अपेक्षाकृत बड़ा काव्य है और उसकी भूमिका भी २५३ पृष्ठों की है । रतनरासो के कवि का नाम 'कुम्भकर्ण' कवि है । राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से छपनेवाला था । १९७० ई में मैंने 'रतनरासो'

की पाण्डुलिपि प काशीरामजी शर्मा मे मगाई थी । काम होने के बाद लौटा दी थी । उक्त ग्रथ पूरा आरम्भ से अन्त तक अभी भी छपा नहीं है । 'भूमिका' छपी है । वह २५३ पृष्ठों की है ।

आरम्भ मे जब पंडितजी से मिला, उस समय वे केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय मे थे । मै अकेले ही गया था । उनके साथ ही निदेशालय से (रामकृष्णपुरम्) मोतीबाग तक हम पैदल आए थे । टेलीफोन की डायरेक्टगे देखकर चाईसाहब की याद आई । मालूम था कि चाईसाहब इस समय दिल्ली मे है । उनके तीसरे पुत्र मनोहरलालजी कोठारी — मन्ना भाईसाहब — के पास रहते हैं । मैंने डाइरेक्टरी मे मनोहरलाल कोठारी का फोन नम्बर खोज लिया । बात की । मन्ना भाईसाहब मिल गये । पता पूछा । मालूम हुआ कि ग्रेटर कैलाश मे पार्ट I के एम. ब्लॉक मे रहते हैं । ब्लॉक नम्बर भी बतलाया । तदनुसार चाईसाहब से मिलने गया । पंडितजी का आग्रह था कि वही रहे । आरम्भ में सभब नही था । सामान सब फतेहपुरी में था । मोतीबाग से बस में बैठकर मूलचन्द स्टाप पर उतर कर, वहाँ से ग्रेटर कैलाश गया । चाईसाहब घर पर मिल गये । बात हुई । मन्ना भाईसाहब भी मिले । उस समय मन्ना भाईसाहब किराये से रहते थे । वहीं पर भोजन किया । वहाँ से दिल्ली स्टेशन की बस में बैठकर फव्वारा उतरा । फव्वारा से फतेहपुरी पहुँचा । दूसरी बार जब पुन दिल्ली गया तो पत्नी साथ में थी । हम लोग फतेहपुरी की धर्मशाला मे ठहरे हुए थे । प काशीरामजी शर्मा को जब मालूम हुआ कि हम दोनो आए हुए हैं तो वे स्वयं फतेहपुरी की लक्ष्मीनारायण धर्मशाला आए और हमे मोती बाग ले गए । यो पारिवारिक परिचय हुआ । और फिर तो यह परिचय बढ़ता गया ।

पंडितजी बहुत शीघ्र ट्रान्मलेशन ब्यूरो के कार्यालय मे आ गए । वह कार्यालय मोतीबाग से पैदल चलकर जाने मे सुविधाजनक था । सड़क मात्र पार कर, चौरस्ते की दूसरी ओर की सड़क पर जाना पडता था । उस कार्यालय मे ख्वाजा बदीउज्जमों भी काम करते थे । पंडितजी के सहयोगी थे । 'एक चूहे की मौत' — उनका उपन्यास उन दिनों मे बहुत प्रसिद्ध हो गया था । उन्होंने बट्रेण्ड रसेल की पुस्तक *Is Happiness still possible* का हिन्दी अनुवाद किया था । उसका नाम **सुख की साधना** रखा । राजकमल प्रकाशन से वह पुस्तक छपी है । एक नए लेखक से परिचय हुआ । उस समय इसी क्रम मे औरों से भी परिचय होता रहा है । बाद मे तो

मेरा वह क्रम बन गया कि जब भी दिल्ली आता, एक रात मोती बाग में ठहरता रहता था। मेरा काम दरियागज तथा चाँदनी चौक में रहता था। इसलिए चाँदनी चौक के निकट फतेहपुरी की धर्मशाला में ही ठहरता।

हमारी आपस में जो बातचीत होती, वह विषयपरक होती। काव्य-पक्ष ओर भाषा-पक्ष पर ही वे अधिक बोलते। भाषा से सम्बन्धित जिन प्रश्नों से मैं जूझता था, उन पर अधिक चर्चा होती। मैं प्रश्न छोड़ता और वे बोलते रहते। सच देखा जाए तो यह एक पक्ष का बोलना होता। वे वक्ता अधिक रहते ओर मैं मात्र श्रोता। 'वक्ता श्रोता ज्ञान निधि, कथा राम की गूढ' जैसी हमारी स्थिति हो गई। उनके विचारों में बहने लगा था। वे इतिहास की चिन्ता करनेवालों में नहीं है। हाँ, विषय की उन्हें अधिक चिन्ता रही है। खिडिया जगा की वचनिका का सम्पादन डॉ शम्भुसिंह मनोहर ने किया है और उसमें पंडितजी के सम्पादन की अनेक भूले बतलाई गई हैं। उसका खण्डन-मण्डन बहुत हुआ है। पंडितजी के पास शिकायतें पहुँची। उनकी ओर से उत्तर देने से पूर्व ही दूसरे विद्वानों ने पंडितजी के समर्थन में लिख दिया था। पंडितजी के गुरु नरोत्तमदाम स्वामी थे। स्वामीजी के विचारों को ठीक मानते थे। कहना यह है कि शशिशेखरन् के विशेष आग्रह के कारण उन्होंने आक्षेपों का उत्तर देना स्वीकार किया। और वचनिका का सम्पादन शीर्षक पुस्तक उत्तर में एक प्रवाह में लिख दी। उसका प्रकाशन १९८८ ई. में हुआ। संस्कृत की खण्डन-मण्डन की परम्परा हिन्दी में जीवित नहीं है। उस परम्परा को हिन्दी में (डिंगल काव्य के सम्पादन में) पंडितजी ने जीवित रखा है। उनके गम्भीर किन्तु विनम्र तेवर को उक्त पुस्तक के आधार पर समझा जा सकता है।

यहाँ, यह भी लिख दूँ कि डिंगल के छंदों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे उच्चारण से परिचित थे और छंदों की मात्राओं को उन्हें पूरा बोध था। नागरी लिपि में उच्चारण के अनुसार चिह्न न होने के कारण उन्होंने राजकमल प्रकाशन द्वारा अपनी सम्पादित पुस्तक में विशेष विशेष चिह्न लगाए थे। और इसी प्रकार के चिह्न वे रतनरामो के पाठ के प्रकाशन में लगाना चाहते थे। उसके लिए प्रकाशक तैयार नहीं हुए। इसलिए उनका मूल पाठ छप नहीं सका। भूमिका मात्र छपी है। पुस्तक छप नहीं पाई। अब उसकी संभावना कम है।

इतिहास के प्रति पंडितजी के विचार देखिए —

“जहाँ तक हमारी समझ है, हम तो काव्य के ऐतिहासिक तन्व को कोई महत्त्व देते नहीं। उसे केवल अतिरिक्त उपयोग मानते हैं जो न हो तब भी चलेगा। इसमें सारे ऐतिहासिक तथ्य पूर्णतः परिशुद्ध होते पर कवित्व न होना तो हम वचनिका को छूते ही नहीं। पर इसके सभी तथ्य इतिहास विरुद्ध होते तब भी हम इसके काव्यत्व पर लड्डू होकर इसका रसास्वादन अवश्यक करते। हमारे विचार से पृथ्वीराजरासो आद्यन्त इतिहास विरुद्ध है पर फिर भी हम उसे अति सग्रहणीय और आस्वाद्य रचना मानते हैं। उसको विशालतम रूप में ही देखना चाहते हैं। इतिहास की कसौटी पर तो लघुतम सस्करण भी नहीं टिक पायेगा। पर इतिहास के पीछे क्या हम साहित्य को जला दे ?”

(— वचनिका का सम्पादन पृ ३९)

पंडितजी के तेवर को समझने के लिए उक्त पुस्तक पढ़नी चाहिए। पंडितजी शास्त्रार्थ करने में समर्थ है, ऐसा इस पुस्तक को पढ़कर लगेगा।

सेवा-निवृत्त होने के बाद पंडितजी शाहदरा में रहने लगे थे। उनका एक पुत्र चौदनी चौक पर फोटो-स्टुडिओ पर काम करता था। उस बार मैं एक सप्ताह उनके घर पर ही रह गया। सबैरे उनके साथ टहलने जाता था। जिस मेन रोड पर हम पहले पहुँचते, वह साठ फुट की रोड है। उसे साठ फुटा रोड कहते हैं। उस रोड से सीधे चले जाओ तो वह रोड बड़ी रोड से मिलती है। वह सौ फुटवाली रोड है। उसे सौ-फुटा रोड कहते हैं। वह रोड सीधी ही सीधी विजय पार्कवाली रोड से मिलती है। विजय पार्क में डॉ. आत्माराम शर्मा 'अरुण' रहते हैं। हम दोनों ही सबैरे टहलते-टहलते 'अरुण' जी के घर पर पहुँच गये। गली में घर था। उनसे पत्र-व्यवहार हुआ था। हम्मीर काव्यो पर उन्होंने कार्य किया है। उनके कार्य का उपयोग मैंने अपने लेखों में किया है। उनका निजी प्रकाशन है। घर में दूध देनेवाले जानवर हैं। उनकी सेवा करते हैं। महानगर में भी उनका घर ग्रामीण घर सदृश है। प्रेम से मिले। पंडितजी को भी जानते हैं। रीतिकाल की प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्पादन तथा प्रकाशन करते रहते हैं। काव्यशास्त्र के प्रेमी हैं। उनका एक लेख मैंने काव्यशास्त्र पर हो डॉ. विजयपालसिंह अभिनदन-

ग्रंथ में प्रकाशित किया है। उनसे उस दिन मिलना हुआ और वह भी पंडितजी के साथ में हुआ। इसी तरह एक दिन हम दोनों ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल के घर पर भी गये। उनका घर नवीन शाहदरा में पचशील गाड़न के निकट है। राजपाल एण्ड सन्ज से सेवानिवृत्त होने के बाद वे घर पर ही रहने लगे थे। विश्वनाथजी उन्हें छोड़ नहीं रहे थे। कुछ दिनों तक वे आधे दिन बैठते थे। बाद में वे घर पर रह गये। उनके समय ही राजपाल एण्ड सन्ज से परिचय हुआ। उनकी देखरेख में अभिनदन-ग्रंथ छपा। उनके पुत्रों की प्रेस है। प्रेम नीचे की फ्लोअर पर है। ऊपर उनका आवास है। अभिनदन-ग्रंथ की स्मरिका उनके प्रेस में ही छपी है। ग्रंथ दूसरी ओर से छपा। सारा श्रम उन्होंने ही किया। डॉ. नगेन्द्र ग्रंथ छप जाने के बाद राजपाल एण्ड सन्ज पहुँचे। मैं साथ में था। उसी दिन अभिनदन-ग्रंथ समारोह का कार्यक्रम था। मारी व्यवस्था राजपाल एण्ड सन्ज की ओर से थी। डॉ. नगेन्द्र ने गाड़ी में बैठे-बैठे ही कहा कि ऊपर जाकर ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल को नीचे बुलवाओ। मैं सीढ़ियों नहीं चढ़ता। वे आए। व्यवस्था से सम्बन्धित बात हुई और हम लोग चले गए। उनके कारण 'नामों का भाषा विज्ञान' मेरी पुस्तक राजपाल एण्ड सन्ज से प्रकाशित हुई।

ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल पं. काशीराम शर्मा से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रकाशक का काम छोड़ दिया था किन्तु उन्होंने जीवन भर वहीं काम किया। लेखकों से कवियों से प्रायः वे ही मिलते थे।

सबरे-शाम जब हम धूमने निकलते तो संस्कृत वाङ्मय पर अधिक चर्चा होती। कालिदास के रघुवंश पर उनके मुख से जो कुछ मैंने जाना और सुना, वह बाद में मुझे जानने नहीं मिला। वे केवल काव्य की वस्तु पर बतलाते और काव्यत्व का विवेचन करते। कालिदास पर मुग्ध थे। मैं तो मात्र श्रोता के रूप में सुनता रहता था।

१९८५ ई. में अशोक महेश्वरी ने मेरी पुस्तक 'अर्थानुशासन' प्रकाशित की। उस समय प्रकाशन का कार्य अशोक महेश्वरी ही करते थे। ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल ने उसे छापना स्वीकार किया था। अनुबन्ध भी हुआ। फिर न जाने क्यों? उसका प्रकाशन नहीं हुआ। तब मैंने पुस्तक अशोक को दी और उन्होंने छाप दी। उक्त पुस्तक से प्रेरणा प्राप्त कर एक बहाव में शाहदरा में पंडितजी ने 'अनर्थानुशासन' पुस्तक लिख दी। नवम्बर के मास में दिल्ली गया था। जाड़े के दिन थे। शाहदरा पहुँचा। पंडितजी खटिया पर रजाई ओढ़े लेटे हुए थे। 'अनर्थानुशासन' पुस्तक

के अश सुनाए । उमग मे आकर और सहज गति से लिखी हुई व्यंग्यपूर्ण पुस्तक थी । पुस्तक की अर्थमीमासा मे ही चोट है । कोशार्थ भिन्न होते हैं और व्यावहारिक अर्थ भिन्न होते है और इस अलगाव को स्पष्ट करने का प्रयास उक्त पुस्तक मे है । पुस्तक तो मैंने पढ़ी नही, मात्र पंडितजी के मुख से सुनी है । मैं चाहता था कि उक्त पुस्तक छप जाए । श्री अशोक महेश्वरी को उन्होंने दी भी है । वह अब तक छपी नही है । जैसे आचार्य किशोरीदास वाजपेयीजी अपनी पुस्तको मे अर्थ के अनर्थ हो जाने की चुटकियाँ लेते है । वैसे ही पंडितजी भी अपनी शैली मे चुटकियाँ लेते है । वैसे उनसे कोई बात करें तो शब्दों के अर्थ कितने बिगाडे गए है । इसे वे खूब समझते है और उन पर चुटकियाँ लेते हुए अर्थ मीमासा करते हैं । सस्कृत के पण्डितो का यह स्वभाव है । इस स्वभाव को समझने के लिए अनर्धानुशासन पुस्तक बहुत उपयोगी है । उक्त पुस्तक क्यों नही छपी ? मैं नहीं जानता ।

पंडितजी का ज्येष्ठ पुत्र बैंक में अधिकारी है । नाबार्ड की शाखाएँ जहाँ-जहाँ है, वहाँ वहाँ वह रहता है । पंडितजी अपने पुत्र के पास रहने के लिए पहुँचते रहते है । मुंबई में वे कान्डीवली में रहते थे । नाबार्ड के कार्टर वहाँ है । उसीमें रहते थे । मुंबई गया तो कँवर साहब के साथ नाबार्ड के कार्टर में पहुँचा था । भेट हो गई । बात हुई । पत्र-व्यवहार तो वैसे ही जारी था । उससे पूर्व जम्मू मे पुत्र रहता था । वहाँ गाधीनगर में रहता था । उनके लिए तब जम्मू गया था । पहली बार जम्मू गया था । लाल किले के पास से जम्मू को सीधी बस जाती है, उसी मे जालन्धर होते हुए जम्मू पहुँचा । तवी नदी के पुल मे बस गुजरी तो लोगों ने कहा — 'जम्मू' आ गया । मैंने देखा कि कुछ दूर जाकर बस खडी हो गई । मैं नीचे उतरा । देखा कि वातावरण बदला हुआ है । चारों ओर इश्तिहार लगे हुए है, वे सब उर्दू मे है । नामपट्ट भी उर्दू मे लिखे हुए मिले । मुझे बचपन याद आ गया । लगा निजाम स्टेट मे पहुँच गया । पूछते-पूछते पंडितजी के घर पर पहुँच गया । पंडितजी घर पर मिल गए । बहुत प्रसन्न हुए ।

मैं तीन-चार दिन जम्मू में रह गया । उन्ही के घर पर था । मैं घूमने-फिरने की दृष्टि से जम्मू नहीं गया था । मुझे तो पृथ्वीराजरासो के सम्पादित पाठ को शुद्ध करना था । ठीक से वाचन करना । छद भग हो गया तो उसे ठीक करना । जो पाठ पढा नहीं जा सका और जहाँ चिह्न लगाए रखे थे, वे सभी स्थल मूल पाठ मे पढकर उन्हे यथास्थान लिख लेना था । पाण्डुलिपि का वाचन

मैंने डा ब्रजमोहन जावलिया के पास बैठकर सीख लिया था । उदयपुर में सीखा था । पंडितजी काव्य-पाठ करते रहे और मैं सुनता रहा । छंदों से परिचित व्यक्ति पाठ पढ़ते समय, वाचन करते समय, छंद के प्रवाह में वाचन करता है । अक्षरदोष, मात्रादोष या किसी अक्षर के छूट जाने को, वह पहचान लेता है । उसमें पाठ भेदवाली बात कम रहती है । यों पंडितजी के वाचन के आधार पर मैं पाठ शुद्ध करता रहा । सबेरे शाम बैठकर जम्मू में यही काम किया । १९८६ ई. का सभ्यत जून मास था । जयन्त की लडकी छोटी थी । उसे लेकर पंडितजी घूमते-फिरते थे । जम्मू में उनके साथ वहाँ का बड़ा मन्दिर देख आया । सभी देवताओं की मूर्तियाँ वहाँ पर थी । कहते हैं — तैंतीस करोड़ देवता है, और उन सब की मूर्तियाँ वहाँ रखी हुई है । मन्दिर का द्वार भव्य है । प्रागण विशाल है । अहाता बहुत बड़ा है । चक्कर लगाकर आए । बाजार देखा । लौटते समय, दिल्ली का बस का आरक्षण कर लिया । दिल्ली से मेरा लौटने का आरक्षण दूसरी गाडी का था । इसलिए जम्मू से सीधे नहीं लौटा । जम्मू गया, उस समय मैं अकेले यात्रा करता था । जम्मू में मैं वैष्णोदेवी नहीं गया और न यूनिवर्सिटी जा सका । बाद में तो जाना हुआ ही नहीं ।

यो पृथ्वीराजरासो — के सम्पादन के साथ मेरा काम समाप्त हो गया था । लौटने के बाद भी सम्पादन का काम पुन अन्य प्रतियों से मिलान करके किया । वह सब क्या किया और कैसे किया, वह अब छप रहा है । तीन भाग हुए । काम मैंने पूरा कर दिया है ।

पंडितजी के साथ बैठकर काम करने में मुझे सकोच नहीं था । मित्र और अग्रज बन्धु की तरह मैं उनके घर पर रहा हूँ । उन्होंने झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन ग्रंथ का सम्पादन किया, उसके लिए मैंने लेख लिखा । श्री अग्रचंदजी नाहटा के अभिनंदन ग्रंथ के लिए मैंने लेख भेजा था, वह उसमें छपा नहीं था । बाद में वह लेख श्री झाबरमल्ल शर्मा अभिनंदन-ग्रंथ में छपा ।

सच तो यह है कि हिन्दी वीरकाव्यों के काम को समेटने लगा था किन्तु समेटा नहीं जा सका । अपूर्ण कामों को पूर्ण करने में भी काफी समय देना पड़ा है ।

पृथ्वीराजरासो — मानें या न मानें, वह हिन्दी का महाभारत है । उसके साथ जूझनेवाले रहे नहीं । उसके रूप बदलते रहे । उसका ठीक से सम्पादन करने के लिए पुणे के भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट की आवश्यकता है । महाभारत के सम्पादन

का काम उस सस्था में जैसा हुआ है, वैसा सम्पादन का काम मैंने अन्यत्र देखा ही नहीं है। मैं जब वहाँ देखने गया था तो सम्पादन का काम चल रहा था। कुछ भाग छप गए थे और शेष पर काम चल रहा था। महाभारत की देश भर में जो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध थी, वे सब वहाँ पर थी। ताडपत्रों पर पूरा महाभारत लिखा गया है, उसकी पाण्डुलिपि मैंने वहाँ देखी है। तमिल लिपि में लिखे गए महाभारत की पाण्डुलिपि भी वहाँ पर देखी है। उन सब पाण्डुलिपियों को पढ़कर उन्हें पढ़नेवाले विशेषज्ञ वहाँ पर नियुक्त थे। अपना-अपना पाठ पढ़ लेते और लिख देते थे। एक-एक श्लोक का इडेक्स कार्ड बना था। उसको क्रम देकर बक्सों में रखा जाता था। एक बड़े शीट पर एक ही छंद के क्रमशः एक के नीचे, दूसरा पाठ लिखा जाता था। दम-बारह पाठों में लिखा हुआ वह शीट, मुख्य सम्पादक के पास पहुँचता था। मुख्य सम्पादक बैठकर उन पाठों की तुलना करता। शुद्ध पाठ की संभावना पर विचार करता और निर्णय करने के उपरान्त अपनी ओर से ठीक पाठ लिखता। पाठ भेद को, जिसे उचित मानता, उसकी टिप्पणी नीचे फुट-नोट में देता था। कोई चाहे तो फुट-नोट की टिप्पणी को देखकर अपनी ओर से दूसरा पाठ ठीक मान सकता था। एक-एक श्लोक के पाठ सम्पादन के लिए जितना समय दिया गया और जितने विद्वानों ने बैठकर यह काम किया है, वैसा मैंने अन्यत्र नहीं देखा है। यह काम पीढ़ियों से चलनेवाला काम है। किसी एक व्यक्ति का काम नहीं है। महाभारत की तरह रामायण के सम्पादन की मुझे जानकारी नहीं है। जिस ढंग से महाभारत का सम्पादन हुआ है, उस ढंग से — पृथ्वीराजरामो की सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियों को एक स्थान पर एकत्रित कर सब की तुलना करने और पाठ-निर्धारण करने के लिए एक सस्था का यह काम अपने हाथ में लेकर करना होगा। यह एक व्यक्ति का काम नहीं है।

आरम्भ में जब जोधपुर गया था तो प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में धारणोजवाली मूल प्रति थी। मैंने अपना काम उसी समय कर लिया था। 'पृथ्वीराजरामो इतिहास और काव्य' पुस्तक में उस प्रति का परिचय मैंने दिया है। १९७४ ई. में पुस्तक छप भी गई। बाद में महाराजकुमार का आग्रह रहा कि उक्त प्रति को आधार मानकर उसका सम्पादन करो। पुनः प्रति देखने के लिए गया तो श्री नरोत्तमदास स्वामी प्रति लेकर चले गए थे। वे उसका सम्पादन कर रहे थे। उन्होंने कुछ काम भी किया। वह किसी पत्रिका में क्रमशः छाप रहे थे। बाद में काम पूरा नहीं हुआ। प्रति पुनः प्रतिष्ठान में नहीं थी। तीसरी बार पुनः जोधपुर गया

प्रति मिली नहीं। चौथी बार अपन काम से पुन गया। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की योजना के अन्तर्गत यूनिवर्सिटी में व्याख्यान देने गया। उस समय पचास पाठक वहाँ थे। प्रति मिल गई। बैठकर मैंने पूरी पाण्डुलिपि की जीराकम प्रति तैयार कर ली थी। उसी के आधार पर सम्पादन किया। महाराजकुमार के पत्रों ने मुझे काम करने के लिए बल दिया। उनकी उपस्थिति में मुझे यह मन्त्र काम करना पड़ा है। महाराजकुमार ने मुझसे जैसे काम करवाया, वैसा ही उन्होंने पंडित कागीरामजी शर्मा से भी काम करवाया। तीनों पुस्तकों का सम्पादन पंडितजी से (रतनरासो, क्वचनिका और रामचरित) करवाया है। उनका प्रकाशन भी हुआ है।

पृथ्वीराजरासो — का काम पूरा न हो तब भी आगे बढ़ा है, इसीका मुझे सतोष है। सम्पादित प्रति के तीनों भाग छप रहे हैं। यही ठीक है। एक शका मन में इस काव्य के सम्बन्ध में रही है —

किसी एक विद्वान् ने इस काव्य का कार्य पूर्ण क्यों नहीं किया? कही न कही कुछ छूट गया है। श्री नरेत्तमदास स्वामी ने आरम्भ किया — पूर्ण नहीं कर सके। बीच में छोड़ गए। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने यह काम किया, उसे वे मूल रूप में देख नहीं सके। डॉ. नामवरसिंह की प्रतिलिपि के आधार पर उन्होंने सम्पादन किया। डॉ. नामवरसिंह ने भी केवल कनकज मस्य का सम्पादन किया। उन्हें केवल भाषा पर काम करना था और वह काम किया। मध्यम संस्करण का सम्पादन पूरा नहीं हुआ। वह टॉड-कलेक्शन वाली प्रति थी। उसको लदन से मगवाने के लिए कहा। मैंने पत्र-व्यवहार किया। उस पत्र-व्यवहार को आधार बनाकर स्वयं महाराजकुमार ने फोटो कापी प्राप्त कर ली। वह प्रति महाराजकुमार के संग्रह में है। अंतिम दिनों में टॉड पर काम कर रहे थे। वह संभवतः पूर्ण नहीं हुआ। कितना हुआ? मैं नहीं जानता। और क्या मेरा काम पूर्ण हुआ है? जो है, सामने है।

दूसरी बात यह है कि महाभाग पढ़ते समय मुझे तिरुपति में एक आश्रम पंडित ने मुझे कह दिया था — 'महाभारत घर पर नहीं पढ़ना चाहिए। पढ़ना ही है तो मंदिर में बैठकर पढ़ो।' परिणाम यह हुआ कि चाहने पर भी महाभाग का पूरा सेट खरीदा नहीं। टुकड़ों-टुकड़ों में ग्रंथालय से लाकर पढ़ता रहा। मेरे पास आज केवल आदि पर्व है। पृथ्वीराजरासो पर काम करते समय मुझे दहतो ने निगश किया। यह तो महाराजकुमार थे जिनके कारण डी लिट्र का काम छोड़कर

मैंने काम किया, काम उन्होंने स्वयं नहीं किया किन्तु मुझसे काम करवा लिया। टाइपवाली पाण्डुलिपि पर कौन काम करेगा? पृथ्वीराजरासो के सयोगिता से सम्बन्धित अश को — स्वयंवरवाले अश को प्रथमतः प्रकाशित करनेवाला टाइप था। उसने लदन में रहकर यह काम किया और उसे छपवाया। उसके कलेक्शन में बहुत-सी पाण्डुलिपियाँ हैं, जिनका काम अभी बाकी है। वे सब लदन में ही हैं।

उदयपुर में बैठकर जब पाण्डुलिपियाँ देखता तो अकेले ही तपती दोपहरी में पोथियों को पढ़ता था। वहाँ का चपरासी मुझे काम करते देखकर कहता कि कब तक बैठोगे? इनमें क्या है? उसे घर जाने की जल्दी रहती। यो भी ऐसे किसी पोथीखाने में पहुँच जाओ तो वहाँ के लोगो का प्रोत्साहन नहीं मिलता। न जाने कितनी पाण्डुलिपियाँ हैं? हजारों की संख्या में हैं। लाल कपड़ों में लपेट-लपेट कर रखी हुई हैं। उन पर काम कर भी ले तो उन्हें छापेगा कौन?

मैं साहित्य संस्थान विद्यापीठ, उदयपुर आरम्भ में गया था, उस समय मोतीलालजी मेनारिया काम कर रहे थे। संस्कृत का एक विद्वान्, उनका सहायक था। शब्दों के कार्ड बनाए जाते थे। शब्द-कोष तैयार किया जा रहा था। वह कोष छपा या नहीं — मैं नहीं जानता?

मेरे गुरु डा. श्रीराम शर्मा (हैदराबाद) — ने भी पृथ्वीराजरासो पर काम किया। उन्होंने जो काम किया, वह अप्रकाशित है। उस पर उनकी दो पुस्तकें अलग-अलग हैं। वे मोहनलाल विष्णुलाल पट्टयाजी के समर्थक थे। उपलब्ध प्रकाशित प्रति पर (उदयपुरवाली पर) उन्होंने काम किया और पुस्तक लिखी। पृथ्वीराजरासो में उपलब्ध अरबी-फारसी शब्दों का कोष भी अलग से बनाया। उनका निधन हो गया। पाण्डुलिपियाँ (हस्तलिखित) पड़ी रही। डॉ. कुट्टनपिल्ले के पास में थी। डॉ. भीमसेनजी निर्मल के सहयोग से उन पाण्डुलिपियों की फोटो प्रतियाँ मैंने प्राप्त की हैं। उनका उपयोग मैंने सम्पादित पृथ्वीराजरासो के दूसरे भाग के आरम्भ में किया। डॉ. श्रीराम शर्मा तो काम अधूरा छोड़ गए। जो कुछ मुझे मिला, उसका उपयोग मैंने किया है।

वीरकाव्यों से भाषा विज्ञान की ओर मुड़ने में भी पृथ्वीराजरासो पर काम करते रहने के कारण मुझे बाधा पहुँची है। वीरकाव्यों पर काम मैंने उपाधि के लिए और महाराजकुमार के आग्रह और आशीर्वाद के कारण किया।

□ □

भाषा विज्ञान

भाषा विज्ञान से मेरा सम्बन्ध आरम्भ से रहा है। मैं आरम्भ में इटर्मीडिएट में विज्ञान का छात्र था। बाद में बी.ए. हिन्दी साहित्य का छात्र हुआ। एम.ए. में भाषा विज्ञान का एक प्रश्न-पत्र था। मैंने भाषा विज्ञान से एम.ए. नहीं किया। भाषा विज्ञान के कारण एम.ए. में मुझे प्रथम श्रेणी मिली। मुझे उसमें अन्य प्रश्न-पत्रों से अधिक अंक मिले — ७८% अंक मिले। बाद में मुझे भाषा विज्ञान विषय पढ़ाने के लिए मिला। मराठवाडा विश्वविद्यालय में तो मैं एम.ए. में मात्र भाषा विज्ञान पढ़ाता रहा हूँ। और सच्चाई यह है कि भाषा विज्ञान के पाठ्यक्रम में (एम.ए. के अनिवार्य भाषा विज्ञान के प्रश्न-पत्र में) मात्र ऐतिहासिक भाषा विज्ञान पढ़ाया जाता है। इस विषय में भारत के स्वतंत्र होने के बाद के वर्षों में जो भी काम हुआ है, उसे पाठ्यक्रम में जगह नहीं मिली है। आज भी हम डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और उनके विचारों के समर्थन में लिखी पुस्तकों को पढ़ाते हैं। ऐतिहासिक भाषा विज्ञान में भाषाओं के इतिहास की पूर्णतः उपेक्षा की गई है। विदेशी विद्वानों ने भाषाओं का जो इतिहास लिखा, उसी को ठीक मानकर, इतिहास पढ़ाया जाता है। इस स्थिति में परिवर्तन की आवश्यकता है।

हिन्दी वीरकाव्यों पर काम करते समय भी भाषाओं पर मेरा ध्यान रहा है। शब्द-चिन्तन में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं पर विचार करने लगा। वस्तुतः भाषा विज्ञान की दृष्टि से शब्दों के अर्थ की मीमांसा करने लगा था। कुछ लेख लिखे। वे छपे भी हैं। इससे आत्मविश्वास बढ़ा। अर्थ-मीमांसा में दर्शन की सहायता ली। डॉ. बारलिंगे के साहचर्य के कारण अर्थ-मीमांसा करने लगा था। इस दृष्टि से पहली पुस्तक लिखी — 'भाषा-अर्थ और संवेदना'। इसका प्रकाशन १९७७ ई. में हुआ। इसी कार्य को आगे बढ़ाते हुए मैंने व्यक्तिवाचक संज्ञा पर एक परियोजना बनाई। नगरों के स्थान नामों पर चिन्तन करने लगा था। इसलिए व्यक्तिवाचक संज्ञा — के अंतर्गत स्थान नामों पर ध्यान रखते हुए तीन महानगरों के स्थान नामों पर काम करना आरम्भ किया। दिल्ली, वाराणसी और औरंगाबाद नगरों के स्थान नामों पर परियोजना बनाई और यू.जी.सी. को भेजी। परियोजना स्वीकृत हुई।

इन्हीं दिनों में दो-तीन बार दिल्ली गया। वाराणसी भी जाकर आया। नगरों के स्थान नामों की सूचियाँ बनाई। नामकरण पर विचार किया। नामकरणों की भाषा पहचानने का प्रयत्न किया।

पहले मैं इतिहास के विद्वानों को मिलता था। अब भाषा विज्ञान के विद्वानों से मिलने लगा। दिल्ली में डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव थे। उनका बड़ा नाम था। पं. काशीरामजी शर्मा उन्हें पहचानते थे। उनको साथ लेकर माडल टाउन में उनके आवास पर गया। उस समय वे दिल्ली विश्वविद्यालय में नहीं थे — केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा की दिल्ली शाखा में काम करते थे। पं. काशीरामजी शर्मा के साथ मैं केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की दिल्ली शाखा में भी गया। १९७६ ई. में जयपुर में, आपातकाल में शिविर हुआ था। उसमें हिन्दी के अनेक विद्वानों से परिचय हुआ था। उनमें डॉ. कर्णसिंह चौहान भी थे। उनके घर पर गया था। माडल टाउन के निकट की कालोनी में रहते थे। उस समय डॉ. भोलानाथ तिवारी से मिलने उनके घर पर भी गया था। तिवारीजी का ग्रंथालय देखा। उनके पास शब्दकोशों का विशाल संग्रह था। एक कक्ष में मात्र भाषा विज्ञान की पुस्तकें थीं। यों किसी विषय पर योजना बनाकर वे काम करते ही रहते थे। भाषा विज्ञान के विद्वानों का ध्यान — 'हिन्दी भाषा के इतिहास' पर नहीं था। भारत की प्राचीन भाषाओं का कोई विद्वान मुझे दिल्ली में नहीं मिला। यदि कोई था तो स्वयं पं. काशीराम शर्मा का नाम मेरे सामने था। और उनके घर पर तो मैं ठहरता था। उनके पास रहकर उनको पहचानने में मुझे समय लगा। जैसे-जैसे अन्य विद्वानों से सम्पर्क कर विचार करने लगा तो अनुभव कहने लगा कि पंडितजी ही ठीक है। उनकी विद्वत्ता को पहचानना नहीं गया है। उन्होंने आधुनिक ढंग की पुस्तकें लिखीं नहीं हैं। लिखीं भी हैं तो उनको प्रकाशक नहीं मिला। उमंग में आकर द्रविड परिवार की भाषा हिन्दी पुस्तक लिखी और स्वयं प्रकाशित कर उसे विद्वानों में वितरित की। भाषा परिवारों की पहचान पर आधुनिक पद्धति की पुस्तक है। उस पुस्तक पर दिल्ली के विद्वानों का ध्यान नहीं गया। उक्त पुस्तक का प्रकाशन १९६८ ई. में हुआ था। पंडितजी से सम्पर्क होने के बाद १९७० ई. में उन्होंने पुस्तक भेजी थी। पुस्तक मुझे पसन्द आई। मैंने कुछ नाम पंडितजी को भेजे। पंडितजी ने उन नामों के पते पर पुस्तक की प्रतियाँ भिजवाईं। बाह, बाह करनेवाले ग्राहक तो हो गए किन्तु उसकी चर्चा मीमित लोगों में ही रही। १९८० ई. तक तो मेरा ध्यान हिन्दी वीरकाव्यों पर था। महाराजकुमार के कार्य को अग्रक्रम में रखकर काम करता था। भाषा विज्ञान का काम अग्रक्रम में नहीं था।

साहचर्य के कारण मैंने जाना कि पंडितजी भारतीय पद्धति से भाषा विज्ञान विषय को परखते हैं। सस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् है। पाणिनि का अध्ययन होने के कारण वे हिन्दी व्याकरण से सतुष्ट नहीं हैं। कारण यह है कि हिन्दी व्याकरण (कामता प्रसाद गुरु) को वे हिन्दी ग्रामर कहते हैं। हिन्दी के व्याकरणों की पुस्तकों को वे हिन्दी ग्रामर की पुस्तकें कहते हैं। हिन्दी भाषा का हिन्दी व्याकरण पर उनका ध्यान नहीं था। सेवानिवृत्त होने के बाद (१९७२ ई के बाद में) डॉ. रामविलास शर्मा ने भाषा विज्ञान की ओर ध्यान दिया। उस समय उन्होंने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के कार्य की सराहना की। राहुल साकृत्यायन भी आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के कार्य की सराहना की है। उनके कार्य को महत्त्वपूर्ण मान लिए जाने पर भी भाषा विज्ञान के विद्वानों का ध्यान उनकी ओर नहीं गया।

बाद में मैंने अपना ध्यान ऐतिहासिक भाषा विज्ञान पर केन्द्रित किया। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के विद्वान् थे और उन्हें इस रूप में मान्यता मिल चुकी है। ऐसी मान्यता हिन्दी में किसी विद्वान् को नहीं मिली। चाटुर्ज्या का अनुकरण करनेवाला नाम हिन्दी में डॉ. धीरन्द्र वर्मा का है। उनके बाद, वही नाम अब तक चल रहा है।

विदेशी विद्वानों ने भारतीय भाषाओं पर खूब काम किया है। भारतीय भाषाओं के विद्वानों में अनेक नाम हैं। हिन्दी ही नहीं, सिंधी, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओं के स्वतंत्र विद्वान् विदेशियों में मिल जायेंगे। उन लोगों ने आरम्भ में जो कार्य किया, वह साग कार्य ऐतिहासिक भाषा विज्ञान का कार्य है। उनके कार्यों का मूल्यांकन अब तक ठीक-ठीक नहीं हुआ है। उन्होंने जो कुछ लिखा है, उनमें ऐतिहासिक दोष हैं। ऐतिहासिक दोषों को पहचानने के प्रयत्न भारतीय विद्वानों ने किया है। उनमें प. काशीराम शर्मा, डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी आदि हैं। इनमें सब से अधिक मेरा सम्पर्क पंडित काशीरामजी शर्मा से रहा है। उन्होंने मेरे कार्य की दिशा क्रमशः मोड़ दी। हिन्दी वीरकान्तों पर काम करना मैंने बन्द कर दिया और पूरी तरह से भाषा विज्ञान की ओर उसमें भी ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की ओर मुड़ गया।

जैसे मैं पहले महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह की ओर नियमित चला जाता था। केवल उनसे मिलने और चर्चा करने के लिए जाता था, वैसे ही उनके बाद मैं प. काशीरामजी शर्मा के पास जाने लगा। पास में रहने, साहचर्य में समय

गुजारने, चर्चा करने के अपने लाभ है और वे लाभ मुझे मिले है । उनके आवास पर मैं पारिवारिक सदस्य की तरह रहा हूँ । उनसे बात करने में मुझे सकोच नहीं रहा । अपनी बात मैं, उन्हें खुलकर कहता रहा हूँ । सबेरे शाम उनके साथ टहलने जाता था ।

प काशीरामजी शर्मा, डॉ. हरबंशलाल शर्मा के मित्र रहे हैं । डॉ. हरबंशलाल शर्मा मेरे गुरु के गुरु रहे हैं । वे डॉ. विजयपालसिंह के गुरु सदृश हैं । डॉ. विजयपालसिंह के मूल गुरु तो प जगन्नाथ तिवारी थे । किन्तु उन्होंने कार्य डॉ. हरबंशलाल शर्मा के निर्देशन में किया और निरूपति आने से पहले उनके साथ मैं अलीगढ़ में था । डॉ. हरबंशलाल शर्मा अलीगढ़ से सेवा मुक्त होने के बाद केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक हो गए । उस समय, वे मोतीबाग में पंडितजी के पड़ोस में थे । पंडितजी का सम्बन्ध उनके साथ पारिवारिक स्तर पर था । डॉ. हरबंशलाल शर्मा के परिवार के सदस्यों को वे जानते थे । उनकी बेटी और दामाद उनके घर पर आते थे । डॉ. हरबंशलाल शर्मा भी स्वयं उनके घर पर पहुँचते थे । यों डॉ. हरबंशलाल शर्मा भी स्वयं पुरानी परम्परा के विद्वान् थे । संस्कृत भाषा के विद्वान् थे । उनके कंठ में विद्या थी । इसलिए दोनों का मेल मुझे स्वाभाविक लगा । डॉ. हरबंशलाल शर्मा का नाम तो मैंने बहुत सुना किन्तु उनको निकट से जानने का अवसर पंडितजी के साहचर्य के कारण मिला ।

सबेरे-सबेरे एक दिन पं. काशीरामजी शर्मा मुझे डॉ. हरबंशलाल शर्मा के घर ले गए । सबेरे टहलने का समय था । मुख्य सड़क को लाघ जाओ तो सामने ही उनका घर था । डॉ. हरबंशलाल शर्मा, वे भी बाहर आए । हम लोग मोतीबाग से चाणक्यपुरी की ओर मुड़ गए । पुल पार करते समय मैंने देखा कि रेलवे का कोई स्वतंत्र विभाग है जिसमें प्रदर्शनी का दृश्य है । दूर से ही देखा । पुल पार करने के बाद चाणक्यपुरी है । विदेशी दूतावासों के बंगले बने हुए हैं । आगे जाने पर सड़क की एक ओर गार्डन है । पंडितजी प्रायः उस गार्डन में पहुँचते थे और घूम फिर कर लौट जाते थे । उस दिन तो पंडितजी, डॉ. हरबंशलाल शर्मा के साथ बातें करते रहे । मैं मात्र श्रोता था । जो पूछा जाता, उतना ही उत्तर देता था । दोनों की बातचीत में मुझे उनके आपस के आत्मीय बोध का परिचय मिला । हँसना-बोलना, समान स्तर पर था । बाद में जब डॉ. शंभुसिंह मनोहर द्वारा सम्पादित वचनिका सम्पादित हुई तो उसकी प्रतिक्रिया में 'वचनिका का सम्पादन' पुस्तक लिखी । उसका प्रकाशन १९८८ ई. में हुआ । उस पुस्तक

‘श्रद्धा-स्मरण’ का पृष्ठ पंडितजी ने डॉ. हरबशलाल शर्मा को दिया है। उक्त ‘श्रद्धा-स्मरण’ की पक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ—

“मैं मूल पुस्तक में लिख चुका हूँ कि मैंने इस पुस्तिका की रचना अपनी स्मृति के सहारे की है। मेरा अध्ययन-क्रम १९५० ई. में समाप्त हो गया था। विगत चार दशक या तो सरकारी सेवा में बीते या सेवा निवृत्ति में फिर भी जो कुछ स्मृति में बना रह सका, उसका बहुत कुछ श्रेय मेरे एक स्वर्गीय अग्रज तुल्य स्नेही को है। उनका नाम है परम श्रद्धेय डॉ. हरबशलाल शर्मा। सन १९७८ से १९८२ की अवधि में वे मेरे प्रतिवेशी थे, अति स्नेही मित्र भी। उनका अग्रज तुल्य वरदहस्त मेरे सिर पर रहा। उनके साथ मेरा प्रचुर समय शास्त्रचर्चा में ही बीतता था। उनकी स्मृति तो मुझसे कहीं अधिक थी क्योंकि उनको चार दशक तक अध्यापन का अवसर भी मिला था।

अस्तु, मुझे तुलना नहीं करनी, केवल यह कहना है, उनके साथ पूरे पाँच वर्ष तक लगभग प्रति दिन प्रातः सायं हुई चर्चाएँ मुझे विस्मृत प्रायः को पुनः स्मृत कराने में सहायक हुईं। वे वस्तुतः विद्या महोदधि की अतल गंभीरता में अवगाहन करनेवाले महातिमि थे, जिनके श्रृंग में मनु के पोत को बाधे रख सकने की क्षमता थी।

डॉ. हरबशलाल शर्मा हिन्दी निदेशालय के विभागाध्यक्ष और वैज्ञानिक शब्दावली आयोग के अध्यक्ष थे। तदनन्तर वे झाँसी विश्वविद्यालय के कुलपति बनकर चले गये। वहाँ रहते हुए भी मुझ पर पूर्ववत् कृपालु रहे। मैं जब तक दिल्ली रहा, तब तक दिल्ली पधारते तो मेरे यहाँ रुकते। वे ही शास्त्र चर्चाएँ होती। मेरा विस्मृत होता काव्य और शास्त्र का ज्ञान पुनः स्मृतिपथ पर आता रहता।”

पंडितजी ने ये पक्तियाँ संवत् २०४५ (१९८८ ई.) में लिखीं। उस समय डॉ. हरबशलाल शर्मा को दिवंगत हुए दो मास हुए थे।

इन पक्तियों को उद्धृत करने का एक कारण यह है कि पंडितजी काव्य और शास्त्र की चर्चा में अभिरुचि रखते थे। उनकी विद्या उनके कंठ में थी और

यही स्थिति डा. हरबशलाल शर्मा की भी थी। डॉ. हरबशलाल शर्मा तो बहुत काम कर सकते थे। उनको वे लोग ही जान सके हैं, जो उनके साहचर्य में रहे हैं। 'वचनिका का सम्पादन' पुस्तक काव्य और शास्त्र की चर्चा से युक्त पुस्तक और इसीलिए उक्त पुस्तक उन्होंने डॉ. हरबशलाल शर्मा को समर्पित की है।

यों पंडितजी के साहचर्य में रहने के कारण, मेरे व्यक्तिगत अनुभवों में वृद्धि हुई। डॉ. नगेन्द्र के साथ भी पंडितजी की शास्त्रचर्चा होती थी। विशेष रूप से पाणिनीय शब्दावली के निर्माण में जो बैठके होती, उनमें डॉ. नगेन्द्र के साथ पंडितजी भी रहते थे। शब्दों की अर्थ-मीमांसा में जो चर्चा होती, उसके कुछ प्रसंग उन्होंने बतलाए हैं। वे सब अब याद नहीं है।

पंडितजी के पास अपना निजी पुस्तकालय नहीं है। ग्रंथालयों का उपयोग करते हैं। पढ़ी हुई पुस्तकें लौटा देते हैं। पुस्तकालय के अभाव में लिखना कठिन होता है। मैं चाहता था कि पंडितजी का ज्ञान लेखनीबद्ध होना चाहिए। बार-बार कहता रहा कि द्रविड परिवार की भाषा हिन्दी का नया संस्करण छपवाएँ। किन्तु उन्होंने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। उनसे हिन्दी व्याकरण लिखवाने की इच्छा हुई। एक तो पुस्तक चाहिए और दूसरी बात प्रकाशक चाहिए। दोनों स्थितियाँ ठीक होने पर ही पंडितजी लिख सकते हैं। मैंने ऐसा प्रयास करना आरम्भ कर दिया।

□ □

श्री विद्यासागर विद्यालंकार

पं. काशीराम शर्मा के नाम के माथ श्री विद्यासागरजी विद्यालंकार का नाम जुड़ा हुआ है। कारण यह है कि दिल्ली में हम दोनों के लेखन कार्य को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हींको है। मैं १९३२ ई. से 'प्रकर' के साथ जुड़ा हूँ और अन्त तक १९९८ ई. तक उनसे सम्पर्क बना रहा है। यदि मैं कहूँ कि 'प्रकर' ने मुझे लेखक बनाया तो अत्युक्ति नहीं होगी। 'प्रकर' 'मासिक' पत्र था। मुख्य रूप से विद्यासागरजी आकाशवाणी में काम करते थे। आकाशवाणी से सेवा निवृत्त होने के बाद मैं तो उन्होंने पूरा समय 'प्रकर' को दिया। वे स्वयं सम्पादक, प्रकाशक और मंत्र कुष्ठ थे। उनमें सम्पर्क के दो कारण हैं—प्रकाशक होने के नाते से और दूसरा लेखक-समीक्षक होने के नाते से। १९७९ से १९७९ ई. तक मैं स्वयं प्रकाशक हो गया था। 'निर्मिता प्रकाशन' के नाम से पुस्तकें औरगाबाद में छापता था। उनके विक्रय में विद्यासागरजी ने मेरी सहायता की है। इसी तरह

समीक्षा-लेखन में वे सदैव मुझे पुस्तकें देते रहे हैं। बाद में उन्होंने आलेख भी छापे। बाद में तो मेरी पुस्तकें धारावाहिक रूप में 'प्रकर' में छापने लगे। भारत की भाषाएँ पुस्तक तथा ऐतिहासिक भाषा विज्ञान दोनों ही पुस्तकें धारावाहिक रूप में 'प्रकर' में पहले छपीं। ये दोनों ही पुस्तकें उनके कारण लिखी गईं। यही नहीं भारत की भाषाएँ पुस्तक में पं. काशीरामजी शर्मा की दीर्घ भूमिका भी धारावाहिक रूप में प्रकर में छपीं। मैने डॉ. एस. टी. नरसिंहाचारी के 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' से सम्बन्धित आलेख भी उन्हें भेजे। वे भी धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुए। बाद में पं. काशीराम शर्मा ने 'हिन्दी व्याकरण मीमांसा' से सम्बन्धित लेख लिखे। वे भी धारावाहिक रूप में 'प्रकर' में प्रकाशित हुए हैं।

हैदराबाद रियासत के सत्याग्रह आन्दोलन के समय विद्यासागरजी निजामाबाद जेल में थे। बाद में लाहौर और मुलतान के जेल में भी रहे। कारण यह है कि दैनिक हिंदुस्तान के सम्पादक भाई सत्यदेव विद्यालकार ने विद्यासागरजी को सदेश लेकर भेजा। पं. लेखराम गिरफ्तार हो चुके थे। जब उनका पता पूछते-पूछते विद्यासागरजी वहाँ पहुँचे तो पुलिस ने उन्हें भी वही पकड़ लिया। पहले उन्हें लाहौर के किले में और उसके बाद मुलतान जेल में रखा गया। उन्हें जेल की यातनाएँ सहनी पड़ी हैं। यह १९४४ ई. की बात है। निजामाबाद, लाहौर तथा मुलतान जेल में रहने पर भी विद्यासागरजी को स्वतंत्रता सेनानी मानने में काफी विलम्ब हुआ। कहते हैं १९४२ ई. में भी कागावास में रहे हैं किन्तु उनके पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं है। इन्दिरा गांधी ने बहुत बाद में हैदराबाद के सत्याग्रह सग्राम को जब स्वतंत्रता युद्ध माना, तब विद्यासागरजी को स्वतंत्रता सेनानी माना गया और नियमानुसार पेशान भी मिली।

जो लोग विद्यासागरजी को 'प्रकर' के सम्पादक के रूप में जानते हैं, वे उन्हें स्वतंत्रता सेनानी के रूप में नहीं जानते। प्रकर का प्रथम अंक जनवरी १९६९ ई. का है और अन्तिम अंक जुलाई १९९५ ई. का है। अन्तिम अंक में आवश्यक सूचना पृ. ४ पर लिखी है—

“हमें हार्दिक खेद है कि इस अंक के साथ 'प्रकर' का प्रकाशन बंद हो रहा है। गत २६ वर्षों मात मास तक इसका निरन्तर प्रकाशन होता रहा है, इस अवधि में 'प्रकर' के लिए व्यय की गई सम्पूर्ण पूंजी उसीको समर्पित है।”

— संचालक-सम्पादक-व्यवस्थापक

विद्यासागर विद्यालंकार पत्रकार रहे है। आकाशवाणी में पहुँचने से पहले वीर अर्जुन तथा दैनिक हिंदुस्तान में काम करते रहे है। पत्रकारिता का उन्हें अनुभव है। आकाशवाणी में भी समाचार कक्ष में ही वे काम करते रहे हैं। आकाशवाणी में काम करते समय में उन्होंने 'प्रकर' का आरंभ कर दिया था। 'प्रकर' मासिक पत्र था। और अन्तिम अंक तक मासिक बना रहा। आकाशवाणी से सेवानिवृत्त होने के बाद तो उनका मुख्य कार्य प्रकर का सम्पादन हो गया। वे संचालक, सम्पादक और व्यवस्थापक सभी थे। अकेले ही सब कार्य करते थे। उनका घर प्रकर का कार्यालय था। पता है—ए-८/४२, राणाप्रताप बाग, दिल्ली-११०००७।

राणाप्रताप बाग का निवासस्थान उनका निजी है। उसमें वे और उनके परिवार से सम्बद्ध बहन आदि अलग-अलग रहते है। उनके दो विवाह हुए हैं। पहली पत्नी से विद्यासागरजी को एक पुत्र और पुत्री है। पुत्र तो दिल्ली में किसी बैंक में काम करता है और पुत्री कैंनेडा में रहती है। दूसरे विवाह से भी उन्हें एक पुत्र है। वह अब रोहिणी में रहता है। उसका अपना निजी निवास है। विवाह होने के बाद स्थान की कमी के कारण रोहिणी चला गया। आते-जाते रहता था। दूसरा पुत्र चांदनी-चौक में पहले फोटोग्राफर की दुकान पर काम करता था। संभवत अब भी वह वही काम निजी रूप में रोहिणी में करता हो। मेरी भेंट दूसरी पत्नी से श्रीमती प्रकाशवतीजी से हुई है। वह भी विद्यासागरजी के अन्तिम वर्षों में। वह भी किसी स्कूल में अध्यापिका रही है। अब सेवानिवृत्त है। आरंभ में जब विद्यासागरजी से मिलने जाता तो घर पर अकेले ही मिलते। क्योंकि मैं जब तक घर पर पहुँचता, सब लोग काम पर चले जाते। उस समय अकेले बैठे-बैठे प्रकर का काम करते रहते थे। कमरे में चारों ओर पुस्तकों का ढेर, प्रकर का ढेर दिखलाई देता। स्वयं बैठकर प्रकर का डिस्पैच करते। ग्राहकों के पते स्वयं लिखते। पोस्टल स्टैम्प लगवाते और डाकखाने जाते। सब काम स्वयं करते। पत्र पढ़ते। लेखकों और प्रकाशकों को पत्र लिखते। प्रूफ्स देखते। अगले अंक की तैयारी करते। यही सब करते-करते आनेवालों का स्वागत करते। खुद ही उठकर पीने के लिए पानी ले आते। दूध की गिलास लेकर आते। साथ में और कुछ आता। उनके पास से अतिथि कुछ-न-कुछ खा-पीकर ही लौटता। पुस्तकों का ढेर सामने करते और कहते, इनमें से अपनी पसंद की पुस्तक चुन लो। समीक्षाएँ समय से भेज दे। कुछ पते पूछते। पते लिख लेते। सामायिक चर्चा करते। बातें होती। सब कुछ हँसते-हँसते होता। उनसे मिलना सुखद होता।

विद्यासागर विद्यालंकार की अभिरुचि व्याकरण और भाषा विज्ञान में तथा भारतीय भाषाओं के इतिहास में रही है। इस सम्बन्ध में जो नवीनतम पुस्तकें होती, उनको वे बराबर देखते रहते थे। डॉ. रामविलास शर्मा की भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी पुस्तक के तीन भाग क्रमशः १९७९, १९८० और १९८१ ई. में राजकमल प्रकाशन दिल्ली में प्रकाशित हुए। ये तीनों भाग प्रकर को समीक्षार्थ मिलते नहीं। मैंने तीनों भाग यथासमय खरीद लिए थे। विद्यासागर विद्यालंकार उन तीनों भागों की समीक्षा प्रकर में छापना चाहते थे। पहले उनका ध्यान प. काशीराम शर्मा की ओर गया। अगस्त ९२ के पत्र में विद्यासागरजी ने मुझे लिखा —

“के के विडला फाउण्डेशन ने डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक ‘भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी’ को डेढ़ लाख की राशि से पुस्तकृत किया है। मैंने श्री पं. काशीरामजी को पत्र लिखकर पूछा है कि क्या वे इस पुस्तक पर समीक्षात्मक लेख लिख सकते हैं? उत्तर की प्रतीक्षा है।”

बाद में पंडित काशीराम शर्मा ने मुझे लिखा कि तीनों भाग उनके पास नहीं हैं। मैंने समीक्षा लिखने हेतु तीनों भाग उन्हें भेज दिए थे। कुछ महीने बाद पुस्तकें वापिस आ गईं। उन्होंने पुस्तकें देखने के बाद समीक्षा लिखना ठीक नहीं माना। बाद में फिर उन्होंने पुस्तकों पर समीक्षात्मक लेख लिखने कहा। मैंने पुनः पुस्तकें पढ़ीं और छोटी लेखमाला लिखीं। वह लेखमाला क्रमशः प्रकर के मार्च १९९४ से फरवरी १९९५ ई. तक के अंकों में कुछ अन्तरालों के साथ क्रमशः प्रकाशित हुईं। बाद में यह लेखमाला पुस्तक रूप में ऐतिहासिक भाषा विज्ञान (डॉ. रामविलास शर्मा का भाषा-चिंतन) नाम से दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय से १९९८ ई. में प्रकाशित हुईं।

विद्यासागरजी दक्षिण भारत की यात्रा करना चाहते थे। उन्होंने २-४-९१ ई. के पत्र में लिखा —

“वस्तुतः इन दिनों मैंने प्रकर के ७१ ई. में प्रकाशित ‘अहिन्दी भाषियों का हिन्दी साहित्य’ विशेषांक को नई सामग्री के साथ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इसी प्रसंग में हैदराबाद गया था। वहाँ उस्मानिया वि. वि. के डॉ. चक्रवर्ती से पता चला कि डॉ.

भीमसेन निर्मल ने लेखमाला के सम्बन्ध में आपको लिखा है । डॉ. चक्रवर्ती का यह भी कहना था कि उनके वि. वि. के भाषा विज्ञान के प्राध्यापक लेखों से असहमत है । वैसे तो यह सहज स्वाभाविक है, जो ख्याल वर्षों के प्रयत्न से उनके मन-मस्तिष्क को ढंके हुए है, उससे मुक्ति पाना उनके लिए सहज नहीं है । स्वयं वे शोधकार्य में रुचि नहीं लेते । फिर भी इस स्थिति का सामना तो करना ही होगा ।

कार्यक्रम बना रहा हूँ, पूरे दक्षिण की यात्रा का । यह यात्रा खण्ड-खण्ड में होगी क्योंकि प्रकर का कार्य भी जारी रखना है ।”

इसी तरह १२ नवम्बर १९ के पत्र में लिखने और कार्य करने के लिए लिखा —

“काल्डवेल को आप अवश्य पढ़ें । उसका यदि समीक्षात्मक अध्ययन और उसकी प्रचारित मान्यताओं का पुनरीक्षण हो सके तो अच्छा है । बल्कि इस दृष्टि से काल्डवेल और ग्रियर्सन दोनों का सम्मिलित समीक्षात्मक अध्ययन संभव हो तो वह होना चाहिए ।”

प्रकर १९९४ ई. में ही बद हो गया था । और उसके बद हो जगरजी को बहुत दुख हुआ है । एक प्रकार से प्रकर के बल पर थे । ५ दिसम्बर १९९४ के पत्र में उन्होंने अपनी मानसिक स्थिति क्या है । लिखते हैं —

प्रिय भाई,

आप यहाँ पधारे, परंतु आपसे सुविधापूर्वक बातचीत नहीं हो पाई, क्योंकि गाड़ी पकड़ने की जल्दी थी । फिर भी दो-चार चर्चाएँ तो हो ही गईं । तीन दिन बाद लौट आया था । पारिवारिक कार्य होते हैं, तो निपटाने ही होते हैं ।

प्रकर के बद होने का सबसे अधिक तो मुझे ही दुख हुआ है । वस्तुतः कुछ दिन तक क्षोभ इतना रहा कि कोई काम नहीं कर सका । स्थानीय मित्रों को भी कम दुख नहीं हुआ । डॉ. रमेशचंद्र मिश्र और डॉ. रामनाथ त्रिपाठी ने इन दिनों बहुत उत्साहवर्धक और प्रेरणादायक विचार प्रकट किया और प्रकर निरन्तर प्रकाशित करने

और सहायता देने का आश्वासन दिया । उनसे बातचीत का सार यह था कि सभी मित्रों से न्यूनतम १०००.०० रु मागा जाए और उसकी स्थायी निधि बनाकर बैंक अथवा यूनिट ट्रस्ट में जमाकर उसका व्याज प्राप्त किया जाए और उसे प्रकर के लिए व्यय किया जाए । मुझे पता नहीं कितने बंधु इसके लिए तैयार होंगे, परंतु उनका आग्रह पत्रिका जारी करने का है । शका इसलिए है क्योंकि आरंभ से ही मित्रों से यह इच्छा प्रकट कर रहा हूँ और प्रकर में भी ऐसी सूचनाएँ अनेक बार प्रकाशित हुई हैं । फिर भी इतनी राशि प्राप्त नहीं हुई कि उसे निधि रूप में जमा कराया जा सके । अब जो अनुरोध है, उन्हें ध्यान में रखकर एक बार पुनः यह कार्य करने की तैयारी कर रहा हूँ, यदि निधि की योजना चल सकी तो प्रकर का प्रकाशन दीर्घजीवी हो सकेगा । यदि प्रारंभ में कुछ कामचलाऊ राशि प्राप्त हो गई तो शीघ्र ही पुनः प्रकाशन शुरू हो जाएगा । इन दिनों मुख्य रूप से विचार-विमर्श और चर्चाएँ चल रही हैं । परिपत्र दो-एक बार लिखे हैं, सशोधन किए हैं, पुनः पुनः देखकर जोड़ा-घटाया है । यहाँ मित्रों से चर्चा कर अन्तिम रूप देकर उसे भेजने का कार्य शुरू हो जाएगा ।

वह कार्य शुरू हो जाने पर सम्पादन कार्य में रूचि लेनेवाले मित्रों का मडल बनाने का विचार है ।

अपने संस्मरण अवश्य लिखूँगा, व्यक्तिगत की अपेक्षा सार्वजनिक दृष्टि के । संभवतः शीघ्र प्रारंभ कर सकूँगा ।

यह इच्छा है कि आपकी जो लेखमाला अधूरी रह गई है, उसका शेष अंश भी आगे के अकों में प्रकाशित हो जाए । इसलिए यदि उसे रोक सकें तो कुछ दिन के लिए रोक ले । दृढतापूर्वक कार्य करने के सम्बन्ध में अवश्य आपको जानकारी दूँगा । थोड़ा समय चाहूँगा क्योंकि इस समय पुनःप्रकाशन को सुलझाने में लगा हूँ । योग्य सेवा ।

आपका

वि. सा. विद्यालंकार

८ जनवरी के पत्र में लिखा —

“अन्ततः कल सामग्री प्रेस में भेज दी (नये अंक की) दैनिक कार्यक्रम बीच में बदला था, पर अब प्रकर के कार्य के कारण पूर्व कार्यक्रम चालू हो गया है। अब क्योंकि श्रीमतीजी को थोड़ी सुविधा हागी, इसलिए वे प्रकर के सम्पादकीय कार्य में इतर कार्य में हाथ बटायेगी। सम्पादकीय कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्तियों से सहायता सुलभ हो गई तो प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। वैसे जनवरी की सामग्री पूर्व क्रम के अनुसार भेजनी शुरू कर दी है। सहायता सुलभ होने पर पर्याप्त परिवर्तनों की आशा की जा सकती है।

मेरा दैनिक कार्यक्रम ऐसा समय बद्ध नहीं है, जैसा कि आपके समय बद्ध कार्यक्रम के बारे में सुना है। मुख्य रूप से कार्य ‘प्रकर’ का है। उसे सर्वाधिक प्राथमिकता देता हूँ। वह रात्रि की नींद जब खुल जाए। नींद बहुत अनियमित है। प्रकर का कार्य लेकर बैठ जाता हूँ। इसी कारण न नींद समय बद्ध है न जागरण। रात को प्रायः दो बजे नींद खुल जाती है तो दिन में शरीर की भाग पर नींद पूरी करनी होती है। यदि सौभाग्यवश नींद पूरी होती है तो प्रातः ५ बजे उठकर घूमने चला जाता हूँ। लौटकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर पुनः काम में जुट जाता हूँ इसलिए आपके अनुरोध करने पर भी कभी नियत नियत दैनिक कार्यक्रम नहीं लिख पाता। विवशता है क्योंकि नींद पर मेरा नियंत्रण नहीं है। उपचार कभी कभी किये हैं। डॉक्टरों से भी विचार विमर्श किया है, परंतु वे कभी उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। अब यह सब शरीर की स्वाभाविक गति पर छोड़ दिया है। सामान्य रूप से कभी कोई उग्र रोग नहीं हुआ क्योंकि भोजन आदि की व्यवस्था नियमित है। वह भी शाकाहारी।

आशा है आप सानन्द है। योग्य सेवा।

आपका

वि. सा. विद्यालंकार

इसके बाद प्रकर कुछ नियमित होने लगा किन्तु बहुत दिन नहीं चला। लिखा है, प्रकर का अन्तिम अंक जुलाई १९९५ का है। विद्यालंकार

का अन्तिम पत्र १९ मार्च १९९५ का मिला । उसके बाद कोई पत्र नहीं मिला ।
पत्र नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ ।

२८/३/१९९५

प्रिय भाई,

आपका १८/३/१९९५ का पत्र २२/३/९५ को प्राप्त हो गया था । इस बार डाक विभाग ने अपनी कुशलता का परिचय दिया । उस समय मैं मार्च अंक में व्यस्त था, वह भी २८/३/९५ को भेज दिया गया है । तत्काल बाद अप्रैल अंक की सामग्री तैयार करने में जुट गया, वह भी अधिकांशतः तैयार होकर प्रेस चली गई है । आपकी लेखमाला का अन्तिम अंश इमी अप्रैल अंक में आ रहा है ।

इस बार समीक्षा अंकों की पाँच प्रतियाँ आपको भेज दी गई है । वे इस पत्र के पहुँचने तक मिल गई होंगी । अथवा मिलनेवाली होंगी ।

अभी तक भारत की भाषाई पुस्तक प्राप्त नहीं हुई । भारतीय भक्ति साहित्य की प्रति की भी प्रतीक्षा है । राधाकृष्ण प्रकाशन से भी अनुसंधान . प्रविधि और क्षेत्र की प्रतीक्षा है । राधाकृष्ण प्रकाशन से बात करूँगा । अभी तक तो बहुत व्यस्त रहा, अब दो-एक दिन का विश्राम मिलेगा । तो बात कर लूँगा ।

‘अर्थात्’ की समीक्षा की प्रतीक्षा रहेगी ।

‘हिंदी आलोचना की पहचान’ की प्रति आ गई है । इसकी समीक्षा के लिए पुणे वि. वि. के डॉ. उपाध्याय उपयुक्त रहेंगे ? अथवा किसी उपयुक्त व्यक्ति से आप लिखाना चाहें तो लिखिएगा ।

‘प्रकर’ के सम्पादकीय बहुत अधिक सम्पादन, परिवर्तन परिवर्धन की माग करते हैं । दिन भर की व्यस्तता के बाद समय नहीं मिल पाता । इच्छा तो मेरी भी है, परन्तु समय की विवशता के कारण काम रुका हुआ है ।

आशा है आप सानन्द है । परिवार में मेरा सभी को यथायोग्य ।

सस्नेह बंधु

वि सा विद्यालकार

प्रकर के कार्य की व्यस्तता का बोध विद्यासागरजी के पत्रों में व्यक्त हो जाता है। उनकी कोई पुस्तक छपी हो तो मुझे मालूम नहीं है। किन्तु प्रकर के लिए वे खूब पढ़ते थे। समीक्षाएँ ध्यान से पढ़ते थे। लेखकों को निर्देश देते थे। वे मूलतः पत्रकार थे और उनका पत्रकारिता का स्वभाव प्रकर में भी झलकता है। प्रकर के भीतर की सामग्री, उनके सम्पादकीयों से पूरी तरह मेल नहीं खाती। विद्यासागरजी का पत्रकार रूप सामायिक समस्याओं से और विशेष रूप से राजनीतिक समस्याओं के प्रति सचेत दिखलाई देता है। दैनिक समाचार पत्र या साप्ताहिक पत्र के सम्पादकीयों के समान उनके सम्पादकीय होते हैं। उनके सम्पादकीय संवादी सम्पादकीय नहीं हैं। अपने सम्पादकीयों को उन्होंने 'स्वर-विसवादी' नाम दिया है। जब भी प्रकर का काम करते-करते समय मिल जाता, वे अपना सम्पादकीय लिख देते थे। किसी मास विशेष में बहुत व्यस्तता रही तो प्रकर बिना सम्पादकीय के छप जाता था। प्रायः सम्पादकीय रहे हैं। सम्पादन की सामग्री के आधार पर तीन-चार पुस्तकें तो आसानी से तैयार हो सकती हैं। १९९५ में जब तक (जुलाई मास तक) प्रकर निकलता रहा तब तक तो सब कुछ ठीक था किन्तु प्रकर का सदैव के लिए बंद हो जाने से विद्यासागरजी का मन टूट गया। वे पहले जैसे नहीं रहे। दिनचर्या पूरी बदल गई। कहाँ तो बहुत व्यस्तता रहती थी, वह अब गायब हो गई। मैंने उन्हें पत्र लिखे, पुस्तकें भेजी। किसी पत्र का उत्तर नहीं मिला। पुस्तकों की प्राप्ति सूचना भी नहीं मिली। मुझे चिंता हुई। प्रकर बंद होने के बाद दो बार उनसे मिला हूँ। पहली बार जब मिला, उस समय पति-पत्नी दोनों मिले। विद्यासागरजी मिले। पहचान प्रदर्शित की। किन्तु कुछ भूले-भूले लगे। श्रीमतीजी बोली— 'हम लोग औरंगाबाद आ रहे थे। बीच में ही इनकी तबियत बिगड़ गई। तब हम लौट गए।' अधिक नहीं बोली। कुछ स्मरण करते हुए विद्यासागरजी ने बोलने का प्रयत्न किया। मैंने पूछा— 'भारत की भाषाएँ' पुस्तक मिली क्या?' चुप हो गए। डाक में आई थी तो वे डाक देखने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने पुस्तक देखी ही नहीं थी। वस्तुतः वह पुस्तक मैंने उन्हींको समर्पित की थी। किन्तु वे पुस्तक देख नहीं सके। अपना नाम उन्होंने पढ़ा नहीं। कुछ बहकी-बहकी बातें बोल गए। श्रीमतीजी ने उनके बचाव में कुछ कहा। हम दोनों ने कुछ सुना। श्रीमतीजी हमारे लिए कुछ ले आईं। बैठ-बैठे मैं उनको ध्यान से देखता रहा। कुछ समझने का वैसे ही प्रयत्न किया किन्तु सब परे था। कुछ देर बाद कुछ और बोले किन्तु बोलने

मे तारताम्य नहीं था । इससे पहले जब मिला था तब विद्यासागरजी भीतर जाकर कुछ बड़े-बड़े ग्रंथ ले आए थे और कहा था कि ये ग्रंथ आपको काम आएंगे, इन्हे ले जाइए । मैंने वजन के भय से लेना ठीक नहीं समझा । देखकर वहीं रख दिया । उस समय बोले — प्रकर के अंको की पूरी फाइल मेरी बेटी कैनेडा ले गई है । वह मेरे लिए कुछ करेगी । कहकर चुप हो गए थे । इस बार की भेट में इतनी पहचान भी नहीं रही । दोनों बार के मिलने में मुझे काफी अन्तर्ग दिखलाई दिया । और अन्त में मेरा मिलना ९ नवम्बर १९९७ ई को हुआ । उस दिन रविवार था । हम लोग वीरनगर (जैन कॉलोनी) में ठहरे हुए थे । वहाँ से विद्यासागरजी का निवास स्थान निकट था । इसलिए पहले दूसरी ओर गये । पहले हम डेरवाला गए । वहाँ साध्वियों के दर्शन किए और फिर राणा प्रताप बाग की ओर मुड़े । दिन डूब चुका था । गेट पर वे मिल गये । विद्यासागरजी लेटे हुए थे । उठ बैठे । उनकी श्रीमतीजी मिली । दोनों ही उस समय सेवा निवृत्त थे । श्रीमतीजी ने बतलाया की विद्यासागरजी १९७९ ई में आकाशवाणी से सेवा निवृत्त हुए । यों उन्हें सेवानिवृत्त होकर १८ साल बीत गए थे । ५८ वर्ष में सेवा निवृत्त हुए तो इस समय वे ७६ वर्ष के थे । श्रीमती ने बतलाया कि स्वयं उन्हें भी सेवा निवृत्त होकर चार वर्ष हो गए हैं । दोनों ही अब अवकाश प्राप्त जीवन गुजार रहे हैं । देखने में विद्यासागरजी स्वस्थ लगे । बतलाया कि अब भी तीन-चार किलोमीटर प्रतिदिन चलते हैं । उनके घूमने का समय अब सायंकाल का है किन्तु उन्हें अब सुनाई कम देता है । अकेले में गुमसुम रहते हैं । लिखना-पढ़ना, डाक देkhना — पूरी तरह वद है । मिलकर बहुत खुश हुए । बस देखते ही रह गए । कुछ बोले नहीं । श्रीमतीजी ही बोलती रहीं । उनके दोनों लडके दिल्ली में ही हैं किन्तु पास में नहीं रहते । एक बैंक में काम करता है । दूसरे का निजी स्टुडिओ है । सब कुछ श्रीमतीजी को ही करना पड़ता है । बुढ़ावस्था के कष्ट बतला रही थी । दैनिक दिनचर्या का काम स्वयं को ही करना पड़ता है । कुछ देर बैठने के बाद नमस्कार कहकर हम लोग चले आए । हमारा अन्तिम मिलन यही था । उसके बाद कोई पत्र-व्यवहार नहीं हुआ । काफी समय बीत जाने के बाद मैंने श्रीमती प्रकाशवतीजी ने नाम पत्र लिखा और जानना चाहा कि विद्यासागरजी कैसे है ? ४ अगस्त १९९९ का पत्र मिला । वह इस प्रकार है —

आदरणीय भाईजी,

सादर प्रणाम

आपके पत्र से विदित हुआ कि आप देहली आ रहे हैं । मिलकर मन हलका होगा व प्रसन्नता भी ।

भाईजी, आपके हृदय में उनके लिए इतना आदर व प्रेमभाव है, जानकर मन गर्वोद्धासित हो उठा । परंतु मैं बड़े ही दुख से आपको भी पीड़ित कर रही हूँ । आपके भाईजी (विद्यासागर) का निधन १ नवम्बर १९९८ को हो गया । अब वे आपको और पत्र न लिख सकेगे । उनका जीवन परिचय जब आप देहली आएंगे, जितना मैं जानती हूँ, अवश्य बताऊँगी ।

स्नेहमयी भाभी भी स्वस्थ व कुशल होगी । आपका स्वास्थ्य भी आशा करती हूँ ठीक होगा ।

शेष कुशल है । अमिताभ आनंद से है । आपको व भाभी को और अन्यो को मेरा नमस्कार । दिल्ली आने पर अवश्य मिले ।

आपकी शुभ

प्रकाशवती



आनन्द नगर (टाउन हॉल)

कोतवालपुरा के बाद मैं आनन्द नगर (टाउन हॉल) कालोनी में रहने के लिए चला गया था। कम्पाउण्ड वाल के साथ नया बंगला बना था। पी आर पाटील का बंगला था। वास्तु-पूजा नहीं हुई थी। इसलिए एक महीना ठहरना पड़ा। सन १९७० ई में वह बंगला मुझे १५० रुपये मासिक किराये पर मिला। मई-जून १९७० ई में मैं उस बंगले में रहने के लिए चला गया। लगभग ग्यारह वर्ष (जनवरी १९८२ ई. तक) मैं उसी बंगले में रहता था। तीनों बच्चों का बचपन टाउन हॉलवाले आनन्द नगर के बंगले पर गुजरा है।

टाउन हॉल के सामने चौरस्ते का सर्कल बना हुआ है। एक मीधी मड़क दिल्ली गेट की ओर जाती है। वही सड़क दूसरी ओर भडकल गेट की ओर जाती है। आगे वही औरंगाबाद के रेलवे स्टेशन तक जाती है। औरंगाबाद की यह मुख्य सड़क है। यह सड़क नगर के भीतर की सबसे बड़ी सड़क है। और यों

देखे तो यह नगर के बाहर की सड़क है। नगर के सरकारी कार्यालय इसी सड़क पर है। टाउन हॉल से एक सड़क नगर में प्रवेश करती है, वह बूझी लाइन होते हुए शाहगंज तक जाती है। दूसरी ओर वह सड़क मकई गेट होते हुए बेगमपुरा और वहाँ से आगे छावनी तक जाती है। शाहगंज से छावनी जानेवाली सिटी बस टाउन हॉल के मोड़ पर रुकती है। बच्चों का बस में बैठा देता था। वे सीधे छावनी होते हुए स्कूल तक पहुँच जाते थे। दस पैसों में बच्चे स्कूल पहुँच जाते थे और सायंकाल में स्कूल से लौट आते थे। बस के 'मासिक पास' लेने से रुपये कम लगते थे। बच्चों के स्कूल का नाम होलीक्रास इंग्लिश हाइस्कूल था। औरंगाबाद में यह स्कूल प्रसिद्ध है। कोतवालपुरा में रहते समय दोनों लड़कें उस स्कूल में जाने लगे थे। नमिता का स्कूल में प्रवेश टाउन हॉल आने पर हुआ।

टाउन हॉल वस्तुतः देवगिरि कालेज के प्राध्यापकों की कालोनी थी। उसमें कुछ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर भी रहे हैं और उनके सम्पर्क के लोगों को भी उस कालोनी में प्रवेश मिल गया था। मैं जिस समय कालोनी में गया, उस समय सब बगले नये-नये ही थे। मैंने भी स्वयं वास्तु शान्ति होते ही बगले में प्रवेश किया था। सब बगलों का नक्शा एक जैसा था। सामने बरानडा, भीतर हॉल, हॉल से लगा हुआ रसोई घर। हाल में तीन दरवाजे थे। एक पीछे की ओर रसोई घर में, दूसरी ओर बाथ रूम की ओर और बाथ रूम से लगा हुआ शयन कक्ष। यों बरानडा के साथ चार कमरे हो जाते थे। सामने कम्पाउण्ड वाला। खुली जगह सामने और पीछे थी। दोनों ओर फेंसिंग भी थी।

यों देखा जाए तो आनन्द नगर कालोनी में अध्यापकों की सख्या अधिक थी। कालोनी में एक नम्बर का बगला प. काशीनाथ मिश्र का था। वे बलिया जिले के निवासी हैं। पहले नाशिक में अध्यापक थे, फिर यहाँ आ गए। देवगिरि कालेज में हिन्दी के प्राध्यापक थे। इसी कालेज में भगतसिंह राजूरकर भी प्राध्यापक थे। आरम्भ में मिश्राजी छावनी में रहते थे किन्तु जब अपना बगला बन गया तो आनन्द नगर में आ गए।

दूसरे नम्बर का बगला मराठी के प्रोफेसर एच. अर्धक्ष वू. म. पठाण का है। विश्वविद्यालय में उनसे पहले वा. ल. कुलकर्णी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। पठाण साहब का वह निजी बंगला है। सेवानिवृत्त होने के बाद आज भी वे उम्मी बगले में रहते हैं। तीन नम्बर का प्लॉट खाली पड़ा हुआ था। कालोनी छोड़ने तक मैंने उसे खाली ही देखा है। चार नम्बर डॉ. वसंत बोरगावकर का है। वे देवगिरि कालेज में मराठी के प्राध्यापक रहे हैं। पाँच नम्बर मुठे परिवार का

है इसके बाद छ- नबगवाले बगले में मैं रहता था। सात नम्बर में Zoology के प्राध्यापक बाब्रस रहते हैं। वे मेजर कहलाते हैं। मेजर बाब्रस के बाद में अन्तिम सिरे पर तालिब परिवार है। उसके बाद सामने की लाइन शुरू हो जाती है। उसमें पुरुषोत्तम पाटील के भिन्न काटे का बगला है। मुळें का बगला है। प्रोफेसर जी आर. शर्मा है तथा अन्त में प्रोफेसर खानोलकर का बगला। तीसरी लाइन में पाथीकर और पटेल के बंगले हैं। यां कालोनी में तीन लाइनों का त्रिकोण बनता है।

कालोनी में किराये से रहनेवाले परिवार भी हैं। मैं जब रहता था, उस समय किराये से रहनेवालों में डॉक्टर अधिक थे। टाउन हॉल से लगा हुआ छाटो दवाखाना है। यह सगकारी अस्पताल है। कैम्पस बहुत बड़ा है। एक सिरे पर मकई गेट है तो दूसरे सिरे पर पनचक्की के निकट का गेट है और तीसरे सिरे पर भडकल दरवाजे के सामने नौखण्डा महल तक वह अस्पताल है। वस्तुतः वह स्थान मलिक अम्बर का निवास स्थान रहा है। उसका बगीचा भी उसमें रहा है। मकई गेट में पनचक्की के दरवाजे तक खाम नदी बहती है। खाम नदी के किनारे पर सड़क की दूसरी ओर डॉक्टरों, प्रोफेसरों के कार्टस बने हुए हैं। कैम्पस के बाहर और कैम्पस के भीतर भी हैं।

डॉक्टरों में जो लोग पड़ोस में रहते थे, उनमें डॉ. कोतवाल, डॉ. कावरा, डॉ. निकते, डॉ. भारत कुलकर्णी, डॉ. देशपांडे, डॉ. कुभकर्ण के नाम प्रमुख हैं। सम्प्रति इन सब डॉक्टरों ने अब आनन्द नगर छोड़ दिया है और अन्यत्र बस गए हैं। डॉ. माळी भी थे, जो अमरीका चले गये। इन डॉक्टरों से अधिक सम्पर्क रहा है। इनके कारण हम सब को बहुत आराम था। किसी भी समय सम्पर्क करने पर उपलब्ध हो जाते थे और दवाखाने में स्वयं उपस्थित रहकर काम कर देते थे। तालिब परिवार में भी एक डॉक्टर तालिब है।

तिरुपति में डाक्टर साहब के साथ पैदल घूमता था। वह आदत कोतवालपुरा में टूट गई थी। आनन्द नगर में, मैंने सबेरे फिर घूमना शुरू किया। टाउन हॉल से दिल्ली गेट की ओर जानेवाली सड़क पर घूमना आरम्भ किया। दिल्ली गेट से आगे जलगाँव मार्ग पर हिमायत बाग के अन्तिम सिरे तक जाता था। और आगे तो मौलाना आज़ाद कालेज है और उसके बाद हरसूल है। हरसूल तक नहीं जाता था।

आनन्द नगर के सामने, कालोनी से बाहर निकलते ही एक ओर छोटा-सा मार्ग था। वह हाइस्कूल के पीछे का मार्ग है। उस हाइस्कूल से लग कर

मलिक अम्बर के समय की बड़ी मस्जिद है। आगे वह मार्ग मुख्य सड़क से मिल जाता है। इस मार्ग के बाईं ओर तालाब है। यह तालाब हमारी कालोनी से लगा हुआ है। खानोलकर के बगले से तालाब लगा हुआ है। वर्षाकाल में खानोलकर के बगले के अहाते में तालाब बन जाता था। काटे के बगले से खानोलकर के बगले तक पीछे तालाब है। इस तालाब की दूसरी ओर आम-खास मैदान है। आज यही शिवाजी मैदान है। आम-खास मैदान पर देश के नेताओं के भाषण होते रहे हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी के भाषण इसी मैदान में हुए हैं। यह मैदान किले आर्क की सीमाओं को छूता है। मैदान के पीछे की ओर पहाड़ी है, जो मैदान को खाम नदी से अलग करती है। नदी की दूसरी ओर बेगमपुरा और बीबी का मकबरा है। मक़र्ड गेट से नगर की प्राचीर पहाड़ी की ऊँचाइयों से गुजरती हुई किले आर्क की प्राचीर तक पहुँच जाती है। किले आर्क औरगजेव का निवास स्थान था। आज वहाँ गवर्नमेंट कालेज है। किले आर्क के प्रवेश द्वार के सामने सूबेदारी गेस्ट हाउस है। उस गेस्ट हाउस से दूसरी ओर बाहर निकलने पर दिल्ली गेट के पास पहुँच जाते हैं।

मैं सवेरे-सवेरे जब घूमने निकलता तो मुख्य सड़क पर ही घूमता था। आम-खास मैदान से गुजर कर मुख्य सड़क पर आता। किले आर्क की तलहटी से सड़क गुजरती है। किले आर्क तो पहाड़ी की ऊँचाई पर है। किले आर्क के भीतर पहुँच कर ऊपर से नीचे की ओर निहारे तो सामने औरगाबाद नगर दिखलाई देता है। किले आर्क में औरगजेव की मस्जिद अलग बनी हुई है। उस मस्जिद के ठीक सामने नीचे की मुख्य सड़क की ओर काला दरवाजा है। काले दरवाजे से नगर में प्रवेश होता है। आगे औरगाबाद का प्रसिद्ध चौक है। यह चौक, दिल्ली का चॉदनी चौक नहीं है फिर भी उसे नगर का मुख्य बाजार कह सकते हैं। लाल किले के सामने जैसे चॉदनी चौक है, वैसे ही किले आर्क के सामने यह चौक है। चौक में चार सड़कें मिलती हैं। एक मछली खड़क बाजार (कपडा मार्केट) की ओर जाती है। दूसरी नगर के भीतर की मुख्य सड़क सराफा होते हुए शाहगज की ओर और वही सड़क पुन चौक से आगे जुना बाजार की ओर जाती है। और एक सड़क काले दरवाजे की ओर है। जो किले आर्क नगर से बाहर भी है, और नगर के निकट भी है।

किले आर्क के ढलान पर मुख्य सड़क पर सरकारी अधिकारियों के बगले बने हुए हैं। इन बगलों के सामने बड़ा दरवाजा है। रंगीन दरवाजा कहलाता है। इस दरवाजे से आगे सूबेदारी गेस्ट हाउस की सीमाओं की मोड़ से दिल्ली

गेट की आर सड़क मुड़ती है । उस ओर न मुड़कर दूसरी ओर मुड़े तो शाहगज की ओर सड़क जाएगी ।

मैं हिमायत बाग में भी कई बार गया हूँ । उसके लिए मुख्य सड़क से पहले ही किले आर्क में जाता था । सड़क में ऊपर की ओर चढ़ने के लिए औरगजेब की मसजिद के पास सीढ़ियाँ बनी हुई हैं । उन सीढ़ियों के दा-तीन मोड़ हैं । ऊपर चढ़ जाँएँ तो किले आर्क में प्रवेश हो जाता है । रंगीन दरवाजे को पार कर सूबेदारी गेस्ट हाउस के पास के मुख्य प्रवेश द्वार से गुजरने की आवश्यकता नहीं रहती । गवर्नमेंट कालेज के पीछे चले जाँएँ तो हिमायत बाग शुरू हो जाता है । हिमायत बाग ठीक किले आर्क के पीछे है । बहुत बड़ा बाग है । भीतर घूमना अच्छा लगता है । उसका प्रवेश द्वार दिल्ली गेट से भी आगे है । जलगाँव मार्ग पर है । दो-तीन किलोमीटर घूमने पर बाग के प्रवेश द्वार तक पहुँच सकते हैं । गवर्नमेंट कालेज के पीछे से बाग में पहुँचना नियम के विपरीत है । हम तो टहलते-टहलते पहुँचते थे । प्रवेश द्वार तक जाते ही नहीं थे । भीतर ही भीतर टहल कर उसी मार्ग से लौट जाना था । औरगजेब की मसजिद के पास आकर पुन खड़ा हो जाता और नगर का दृश्य देखता था । कुछ देर वहीं पर मुड़े पर बैठ जाता । समय को देखते हुए सीढ़ियों से उतर कर काले दरवाजे की ओर के सड़क पर पहुँचना और टाउन हॉल की ओर मुड़ जाता था । यद्यपि मेरा सबेरे का यह घूमना पूरी तरह से नियमित नहीं था तथापि मैं जब जब भी औरगाबाद में रहता तब-तब सबेरे घूमता ही रहता था । टाउन हॉल का कोई सदस्य मेरे साथ नहीं रहता । सबेरे घूमने की आदत बचपन की आदत है । सिकंदराबाद में भी क्रिकेट के गार्डन तक चला जाता था । किन्तु अम्बाजोगाई जैसा घूम नहीं सका । अकेले घूमने में और साथियों के साथ घूमने में बहुत फर्क है । बीच-बीच में व्यंकट जब भी मिलता तो वह भी बतलाता कि वह भी सबेरे सबेरे जालना रोड पर घूमने जाता है । उसके साथी उसे मिलते हैं । वह अकेले नहीं जाता ।

□ □

स्कूटर खरीदी

मैं कोतवालपुरा में रहता था । उस समय १९६९ ई के आरम्भ में तेजमल आया था । उसने उसी समय बजाज स्कूटर के लिए नम्बर लगाया था । २५० रु आग्रिम भर दिए थे । रमीद ले ली थी । उसके नाम का स्कूटर उसे तीन वर्ष बाद १९७२ ई में मिला । १९७२ ई में वह स्कूटर लेने फिर औरगाबाद

आया साथ में तेजमल का एक साथी भी था। उसने भी नम्बर लगाया था। तेजमल के साथी ने अपना स्कूटर बेच दिया। उसे दो हजार पाँच सौ रुपये उसी समय ऑन के (अतिरिक्त — नम्बर लगाने के) मिल गये। तेजमल भी इसी तरह ऑन के रुपये ले सकता था। उसने वह स्कूटर मुझे दे दिया। स्कूटर खरीद लिया। उस समय मुझे बजाज स्कूटर साढ़े-तीन हजार में मिल गया। तेजमल के कारण मैंने स्कूटर खरीदा। मैं तो स्कूटर चलाना जानता नहीं था। वह रुका रहा। पहले-पहले स्कूटर पर साथ में बैठकर स्कूटर चलाना सीख लिया। बाद में व्यक्त अम्बेकर तथा श्री अष्टेकर की सहायता से ठीक से स्कूटर चलाना सीख गया। १९७२ ई. में स्कूटर द्वारा यूनिवर्सिटी जाने लगा।

मेरा बहुत-सा लेखन टाउन हॉलवाले मकान में हुआ है। उस समय टाइपराइटर का उपयोग करता था। आरम्भ में मैंने पुस्तकें स्वयं टंकित की हैं। मैं स्कूटर का उपयोग तो करता था किन्तु आशंकित रहते हुए ही चलाता था। उन्मुक्त रूप में स्कूटर कभी नहीं चलाया। नगर के भोड़-भाड़ वाले इलाके में — औरंगापुरा, गुलमण्डी, शाहगंज आदि स्थानों पर कभी नहीं गया। पीछे किसी दूसरे को नहीं बैठाता था। घर से यूनिवर्सिटी, और पुन. घर — जाता आता था। उस समय पेट्रोल डेढ़ रुपये लीटर के भाव में मिलता था। तेजमल के कारण पत्नी का ध्यान भी स्कूटर का नम्बर लगाने की ओर गया। उसके कारण मैंने अपने नाम से नम्बर लगवाया। रुपये पत्नी ने दिये। १९७२ ई. में लगाया हुआ नम्बर आठ वर्ष बाद १९८० में आया। नम्बर लगवाने के पाँच हजार रुपये मिले। उस समय मैं मनीषा कालोनी में मकान बनवा रहा था। मध्ये काम आए।

□ □

चन्दू काकाजी तथा अन्य काकाजी

चन्दू काकाजी का जन्म १९२२ ई. में हुआ। वे मुझ से दस वर्ष बड़े हैं। दादाजी जब तक थे, वे अम्बाजोगाई में थे। दादाजी का निधन फरवरी १९५३ ई. में हुआ। उससे दो-तीन वर्ष पूर्व १९५० ई. के पास, वे घाटनादूर चले गए। घाटनादूर में उन्होंने चाय की टपरी खोली। उसीसे गुजर करने लगे। फूलचंद काकाजी परली में बुकबाण्ड कम्पनी का काम कर रहे थे। मैं परली गया था। काकाजी के पास कुछ दिन रहा भी हूँ। इसी तरह चन्दू काकाजी से मिलने घाटनादूर भी गया हूँ। परली के बाद का दूसरा रेलवे स्टेशन घाटनादूर है। घाटनादूर अम्बाजोगाई से परली की अपेक्षा निकट है। किन्तु राजमार्ग परली का है। सारी बसें (गाड़ियाँ) परली ही जाती हैं। घाटनादूर का रस्ता बहता हुआ रास्ता नहीं है। अम्बाजोगाई

सं अहमदपुर जानेवाली बसे घाटनादूर से जाती है। घाटनादूर छोटा सा गाँव है। रेलवे लाइन पर है। परली से सिकंदराबाद जानेवाली ट्रेन, वहाँ ठहरती है। एक्सप्रेस गाड़ी नहीं ठहरती। अम्बाजोगाई छोड़ने के बाद घाटनादूर को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर वहीं पर चन्दू काकाजी रहने लगे। स्वयं (पैसे से अपग होने के कारण) कुछ कर नहीं सकते थे। नौकर रखना ही पड़ता। भाग-दौड़ होती नहीं। फिर भी चाय की टपरी चला रहे थे। दादाजी जब तक थे। अम्बाजोगाई आते-जाते थे। दादाजी के बाद में अम्बाजोगाई छूट गया। चाहते थे कि भाइयों से बँटवारा हो जाए तो सब को कुछ-न-कुछ मिलेगा। कभी किसी ने कुछ माँगा नहीं। काकाजी की अपनी मजबूरी थी। १९७० ई. में मैं औरंगाबाद आ गया था। उन्होंने १२ अगस्त १९७० ई. को मुझे पत्र लिखा। उक्त पत्र में उनकी विवश कथा है। उक्त पत्र प्रस्तुत है—

घाटनादूर
दि १२-८-७०

वि राजमल, आशीस।

आपको सूचना दी जाती है कि परिस्थितियों के अनुकूल इस साल मुझे नुकसान रहा, २ बार मेरी चोरी भी हो चुकी थी। इस कारण लोगों के पैसे जुमला १२८० रुपये का कर्ज हो चुका, बढ़ती महगाई, नौकर खर्च और किराया में काफी वृद्धि हो चुकी है। और छोटा धंदा होने से और मेरी मजबूरी होने से सहूलियत की जगह चाहे कुछ भी किराया रहे लेना ही पड़ता है। कारण नहाने धोने और जगल जाने की सहूलियत न होने से ज्यादा किराये की जगह बगैर मेरा निभना मुश्किल है।

और आज तक मैं निभाता रहा। परन्तु अब दुकानों की सख्या भी काफी बढ़ चुकी है और तंगी के कारण २ साल से मैं व्याजी रकम पर ही निर्भर रहता था, लेकिन इस साल व्याज देने की भी कोई आशा नहीं रही और लोगों के तकाजे तथा डाक्टर का बिल बहुत कुछ देना है। और इन तकाजों में मैं बिलकुल निराश हो चुका हूँ।

और मेरी इच्छा यह है कि दूसरा कुछ धंदा खोलूँ। इतनी रकम तो शायद कहीं से मिलने की आशा नहीं। इस कारण मेरा

विचार है कि घर की तकसीम ही ठीक रहेगी, जिससे कर्ज देकर बचत में दूसरा धदा हो सकेगा। अथवा गृहने पुरती जगह लेकर किराया तो बचेगा ही ।

मुझे आज तक घाटनादूर में बीस साल से ज्यादा हो चुके परन्तु किसी का भी कुछ निर्णय न हो सका और न इस बारे में कोई दिल खोल बातें हुयी । एक कॉपी तेजमल और फूलचन्दजी भाईसाहब को भी दी गयी । ताकि सब की राय को अनुकूल सहूलियत हो सके ।

इसका उत्तर जल्द देने की कृपा करे ।

आशा है सब आनन्दित होंगे ।

Yours Kaka

M C Bora

(Note इसका उत्तर किसी भी प्रकार निराशावाद गृहा, तब मैं अपने स्वतंत्र विचारों से ही जो कुछ वाजबी होगा मुझे मजबूरी से करना ही पड़ेगा । मुझे किसी से नाराजी अथवा द्वेष नहीं परन्तु लोगों के तकाजे से मैं परेशान हूँ । शायद विलम्ब होने से वह लोग मुझ पर दावा दे सकेंगे ।)

From : M C Bora

Bora Library, at Po. Ghatnandur,

Tal. Ambajogai, Dist. Bhur

काकाजी के पत्र अम्बाजोगाई से भी मिले हैं । काकाजी ने अपना पता अन्त में लिखते समय 'Bora Library' लिखा है । वे अपना समय लिखने-पढ़ने में गुजारते थे । सातवीं-आठवीं कक्षा तक वे सिकंदराबाद में बाईसाहब के पास बुलेटिन में रहते थे । रामगोपाल स्टेच्यू के पास जेम्स स्ट्रीट पर ही वेसली हाईस्कूल था । उसीमें उनकी पढाई हुई थी । उन्हें, उर्दू तथा अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान था । दोनों भाषाओं में भी लिखते थे । हिन्दी उन्होंने घर पर ही सीखी है । १९७० के ऊपर के पत्र के बाद का एक पत्र और नीचे दे रहा हूँ । इस पत्र में उन्होंने अपनी योजनाएँ और विवशता व्यक्त की है । संभवतः यह पत्र १९७३ ई का हो । पत्र पर तिथि लिखी हुई नहीं है ।

श्री राजमलजी बोरा, प्रणाम

प्रथम पुस्तक मैं 'हलवे और सीरा' लिखने का विचार कर रहा हूँ । ये किताब मैं रफ कागज पर कारबन की नकल के साथ

लिखूंगा। इसकी जानकारी श्री रजनीश की कृपा से मुझे पूरी हो जाएगी। क्योंकि विचार आते हैं। रजनीश के विचार आये हैं ये किताब छपवाएंगे क्या? मालूम करे।

दूसरा कारण ये है कि मेरी एक आँख में (दाहिनी) जाला आया है और धुंधक दिखायी देता है लेकिन अभी एक डाँवी आँख से मैं लेख लिखते रहता हूँ। ये जानना आकर ३ महीने हो गये हैं। आशा है और १, २ महीने तक ऐसी हालत रहेगी लेकिन बाद में कम होते जायेगी। क्योंकि ये जाला कुछ अलग प्रकार का है। अभी तक मैं ये किसी डॉ. या हकीम को बतलाया नहीं हूँ। क्योंकि मैं यहाँ अकेला हूँ बाकी भाईसाब और परिवार पूरा सिकदराबाद कान्ता के यहाँ जाकर ७, ८ महीने हो गये हैं। लेकिन मिश्रीबाई और बाबू हर २ महीने में आकर जाते हैं।

श्री तेजमलजी और सुरेशजी भाई १०, १२ दिन पहले आये थे। मुझसे मिलकर गए हैं। खर्च के लिये भी कुछ देकर गये हैं।

यह दूसरा पत्र भी घाटनादूर से लिखा हुआ है। इसके बाद विवश होकर घाटनादूर से लातूर गए या मुंबई गये — ठीक से मालूम नहीं। इतनी बात सच है कि वे मदनलाल भाईसाहब के पास गए थे। लगभग चार-छ महीने मुंबई में थे। फिर लातूर आए। पुनः घाटनादूर गए। इस तरह १९७५ ई. में वे लता के विवाह में सिकदराबाद पहुँच गए। मेरी पत्नी सिकदराबाद लता (फूफाजी मिश्रीलालजी बाफना की लडकी) के विवाह में गई थी। उस समय काकाजी ने कहा — 'मुझे औरगाबाद चलना है।' पत्नी लौटते समय काकाजी को साथ में लेकर आई। वे औरगाबाद आ गए। मई १९७५ के अन्तिम सप्ताह में आए। उस समय से लगभग चार मास तक सितम्बर १९७५ तक यहीं पर रहे।

काकाजी चाहते तो नियमित पुस्तकें पढ़ सकते थे किन्तु उन्होंने पढ़ने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। बच्चों के स्तर की — मनोरंजन की — पुस्तकें और पत्रिकाएँ पढ़ लेते थे। मैंने उनकी व्यस्तता के लिए काम दिया। मैंने आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित पुस्तक के आधार पर भूषण के शब्दों के कार्ड बनाने कहा। प्रत्येक शब्द का एक कार्ड बनवाया, उस पर वह शब्द लिखा जाता। शब्दों के आगे छंद सख्या लिखी जाती। वह शब्द एक ही छंद दो बार आए तो वह सख्या दो बार लिखी जाती। दूसरे छंद में पुनः आए तो वह सख्या भी लिखी जाती। यों उन्होंने 'भूषण' का क्षिप्रता कोश तैयार कर लिया। भूषण के

कार्डों का काम समाप्त हो जाने पर कार्डों को अकाराधिक्रम में रखकर रजिस्टर पर शब्द चन्द्रकाकाजी ने ही लिखे हैं। कोश उन्होंने ही तैयार किया। बाद में मैंने क्षिप्रता कोष टंकित भी किया है। शोध-छात्रा डॉ (श्रीमती) शकुन्तला पाञ्चाल ने 'उस क्षिप्रता कोश' के आधार पर शब्दकोश भी तैयार किया है। आरम्भ के (नमूने के रूप में) कुछ पृष्ठ मैंने भी लिखे और बाद में कार्य-पद्धति बतलाने पर उसने कार्य पूरा किया है। वह कोश भी प्रकाशनार्थ तैयार है। कोश की दो प्रतियाँ तैयार की गईं। मूल प्रति मैंने पाचाल को दे दी। उसकी दूसरी प्रति मेरे पास है।

काकाजी ने कुछ कहानियाँ लिखी। मैंने 'पराग' को भेजी। वे लौट आईं। एक छोटा बालको का उपन्यास 'भाईचारा' लिखा। सिकंदराबाद के दो परिवारों के जो पड़ोसी थे, बच्चों के साथ-साथ (नागपुर तक की) यात्रा का वर्णन उसमें है। हिन्दू-मुस्लिम परिवारों में भाईचारा बतलाया गया है। वह उपन्यास औरंगाबाद के स्थानीय साप्ताहिक दौड़ता मनुष्य में धारावाहिक रूप में छपा है।

काकाजी कम्पाउण्ड में घूम लेते थे। उठकर चलना बन्द हो गया था। दीवार के सहारे हाथ पकड़ कर चलते थे। एक कमरे से दूसरे कमरे में चले जाते। मैंने उनके लिए एक फोल्डिंग कुर्सी के दो पाँवों में दो पहिए लगवाए। इसे पकड़ कर चलना अपेक्षाकृत सरल था। उनका मन, औरंगाबाद में नहीं लगा। तेजमल आया तो उसके साथ लातूर चले गए। बाद में वे लातूर में ही रहे। फूलचंद काकाजी भी लातूर में थे किन्तु उनके पास नहीं रहे। लातूर से भी उनकी चिट्ठियाँ मिली हैं। रजनीश भक्त हो गए। अपने को 'सन्त चन्दू' कहने लगे। पत्र के अन्त में 'सन्त चन्दू' लिखते थे। ऐसी ही एक पत्र —

श्रीमान राजमलजी बोग और श्रीमती आशादेवी बोरा,
 मैं प्रणाम करता हूँ — दोनो को प्रणाम करता हूँ
 क्योंकि इस दिवाली से — ३२ वर्ष वैराग्य का
 शुरू होने वाला है इसलिये — मैं ये लेख लिखता हूँ
 मेरी कुछ किताबें मैं — छपाना चाहता हूँ — लेकिन
 इस समय मैं मजबूरी की — छाया में रह रहा हूँ
 ये छाया कुछ दिनों में — दूर होनेवाली है क्योंकि
 कृपा रजनीश की — ये हो चुकी थी
 ये कृपा होने से — मैं आनंदित हो गया हूँ
 क्योंकि द्रष्टा हो गया था — श्रीसमर्थ रामदास का
 कृपा से द्रष्टा हो चुका था — इसलिये विश्वास हो गया था

श्री रजनीश का विश्वास हो चुका था — इसलिये धारण कर लिया था
 वैराग्य धारण कर लिया था — छपाने के लिये योजना क्या रहती हैं
 ये पत्र द्वारा मुझको सूचित कर देना — इसलिये ये लिखा हूँ
 मैं प्रणाम करता हूँ — सब को प्रणाम करता हूँ

सत चन्दू

काकाजी से कभी कभी बैठकर बातें करता था । उनकी योजनाओं और आवश्यकताओं को जानना चाहता था । यद्यपि टाउन हॉलवाला मेरा मकान तीन कमरों और बराण्डा वाला था । उसमें बराण्डा उन्हींके लिए था । फिर भी वे स्वतंत्र कमरा चाहते थे । उन्हें लगता बराण्डा तो आने-जाने का मार्ग है । स्वतंत्र कमरा अम्बाजोगाई में उन्हें उपलब्ध (बाड़े का) रहा है । वैसा कमरा उन्हें तेजमल के पास में भी नहीं मिला । तेजमल जब कामदार बिल्डिंग में, लातूर में ही किराये से रहता था । उस समय वे मकान के सामने की गली में किसी गैरेज में दिन भर रहते थे । उनसे मिलने गैरेज में गया । वहाँ से जब (१९७५ ई में) पुन तेजमल के पास गये, तब तक तेजमल ने थत्ते नगर में बगला बनवा लिया था । उस बंगले में भी उनकी योजना के अनुसार उन्हें स्वतंत्र कमरा नहीं मिला । बाद में तेजमल ने उसी बंगले से लगा एक प्लाट और खरीद लिया । उसमें अलग में बाथ रूम बना दिया और खुला आंगन था । कुछ कमरे थे । वह जगह उन्हें ठीक लगती । उसमें समय कट जाता था । अन्तिम वर्षों में वे लातूर में ही रहे । अपने समय से खाने की इच्छा रहती । इसलिए रसोई स्वयं बनवाते । उन्हें रसोई घर उपलब्ध था । स्वयं रसोई करते और भोजन कर लेते । उसमें भी वे स्वतंत्रता चाहते थे । उन्हें स्वतंत्र नौकर चाहिए था, वह उन्हें नहीं मिल सका । बीच में ऊब जाते तो घाटनादूर चले जाते । पुन लौट आते । नित्य आसन करते । अपना काम स्वयं करते । इच्छा हुई तो बात करते । अन्यथा चुप रहते । घर के मदस्यों से कुछ अलग रहते । तेजमल के लडके मर्तीश को बजाज स्कूटर की एजेन्सी मिली । बंगले से लगकर जो खाली प्लाट में जगह खाली थी । उसमें उसने गैरेज खोल दिया । गाड़ियों का स्टॉक रखता । नौकर चाकर बैठने लगे । मर्शाने बैठाई गई । वे चलने लगीं । उससे काकाजी को पुन तकलीफ हुई । स्वतंत्र जगह पुन नहीं रही । अब वे सीढ़ियों चढ़कर छत पर बैठने लगे । दो-तीन बार मुझे सीढ़ियों पर बैठे हुए मिले । हाल में आकर सब के साथ में बैठकर बात नहीं करते थे । बुढ़ापे के कष्ट थे । उन कष्टों को देखकर पहचाना जा सकता था । बड़े बाईसाहब

दिल्ली में थे। उनके पास रहकर बड़े हुए। उनको मिलने की इच्छा थी। जा नहीं सके। फूलचन्द काकाजी लातूर से मिलने के लिए दिल्ली गये तो बाईसाहब ने पंद्रह दिन रोक लिया। लौटकर वे उसी वर्ष गुजर गये। मैं उस समय दिल्ली में था। बाईसाहब से मिलने प्रेटर कैलाश गया था। मन्ना भाईसाहब (मनोहरलाल कोठारी) द्वार पर ही मिले। बोले, आज ही पत्र मिला है। फूलचंद मामासाहब नहीं रहे। बाईसाहब को मैंने वतलाया नहीं क्योंकि उन्हें और तकलीफ होगी। अभी अभी कुछ दिन पहले यही पत्र पंद्रह दिन रहकर गए हैं। मैं बाईसाहब से मिलने भीतर गया। मिलकर लौट आया। यह १९८५ ई. की बात है। फूलचंद काकाजी चले गये। लौटने के बाद लातूर गया। उस समय तक सतीश का गैज खुला नहीं था। काकाजी का अन्तिम संस्कार तेजमल के घर पर ही हुआ। १९८६ ई. में तिरुपति गया था। लौटते समय बड़े काकाजी (भागचन्दजी) से मिलने गया था। बहुत थक गये थे। उस समय वे ८४-८५ साल के होंगे। लौटने के बाद मार्च १९८६ में मालूम हुआ कि काकाजी नहीं रहे। सिकंदराबाद जाकर आया। चागे काकाओं में से अब सबसे छोटे चन्दूकाकाजी रह गये थे। बाईसाहब तो सभी काकाओं से बड़े थे। मैं प्रतिवर्ष दिल्ली जाता तो मिलकर आता। कभी-कभी वर्ष में दो बार भी जाता और मिलता था। एक बार मन्ना भाईसाहब का फोन आया कि बाईसाहब याद कर रहे हैं। उसके बाद में दिल्ली गया तो मिलकर आया। मार्च १९९१ में बाईसाहब भी चले गए। दिल्ली से पत्र मिल गया था।

दिसम्बर १९९३ ई. के प्रथम सप्ताह में बम्बई होते हुए आनन्द गया था। लौटकर बम्बई आया तो नम्मू ने वतलाया कि मिश्रीलालजी महाराज साहब का देवलोक हो गया है और चन्दूकाकाजी भी नहीं रहे। औरंगाबाद पहुँचा और बाद में लातूर गया। मालूम हुआ कि ग्यारह दिसम्बर १९९३ ई. को काकाजी सबेरे-सबेरे साढ़े चार या पाँच बजे उठे। बाथ रूम जाकर आए और पुन सो गए। तेजमल उस दिन मिश्रीलालजी महाराज साहब के अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होने औरंगाबाद निकलने की तैयारी में था। काकाजी अभी उठे नहीं इसलिए चादर उठाकर देखा गया। काकाजी कब गये — पता ही नहीं चला। तेजमल ने औरंगाबाद की यात्रा स्थगित कर दी। काकाजी का अन्तिम संस्कार किया। यो एक-एक कर सभी काकाजी चले गये।

□ □

प्रकाशन

सन १९७१ ई. में औरंगाबाद से मैंने पहली पुस्तक प्रकाशित की। पुस्तक का नाम था — 'चिन्तामणि भाग १ - मीमांसा'। यह पुस्तक मैंने भारतीय हिन्दी परिषद के पूना अधिवेशन में लोटकर आने के बाद में लिखी। पूना का यह अधिवेशन २४ वॉ अधिवेशन था। और उसकी तिथियाँ २३-२४-२५ अक्तूबर १९७० ई थी। चिन्तामणि भाग-१ पुस्तक में प्रकाशित था। प्रकाशक के नाम पर पुस्तक लिखने में कोई कठिनाई नहीं हुई। दिसम्बर १९७० ई में काम आरम्भ किया और जून १९७१ ई तक पुस्तक छप गई। उस समय पुस्तक का मूल्य सात रुपये पचास पैसे मात्र था। लागत मूल्य से तीन गुना कीमत रखी थी।

यहाँ पर मैं डॉ. भास्कर तेलग का उल्लेख करना चाहूँगा। वे स्वयं भी प्रकाशक हो गए थे। पद्याकर कवि के वंशज थे। 'पद्याकर श्री' — पुस्तक का सम्पादन किया। और यही पर स्वयं प्रकाशित किया। औरंगाबाद में उस समय 'मराठवाडा' (दैनिक समाचार पत्र) की अलग से जयहिन्द प्रेस थी। उसमें जगन्नाथराव बर्वापुरकर थे। उनके सहयोग से पुस्तक छपती थी। उस प्रेम में मेरे साथ-साथ डॉ. तेलग साहब की पुस्तक छपने लगी। तेलग साहब ने अपने वरामपुरा 'सुभा निकुंज' में 'पद्याकर अनुसंधान शाला' संस्था का काम आरम्भ किया और उसी नाम से पुस्तक छापने लगे।

डॉ. तेलग साहब सेवानिवृत्त होने के बाद में लेखक-प्रकाशक हुए। इसमें पहले उनकी एक पुस्तक 'छत्तीसगढी, हलबी, भतरी बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' पी-एच डी शोध-प्रबन्ध मात्र छपा था। गवर्नमेण्ट कालेज में काम करते समय यो भी उन्हे पुस्तक छपवाने में कठिनाइयाँ हुई है। उनकी एक और पुस्तक 'औरंगाबाद की हिन्दी संत वाणी' (सम्पादित) है। रामनारायणलाल नैनीप्रसाद इलाहाबाद से छपी है। मेरे औरंगाबाद आने से एक वर्ष पूर्व १९६७ ई. में छपी थी। विभाग खुलने से पूर्व तेलग साहब ही अध्यक्ष थे।

पुस्तक छापना जितना सरल है, उतना विक्रय कार्य सरल नहीं है। 'चिन्तामणि भाग १ मीमांसा' से पहले मैंने एक पुस्तक १९५९ ई में प्रकाशित की थी। उस समय उस पुस्तक को छापने में चार सौ से कुछ ऊपर लगे थे। कुल छ सौ प्रतियाँ छपी थीं। उस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ सिकंदराबाद में ही निक गई थी। मुश्किल से पचास-साठ प्रतियाँ बिकी हो किन्तु उसके छप जाने से लेखन कार्य के प्रति विश्वास दृढ़ हुआ। दूसरा लाभ यह हुआ कि मुझे विदर्भाविद्यालय में नौकरी मिलने में उस पुस्तक ने सहायता पहुँचाई। तिरुपति में उक्त पुस्तक की

(साहित्य एक विवेचन की) शेष प्रतियों के बण्डल वैसे ही पड़े रहे। सिकदराबाद-हैदराबाद में तो कुछ प्रतियाँ बिक सकती थी। तिरुपति में तो हिन्दी पुस्तकों का न कोई प्रकाशक था और न कोई पुस्तक विक्रेता। तिरुपति में जब विभाग खुला तो छात्र मिलना कठिन था। वहाँ पर बी.ए. में जिसकी द्वितीय भाषा हिन्दी थी, आरम्भ में उन्हें एम.ए. हिन्दी में प्रवेश देना पड़ा। वहाँ पर कोई प्रकाशक आता नहीं था। आवश्यक कार्य पत्र-व्यवहार से संभव था। आगरा के विनोद पुस्तक मंदिर से पुस्तकें मगवाई जाती थी। भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ से पुस्तकें आती थीं। इस तुलना में औरंगाबाद में प्रकाशकों का आवागमन अधिक था। प्रकाशकों को प्रकाशकों से सम्पर्क करना पड़ता है और इसी तरह पुस्तक विक्रेताओं से सम्पर्क भी आवश्यक है। लेखन का कार्य अलग है और प्रकाशक का कार्य अलग है। मैं लेखक तो हो गया किन्तु प्रकाशक नहीं हो सका।

कुछ लोगों ने कहा—‘तीसरी पुस्तक छपने तक पहली पुस्तक की राशि मिलने लगती है। एक पुस्तक छपकर कोई भी प्रकाशक नहीं हो सकता। इसलिए अगले वर्ष (१९७२ ई.) मैंने ‘हिन्दी उपन्यास-प्रयोग के चरण’ पुस्तक प्रकाशित की। तीसरे वर्ष १९७३ ई. में, ‘आधुनिकता और राष्ट्रीयता’ पुस्तक का प्रकाशन किया। चौथे वर्ष में (१९७४ ई.) ‘पृथ्वीराजरासो : इतिहास और काव्य’ का प्रकाशन किया। इसी तरह क्रमशः १९७५ ई. में ‘संवेदना के स्तर’ और १९७६ ई. में ‘संवेदना और सौंदर्य’ का प्रकाशन किया। बाद में १९७७ ई. में ‘भाषा : अर्थ और संवेदना’ का प्रकाशन किया। और अन्ततः १९७९ ई. में डी.लिट. का शोध-प्रबन्ध ‘हिन्दी वीरकाव्य : सर्वेक्षण, वर्गीकरण और मूल्यांकन (१६०० ई.-१८०० ई.)’ का प्रकाशन किया। यो मैंने औरंगाबाद से कुल ८ पुस्तकें प्रकाशित कीं।

इस तरह प्रकाशक बन जाने में लाभ भी हुआ और हानियाँ भी हुईं। पुस्तक व्यवसाय के अनुभव प्रकाशकों को अधिक रहते हैं। सभी पुस्तक विक्रेता और छोटे प्रकाशक आपको ईमानदारी से पुस्तकों की राशि दे देंगे, इसका विश्वास नहीं किया जा सकता। जो भी प्रकाशन मार्केट में नामी हैं, वे सभी व्यवहार में साफ रहते हैं। ऐसा हुए बिना वे प्रकाशकों के रूप में टिक नहीं सकते। कई ऐसे पुस्तक विक्रेताओं से सम्पर्क हुआ। उनमें तीन-चौथाई ऐसे रहे, जिन्होंने रुपया दिया ही नहीं। कुछ तो तुरन्त रुपये देनेवाले थे। हिसाब बराबर रखते थे। लेकिन सात/आठ पुस्तकें छाप कर और मात्र अपनी ही पुस्तकें छापकर मार्केट में जम जाना बहुत कठिन है। और फिर लेखक बनकर यह सब काम करना बहुत कठिन है। प्रेमचंद स्वयं प्रकाशक हो गए थे। इसमें उन्हें विशेष लाभ नहीं हुआ। प्रेमचंद

की पुस्तके प्रेमचंद की मृत्यु के बाद अधिक बिकी है और उसका लाभ उनके पुत्रों को और अन्य प्रकाशकों को मिला है ।

मुझमें प्रकाशन व्यवसाय में प्रधान रूप से दो भूलें हो गईं । बड़ी भूल ता यह हुई कि सभी पुस्तकों की मैंने ग्यारह सौ, ग्यारह सौ प्रतियाँ छपवाईं । मैंने देखा कि बड़े प्रकाशक भी मार्केट देखकर पुस्तक की प्रतियों का निर्धारण करते हैं । मैं तो मार्केट जानता ही नहीं था । दूसरी बात यह कि सभी पुस्तकों की जिल्दे बनवा लेता था । इसमें व्यर्थ में रुपया अधिक लग जाता था । आर्डर देखकर जिल्दे तैयार करवाना अधिक लाभप्रद रहता है । यह मैं नहीं कर सका । दूसरी भूल मुझसे कुछ पुस्तकों में नामकरण को लेकर हुई है । अनुभवी प्रकाशक कह देते हैं कि इस नामकरण से पुस्तक बिकेगी नहीं । वे मार्केट को देखकर और विषय को देखकर पुस्तक का नामकरण चाहते हैं । उदाहरण के लिए मैंने व्यक्तिवाचक मंज़ा पर काम किया । बाद में उसी विषय को भौगोलिक नामों तक सीमित किया । और उन नामों में भी तीन नगरों के नामों का चयन किया । वाराणसी, दिल्ली और औरंगाबाद । काम करते-करते दिल्ली नगर तक सीमित हो गया । पुस्तक लिख दी । भूमिका पूना के डॉ अशोक केळकर से लिखवाई । पुस्तक की पाण्डुलिपि ICSSR नई दिल्ली को भिजवाई । नामकरण के लिए लौटाई गई । समाधान लिखकर भेजने पर अनुदान मिला । उसके बाद में ईश्वरचंद्रजी के प्रयत्नों से राजपाल एण्ड सन्ज को ICSSR की ओर से मान्यता मिली । पुस्तक समय पर छप नहीं सकी । अनुदान कैसल हो सकता है । इस समय तक राजपाल एण्ड सन्ज का सारा काम ईश्वरचंद्रजी खण्डेलवाल देखते थे । लेखक को प्रकाशक से मिलने का काम ही नहीं रहता था । ईश्वरचंद्रजी ने काम लगभग छोड़ दिया था । इसलिए मुझे बाद में विश्वनाथजी से मिलना पड़ा । विश्वनाथजी ने पाण्डुलिपि सामने रखी और नामकरण पर विचार किया । अन्त में उनके कहने से पुस्तक का नामकरण नामों का भाषा विज्ञान रखा और वह पुस्तक फिर विश्वनाथजी ने छप दी ।

□ □

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की परियोजनाएँ

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को मैंने समय-समय पर परियोजनाएँ भेजी । वे हर बार स्वीकृत हुईं । प्रथम परियोजना तिरुपति में स्वीकृति हुई और उसको मैंने वहीं पर पूर्ण भी किया । नाम था मध्यकालीन वीरकाव्य । उसके लिए मुझे पाँच सौ रुपये मात्र पुस्तकों के लिए मिले थे । मैंने पुस्तकें खरीदीं । बाद में

वे सभी पुस्तके विश्वविद्यालय को लौटानी पड़ी। मुझे पुस्तके नहीं मिली। सारा हिसाब देना पडा। काम भी प्रस्तुत करना पडा। उसके बाद कार्य पूर्ण करने का प्रमाण-पत्र विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से मिला। १९६८ ई में पूर्ण की गई परियोजना के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए मैंने शोध-यात्राए आरम्भ की। १९६८ ई. में पूर्ण की गई परियोजना मैंने १९७८ ई में पूर्ण की। उसी को डी लिट्. का विषय बनाया। महाराजकुमार डॉक्टर रघुवीरसिंह के सहयोग से काम पूर्ण हुआ और उन्होंने डी लिट्. की पुस्तक की भूमिका लिखी। पुस्तक तो — पहले मे ही हिन्दी की पत्रिकाओं में छप गई थी। नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी), सम्मेलन पत्रिका (इलाहाबाद), कल्पना (हैदराबाद), सरस्वती (इलाहाबाद) आदि पत्रिकाओं में प्रबन्ध के लगभग सारे अध्याय छप गए थे। कुछ अतिरिक्त शोध-लेख भी छपे थे। जो शोध प्रबन्ध मे नहीं छपे थे। डी लिट्. का रजिस्ट्रेशन विलम्ब से हुआ और वह भी डॉ. विजयपालसिंह के कारण हुआ। उस समय भागलपुर गया। डॉ. शिवनन्दनप्रसाद के निर्देशन मे काम किया। १९७८ ई में डी.लिट्. की उपाधि मिली और १९७९ ई में 'हिन्दी वीरकाव्य सर्वेक्षण, वर्गीकरण तथा मूल्यांकन' (१६००-१८०० ई) का प्रकाशन १९७९ ई में किया। वह पुस्तक भी मैंने स्वयं प्रकाशित की। उस पुस्तक के बाद प्रकाशन बन्द कर दिया। मैं प्रकाशन की निरन्तरता को बनाए रख नहीं सका।

□ □

प्रकाशक बन जाने के लाभ

प्रकाशक बन जाने में आर्थिक हानि हुई। वह होनी ही थी। किन्तु उसके लाभ भी हुए। मैं जो भी पुस्तक छापता, उसकी सौ प्रतियाँ विद्वानों को, मित्रों को, पत्र-पत्रिकाओं को समीक्षार्थ भेज देता था। इससे कुछ विद्वानों के पत्र मिले। लगा पुस्तक पढी जाती है। पत्र-पत्रिकाओं मे समीक्षाएँ छपती रही। एक बात साफ लिख दूँ कि निजी प्रकाशक के होने पर हम औरो को पुस्तक अपनी इच्छानुरूप दे सकते है। प्रकाशक दूसरा हो और स्वयं लेखक न हो तो उसे गिनती की प्रतियाँ (अधिक से अधिक दस प्रतियाँ) मिलती है। और चाहिए तो खरीदना पडता है। प्रकाशको के अपने प्रचार के साधन होते है। वे अपने साधनों का उपयोग करते है। बहुत कम प्रकाशक होते हैं, जो पुस्तके समीक्षार्थ प्रस्तुत करते है। पत्रिकाओं को पुस्तके भेजते ही नहीं। मैंने जो पुस्तके स्वयं प्रकाशित की उनकी समीक्षाएँ जितनी छपी है, उतनी समीक्षाएँ प्रकाशको द्वारा छपी पुस्तको की नहीं छपी। मैंने पुस्तके छापते समय यह विचार ही नहीं किया कि इससे

मुझे कुछ आय होगी। मैं स्वयं यही चाहता हूँ कि लागत मूल्य मिल जाए। लागत मूल्य न मिलने पर तो हानि ही हानि है। इस तैयारी से या ऐसा होगा मानकर चलने से मुझे कोई दुख नहीं हुआ। मुझे मेरे लेखन के गुण-दोष समीक्षकों ने बतलाए। इससे मुझे निर्देश मिले। आत्मविश्वास बढ़ा और आगे काम करने में सुविधा हुई।

मेरी एक पुस्तक 'अर्थानुशासन' — छपी। प्रकाशक ने उस पुस्तक का पूरा सरस्करण बेच दिया। उसका पूरा हिस्सा भी मुझे दिया किन्तु उक्त पुस्तक की समीक्षा कहीं नहीं छपी। मुझे उक्त पुस्तक की प्रतिक्रिया मिली ही नहीं। मैंने उस पुस्तक के सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं पढ़ा। इसी तरह 'भाव, उद्वेग और संवेदना' पुस्तक छपी। उसकी समीक्षा भी मैंने कहीं नहीं पढ़ी। उस पुस्तक को मार्केट भी नहीं मिला। उसका एक कारण यह भी है कि उसके नामकरण में भूल हो गई। पुस्तक मूल रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'रस-मीमांसा' को आधार बनाकर लिखी गई और उसका प्रकाशन आचार्य शुक्ल की जन्म-शताब्दी वर्ष १९८४ ई में हुआ। उसकी शुभाकाक्षा डॉ. नगेन्द्र ने लिखी और दो शब्द डॉ. भालचन्द्र तेलंग ने लिखे थे। इस पर भी पुस्तक के नामकरण में तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम था और न ही उनकी पुस्तक 'रस-मीमांसा' का नाम था। पुस्तक का नाम 'भाव, उद्वेग और संवेदना' था। यह नाम विषयपरक था और दार्शनिक स्वरूप का था। इस नामकरण के कारण पुस्तक को मार्केट नहीं मिला। इस सम्बन्ध में मुझे एक पाठक का पत्र मिला। पत्र उद्धृत कर रहा हूँ —

मुलतान अहमद

जूनी कसाई की चाल

रखियाल रोड,

अहमदाबाद ३८० ०२३

दिनांक ३१-९-१९८६ ई

आदरणीय बोर्राजी,

आपकी पुस्तक 'भाव, उद्वेग और संवेदना' पढ़ी। मैं चाहता था कि इसका खूब गहन अध्ययन करने के बाद ही आपको पत्र लिखूँ। लेकिन जिस तरह एक बेहतरीन कविता अभिभूत कर लेती है, उसी तरह इस पुस्तक ने अभिभूत कर लिया और मुझे पत्र लिखने को विवश कर दिया। कहा जाता है कि ज्ञानात्मक पुस्तकें अभिभूत नहीं करती।

भावों के जिन सूक्ष्म भेदों के बाग़े में शका थी, दूर हुई ।
आभासी ज्ञान दृढ़ ज्ञान में बदला । जिन भावों का ज्ञान था उनका
पुनरावर्तन रोचक लगा ।

पुस्तक पढ़ते हुए ऐसी इच्छा जगी कि इन विषयों पर बोलते
हुए आपको सुना जाए तो कितना सुखद अनुभव होगा ।
आशा है स्वस्थ एवं सानन्द होंगे ।

आपका

सुलतान अहमद

मेरा लेखन विषयपरक अधिक था । सुलतान अहमद का पत्र विषयपरक है ।
व्यक्ति शुक्ल का उल्लेख कही नहीं है । सुलतान अहमद ही क्यों जाने माने विद्वान् समीक्षक
डॉ. विश्वभरनाथ उपाध्याय को उक्त पुस्तक के छप जाने से पूर्व उसका एक अध्याय
जो मराठवाड़ा यूनिवर्सिटी के जर्नल में प्रकाशित हुआ था, उसकी अनुमदित प्रति
भेजी थी । उसकी प्रतिक्रिया भी कुछ ऐसी ही थी । पत्र इस प्रकार है —

७ड-२५ जवाहर नगर

जयपुर-४, (राजस्थान)

दिनांक १७-१२-८३

प्रिय भाई,

शांघ लेख । धन्य । आपने बड़ा परिश्रम किया है पर शुक्लजी
की भाव की — धारणा पर तुलनात्मक आलोक और पड़ता, तो
बेहतर रहता ।

भवदीय

विश्वभरनाथ उपाध्याय

उपाध्यायजी ने ठीक ही लिखा । मेरा लेखन विषयपरक अधिक हो गया ।
मैंने प्रकाशक को पुस्तक का नामकरण बदलने के लिए कहा है । कहा है और
लिखा भी है — 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रस-मीमांसा' । अब देखना है
कि यह काम कब होता है ?

संक्षेप में मैं कहना यह भी चाहता हूँ कि निजी प्रकाशन के अपने लाभ
हैं । प्रकाशक दूसरे हो तो पुस्तक की प्रतिक्रियाओं से अवगत होना कठिन हो जाता
है । निजी प्रकाशन में व्यावसायिक भूले हो जाती है और आर्थिक हानि भी होती
है । उसका लाभ अप्रत्यक्ष रूप में होता रहता है । वह मालूम नहीं पड़ता ।

□ □

सम्पादन

हिन्दी विभाग का एकेडेमिक कार्य मैं करता रहा हूँ। विशेष रूप से सम्पादन का काम मैं करता था। इस कार्य में डॉ० भू. ह. राजूरकरजी ने मदद मुझे सहयोग दिया। उनके सहयोग और समर्थन के कारण लगभग दस-बारह पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। और ये पुस्तकें प्रायः दिल्ली से प्रकाशित हुई हैं।

विभाग में एम. फिल. की कक्षाएँ होती थीं। उसका पाठ्यक्रम था। चार प्रश्न-पत्रों में दो प्रश्न-पत्र सामान्य (सबके लिए) थे। अनुसन्धान की पद्धति से सम्बन्धित थे। अतः पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए विद्वानों से लेख मगवाए। देश के छोटी-छोटी विद्वानों ने आलेख भेजे हैं और क्रमशः चार पुस्तकें तैयार हुई हैं। इन चारों पुस्तकों में तीन पुस्तकों का प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली से हुआ है। चौथी पुस्तक अप्रकाशित है और अभी प्रकाशक के पास पड़ी हुई है। पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

१) हिन्दी अनुसन्धान का स्वरूप (१९७८ ई.)

२) हिन्दी अनुसन्धान के आयाम (१९८१ ई.)

३) आधुनिक साहित्य और अनुसन्धान (१९९७ ई.)

चौथी अप्रकाशित पुस्तक का नाम है—

४) साहित्य और समन्वयी विधाशाखाएँ (अप्रकाशित)

विभाग में संगोष्ठियों का आयोजन हुआ। इन संगोष्ठियों में देश के विद्वानों के भाषण हुए हैं। विद्वानों से प्रायः लिखित आलेख मांगे गए। सामग्री एकत्रित हो गई। उनका सम्पादन किया और पुस्तकें प्रकाशित की हैं। तुलनात्मक अध्ययन पर संगोष्ठी हुई। इस विषय पर दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। वाणी प्रकाशन, दिल्ली द्वारा इनका प्रकाशन हुआ। नाम इस प्रकार हैं—

५) तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप और समस्याएँ (१९९० ई.)

६) तुलनात्मक अध्ययन भारतीय भाषाएँ और साहित्य (१९९२ ई.)

न्यायमूर्ति मुरलीधरराव कानडे उपकुलपति थे। उनके कार्यकाल में डॉ० नगेन्द्र 'हिन्दी नाटक और रंगमंच' संगोष्ठी का उद्घाटन करने के लिए आए थे। साथ में डॉ० इन्द्रनाथ चौधुरी भी आए थे। संगोष्ठी सफल हुई। उनके आलेख मिले। उस समय 'हिन्दी नाटक और रंगमंच' पुस्तक का सम्पादन हुआ। पचशील प्रकाशन, जयपुर से उसका प्रकाशन हुआ।

७) हिन्दी नाटक और रंगमंच (१९८८ ई)

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ नारायण शर्मा ने सहयोग दिया है।

विभाग में वुजुर्ग सदस्य डॉ चन्द्रभानु सोनवणे थे। वे सब से पहले सेवानिवृत्त हुए। उनको अभिनदन-ग्रथ देने का निर्णय विभाग में हुआ। उनके नाम से सहयोगगणि विभाग में एकत्रित हुई। उस राशि का उपयोग कर विभाग में हुई अनुवाद संगोष्ठी की सामग्री का सम्पादन किया। तदनुसार उक्त पुस्तक का प्रकाशन वाणी प्रकाशन, दिल्ली से किया।

८) अनुवाद क्या है ? (१९९३ ई)

विश्वविद्यालय अनुवाद आयोग की व्याख्यानमाला के अन्तर्गत कई विद्वान् विभाग में आए हैं। उन व्याख्यानों को एकत्रित कर उन्हींके नाम से पुस्तके विभाग की ओर से प्रकाशित हुई हैं। इनमें दो नाम हैं। 'आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री' और डॉ. एस. टी. नरसिहाचारी। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की पुस्तक का प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस से हुआ और आचार्य डॉ. एस. टी. नरसिहाचारी की पुस्तक का प्रकाशन राधाकृष्ण प्रकाशन से हुआ है।

९) अनुचिन्तन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री (१९८६ ई.)

१०) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्यिक अभिरूचि और समीक्षा (१९९६ ई)

इन सब पुस्तकों के सम्पादकीयों में सम्बन्धित पुस्तक के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है। यहाँ पर केवल नामों का उल्लेख हुआ है।

सम्पादन के अपने अनुभव हैं। प्रकाशन तुरन्त होता नहीं है। पुस्तके वर्ष दो वर्ष में छपती नहीं है। लम्बी प्रतीक्षाओं के बाद आर्थिक सहयोग से पुस्तके छपती हैं। यह सच्चाई है। पुस्तकें इसलिए छपीं कि उनके लेखक देश के ख्यात लेखक हैं। पुस्तके लेखकों के नाम से जानी जाती हैं। दूसरी बात एकेडेमिक पुस्तकें छापते समय प्रकाशक पाठ्य-पुस्तक का ध्यान रखता है। कम-से-कम सहायक पुस्तक तो होनी ही चाहिए। आर्थिक सहयोग तो कहने के लिए होता है। सच्चाई यह है कि मात्र आर्थिक सहयोग से पुस्तक छपती नहीं है। प्रकाशक तो पुस्तके बेचना चाहता है और खरीदनेवाले लेखकों के नाम देखते हैं। लेखकों के नाम नहीं लिख रहा हूँ। वे सब पुस्तकों में हैं। सारा श्रेय मैं लेखकों को देता हूँ। उनके कारण श्रम सार्थक हुआ है।

□ □

5

व्यंकट अम्बेकर

व्यंकट अम्बेकर मेरा एकमात्र अम्बाजोगाई का मैट्रिक का सहपाठी है, जिम्ने अन्त तक मुझ से सम्पर्क बनाए रखा है। हम दोनों एक ही कक्षा में थे। उसके पिता और काका की मण्डी बाजार में पुल के निकट दुकान थी। वही एकमात्र सहपाठी है, जो औरंगाबाद में मेरा स्वागत करनेवाला और अपने घर पर आश्रय देनेवाला था। मैं सोलापुर में सीधे जब औरंगाबाद आया, (३ दिसम्बर, १९६८ ई की रात्रि में) उस समय वह शाहगज बस स्टैण्ड पर मेरी प्रतीक्षा में था। मैं उसके घर पर गया और वही डेरा डाल दिया। उसीकी साइकिल लेकर यूनिवर्सिटी गया। व्यंकट का घर उस समय जिन्सी में था। मार्किट कमेटी में वह अधिकारी था और उसे कार्टर मिला हुआ था। उसीमें वह रहता था।

व्यंकट का घर अम्बाजोगाई में सदर बाजार में ही था। हमारे बाजार के पीछे गोपू अभये के घर के निकट उसका घर था। मैट्रिक हो जाने के बाद.

मैं तो सिकंदराबाद चला गया। किन्तु लगता है, उसने अपनी पढ़ाई बन्द कर दी। शीघ्र ही उसे नौकरी मिल गई। मार्किट कमेटी में काम मिला। सिकंदराबाद से लौट आता तो परली से अम्बाजोगाई जाना पड़ता। परली में वह उसी समय मार्किट कमेटी में काम करते हुए मिला। परली से उसकी बदली हैदराबाद में हो गई थी। हैदराबाद में उसका कार्यालय नामपल्ली से बेगम बाजार के रास्ते पर, दूसरी मजिल पर था। वहाँ पर भी वह मिला। यों हमारी भेट होती रही। सम्पर्क छूटा नहीं। मैं उसे मिलने के लिए विशेष रूप से जाता रहा हूँ। उसका तेजमल से अच्छा परिचय ग्हा है। दोनों सदैव अवसर मिलने पर मिलते रहे हैं। औरंगाबाद पहुँचते-पहुँचते वह मार्किट कमेटी का अधिकारी हो गया। सम्भवत उसने कुछ परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हो। मैंने कभी पूछा नहीं।

व्यक्त को अम्बाजोगाई का आकर्षण रहा है और सदा बाजार के साथियों का स्मरण सदैव रहा। मुझ से ज्यादा उसके पास साथियों की सूचनाएँ रहती। वह मद्य से सम्पर्क बनाए रखता। औरंगाबाद में उसकी मित्र-मडली का विस्तार था। निजामकालीन तौर-तरीके उसे मालूम थे। कार्यालयीन व्यवस्था से उसका अच्छा परिचय था। मैं जब औरंगाबाद आया तो उस समय निजामकालीन व्यवस्था और कार्य-पद्धति जारी थी। उर्दू भाषा का प्रचलन पूरी तरह बन्द नहीं हुआ था। सरकारी कार्यालयों में उर्दू जाननेवालों की संख्या अधिक थी। व्यक्त हैदराबाद में रहने के कारण उस तहजीब से परिचित था। स्वयं उसके कार्यालय में निजामकालीन पद्धति जारी थी। बातचीत में हम दोनों हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते। वह कार्यालयीन मुहावरों और शब्दों का उपयोग करता। वह प्रायः उर्दू का उपयोग अधिक करता। 'दस्तखत करो मियाँ' वह मियाँ की भाषा अधिक जानता था। बाद में उसके कार्यालय में भी मराठी का व्यवहार होने लग्ग था। फिर भी वह साहबी मिजाज की बातें अधिक करता था। कार्यालयों की कार्य-पद्धति से और उस-भाषा में परिचय रखने के कारण उसके काम तुरन्त हो जाते थे। कागज कहाँ अटका है? किससे मिलना चाहिए? यह सब वह ठीक जानता था।

अम्बाजोगाई में रहते समय में मेरा गोपू से अधिक मेलजोल नहीं था। मैं गोपू के घर पर बहुत नार गया हूँ। गोपू के पिताजी विनायकराव के पास बैठकर समर्थ रामदास का दासबोध सुनता था। उन्हें रामचरितमानस का पाठ सुनाता था। गोपू के दादा मारुति मामा, दादाजी के पास चबूतरे पर तुरपई करते हुए बैठे रहते थे। और विनायकराव मेरे काकाजी के साथ चौपड (रात में बागह बजे तक)

खेलते रहते थे। काकाजी को चौपड खेलने का शौक था। गोपू मदरसे फोकानिया में मुझ से दो जमाअते आगे था। मैं हस्तुम में था तब वह दहुम में था। वह १९४९ ई. का मैट्रिक है और मैंने १९५१ ई. में मैट्रिक किया। पढने-लिखने में उमका ध्यान रहता था। वह प्रथम श्रेणी में मैट्रिक उत्तीर्ण हुआ। बाद में वह इजिनिअरिंग कालेज में, जाइन हो गया। उम्मानिया विश्वविद्यालय से इजिनिअरिंग की उपाधि उसे मिल गई। मैं जब औरंगाबाद आया, उस समय गोपू औरंगाबाद में रहता था। वह ऊचे पद पर था। अधिकारी था।

व्यकट का गोपू से अच्छा परिचय था। वह मुझे गोपू के घर ले गया। मैं गोपू से मिला। उसे प्रसन्नता हुई कि मैं भी औरंगाबाद आ गया हूँ। जिस मकान में मैं मिलने गया, उस मकान — बगला कहना चाहिए — में वह रहने के लिए नया-नया ही गया था। बन्सीलालनगर में उसने फायर ब्रिगेड के मोड की गली में बंगला बनवाया था। दुमजला बगला बनवाया। आज भी वह सेवानिवृत्त होने के बाद उसी बगले में रहता है।

गोपू को यहाँ पर 'गोपू' कोई नहीं कहता। अम्बाजोगाई में हमारी बाल-मडली मब उसे गोपू कहते थे। मैं भी उसे इसी नाम से जानता था। यहाँ पर, वह 'अभगे' के नाम से पहचाना जाता था। उसके पिताजी औरंगाबाद आते-जाते रहते थे। जब भी पिताजी आते, मैं उनसे मिलने जाता रहा हूँ। वृद्ध हो गए थे। मिलकर बहुत खुश होते थे। उनका एक वाक्य मुझे आज भी याद है — 'पुरुष्या शाळेला गेला'। चौपड खेलते समय वह उस मुहावरे का प्रयोग करते रहते थे। चौपड हमारे घर के सामने खेलते रहते थे। बिछायत वही होती। काकाजी भी खेलते। उनके और साथी भी जुट जाते। 'पुरुष्या शाळेला गेला' वह उस समय कहते जब चौपड की कोई गोट उड़ जाती (आउट हो जाती)। अपनी गोट को दूसरे की उड़नेवाली गोट में टकराकर खुशी से चिल्लाते हुए कहते — 'पुरुष्या शाळेला गेला' (अर्थात् पुरुषोत्तम स्कूल चला गया है)। पुरुषोत्तम, विनायकराव अभगे के भतीजे का नाम है। गोपू अभगे का वह भाई है। वह भी औरंगाबाद में रहता है। समर्थनगर में उसने भी बंगला बनवाया है। व्यकट के कारण मैं उससे भी मिला हूँ। बाद में भी उससे मिलना होता रहा है।

मेरे बड़े काकाजी (भागचन्द्रजी) सिकंदराबाद से यहाँ आए थे। मैं उस समय थाउन हॉल की आनंद नगर कालोनी में रहता था। उन दिनों में विनायकराव भी यही पर थे। मैं विनायकराव के पास काकाजी को लेकर गया। दोनों पुराने मित्र

मिल । बहुत प्रसन्न हुए । उनका मिलना दुर्लभ था । काकाजी ने भी अम्बाजोगाई छोड़ दिया था । वे मिकदराबाद में रहने लगे थे ओंग वही से आए थे । वर्षों बाद में किमी पुराने मित्र को मिलकर जो प्रसन्नता होती है, वह देखते ही बनती है । बूढ़ा आदमी अतीत में खोया रहता है । उसके सुख के प्रोत अतीत में बिखरे रहते हैं । अक्सर मिलते ही उन्हें दोहराने के प्रयत्न होते हैं । बातचीत में अतीत को दोहराया जाता है । काकाजी बहुत खुश हुए थे । उसके बाद काकाजी मुनिल के विवाह के अवसर पर आए । (१९८५ ई में), बाद में नहीं आए । उम्मी समय वे अस्सी से ऊपर थे । १९८६ ई. में वह चल बसे । उनके मित्र विनायकराव अभाग की स्थिति भी वही थी । बीमार हो गए थे । मुझे मालूम हुआ तो अस्पताल में मिलने गया था । बाद में वे भी नहीं रहे ।

व्यक्त के कथानक में गोपू आ गया । इसी तरह व्यक्त ने गोविंद से मिलवाया । गोविंद यही पर रहने लगा था । वह तो अम्बाजोगाई में ठीक हमारे घर के सामने रहता था । उसे चित्रकला का शौक था । वह चित्रकार हो गया । कमर्शियल आर्टिस्ट हो गया । वह मैट्रिक में उत्तीर्ण नहीं हुआ । उसने पढाई बन्द कर दी । औरंगाबाद में वह चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हो गया । उसे बोर्ड, बैनर बनाने के काम मिलते । विज्ञापनों का काम मिलता । वह ऊपड़ पर, दीवारों पर भी पेंटिंग करने लगा था । नए डिज़ाइन बनाकर देता था । खूब काम करता रहा है । मेरी पुस्तक जब औरंगाबाद में छपने लगी तो उनके मुखपृष्ठ उसीने बनवाए । १९७१ ई से १९७९ ई तक पुस्तकें औरंगाबाद में छपती रही हैं और उनके कवर डिज़ाइन उसीने बनवाए हैं । फाइन आर्ट्स में रुपये कम मिलते हैं । इसलिए इस क्षेत्र में उसकी अभिरूचि कम थी । उसके पास सोचने-विचारने का समय कहाँ ? काम का ढेर पड़ा रहता और ग्राहक द्वार पर खड़ा ही रहता । गोविंद के लिए चित्रकला रुपये कमाने का साधन था । उसीसे उसका निर्वाह होता रहा है । वह पोस्टर बनवाता रहता था और उसके लिए दूसरे गाँव भी चला जाता था । हमारे क्षेत्र अलग-अलग हो गए । फिर भी हम मिलते रहते थे । अब तो गोविंद ने काम करना बन्द कर दिया है । 'एन-४' (सिडको में) में उसने मकान बनवा लिया है । दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं । सबके विवाह कर दिए । आत्मकथा का पहला भाग यहाँ पर छप रहा था । गोविंद से फोनपर बात की । समय निकाल कर उससे मिलने गया । खडकेश्वर के मन्दिर के पास मिले । उससे कवर डिज़ाइन बनाने कहा । यद्यपि उसने काम करना बन्द कर दिया फिर भी वह मान गया ।

उसने चित्र जना दिया, घर पर आकर ट दिया। अम्बाजोगाई से कस्तूरचंद मुथा आया। गोविंद के पडोस में ठहरा हुआ था। गोविंद उसे लेकर घर आया। मेरा मिलना हो गया।

व्यक्त ने जिनसी में रहते हुए स्वामि दम्बाजे से लगकर नई बनी हाउसिंग सोसायटी में अपने लिए प्लॉट खरीदा। उमका बड़ा भाई विष्णु हैदराबाद में रहता था। वह व्यक्त के पाम आने-जाते रहता था। बड़े भाई के लिए अलग से प्लॉट खरीद लिया। मुझे भी प्लॉट दिलाना चाहता था। किन्तु मैंने नहीं खरीदा। व्यक्त ने स्वयं का और भाई का मकान बनवा लिया। रहने के लिए नहीं गया। इसी बीच मेरे माहू ने मनीषा हाउसिंग सोसायटी में मेरे लिए प्लॉट देखकर रख लिया। उस समय वे परभणी में रहते थे। परभणीवालों के समूह की वह सोसायटी थी। मुझे प्लॉट दिखा लाया। उस समय प्लॉट की रकम देने की स्थिति में नहीं था। तिरुपति से नया नया आया था। यह १९६९ ई की बात है। सोसायटी के प्लॉट्स बचे जा रहे थे। बम्ब साहब ने पहले विचार किया कि एक बड़ा प्लॉट दोनों में खरीद लेंगे। बाद में उन्होंने वह प्लॉट मुझे ही दिला दिया। यो १९६९ ई में बात पक्की हो गई। तिरुपति में प्राविडेंट फंड की रकम आई नहीं थी। वह १९७० ई. के बाद (दो वर्ष पूरा होने के बाद) मिलनेवाली थी। इसलिए ठहरना पड़ा। १९७१ ई. के आरम्भ के महीनों में वह आई। उक्त राशि मैंने अदा कर दी और प्लॉट मेरे नाम पर हो गया। बम्ब साहब ने भी अपने लिए स्वतंत्र प्लॉट, उसी समय खरीद लिया। उस समय प्लॉट खरीदना ही हुआ। मकान नहीं बनवा सका।

व्यक्त ने मकान तो बनवा लिया किन्तु वह रहने के लिए नहीं जा सका। उमने क्वार्टर में रहते हुए ही अपनी बड़ी लड़की का ब्याह कर दिया। उस समय अम्बाजोगाई की मित्र-मंडली एकत्रित रूप में मिली।

औरंगाबाद में राजनीतिक परिवर्तन हुआ। शिव सेना का प्रभाव बढ़ने लगा। इसके कारण दंगा हुआ। गोलियों चली। कुछ लोग गलती से गोलियों के शिकार हुए। कर्फ्यू लग गया। हमारे लिए रेलवे स्टेशन जाना मुश्किल हो गया था। आरक्षित टिकट था। मेहमानों से कहा — 'आप जालना चले जाओ और वहाँ से ट्रेन पकड़ लो। बस स्टैंड निकट था। उस ओर कोई गडबड़ नहीं थी। उन्हे बस में बैठा दिया गया। जालना में उन्होंने ट्रेन पकड़ ली। सिकंदराबाद पहुँच गए। उस समय मुस्लिम बस्तियों में रहनेवाले हिन्दुओं ने अपने मकान बेच

दिये और हिन्दू बस्तियों में चले आए । हमारे विभाग के श्री अनिल कोठारकर ने भी अपना नया बना मकान बेच दिया और खिंवसरा पार्क के आगे की सोसाइटी में फ्लैट खरीद लिया । नया मकान बनवा लिया । उसमें रहने लगा ।

व्यक्त ने दोनों बगले (स्वयं का और भाई का) जिनसी में बनवाए थे । किन्तु जल्द ही उसकी समझ में आ गया कि वह सोसाइटी मुस्लिम बस्तियों से घिरी हुई है । उसने कोकणवाड़ी में नया फ्लैट खरीद लिया । वह निर्णय ठीक रहा । कोकणवाड़ी हमारी सोसाइटी से लगकर ही है । वहाँ के कुछ मुसलमानों ने अपने मकान बेच दिए और मुस्लिम बस्तियों में चले गये ।

जून १९८० ई में व्यक्त अपने परिवार के साथ तीर्थयात्रा की योजना से काशी गया । उस समय उसका दस वर्ष का बालक अजय साथ में था । मणिकर्णिका घाट के कुड में वह अज्ञात आकर्षण से नहाने के बहाने गिर गया और डूब गया । बाद में उसकी मृत्यु हो गई । इस घटना को व्यक्त ने विस्तार से प्रसंगों में यात्रा के क्रम में जो कुछ घटित हुआ, वह सब सुनाया । मैंने उस वृत्त को उसी समय व्यक्त की सवेदना के साथ लिख लिया । बाद में मैंने 'अजय की तीर्थयात्रा' यथावत् (सत्यकथा ही कहना चाहिए) लिख डाली । वह कथा दिल्ली से प्रकाशित 'प्रकाशित मन' में सितम्बर १९८१ ई. के अंक में प्रकाशित हुई । छपवाने के बाद मैंने व्यक्त को मुद्रित प्रति दी । दिल्ली भेजने से पहले भी उसको कहानी सुनाई थी । वह चर्कित था । अजय को भूलता नहीं था ।

हमारी कालोनी 'आनन्द नगर' (टाउन हॉल), में पडोस में डॉ. माली रहते थे । व्यक्त उनके पास आता रहता था । पडोस में रहने के कारण डॉ. माली से अच्छा संपर्क था । कुछ दिनों बाद वे अमरीका चले गये । कुछ वर्षों बाद पुनः आए । मिलने आए और लौटने से पहले उन्होंने बच्चों के फोटोग्राफ्स लिए । व्यक्त से भी मिले । अमरीका से उन्होंने फोटोग्राफ्स की प्रतियाँ भिजवाईं । व्यक्त के मित्र, मेरे मित्र हो गए ।

मैं जब मनीषा कालोनी में मकान बनवाने लगा तो उसने सीमेंट प्राप्त करने में मेरी सहायता की । सरकारी कीमत पर मुझे सीमेंट मिला । बात यह है कि उस समय अब्दुल रहमान अतुले मुख्यमंत्री थे । एशियाड गेम्स का वर्ष था । इंदिरा गांधी का शासन था । दिल्ली में उस समय खेल गॉव बन रहा था । फ्लाय ओवर बन रहे थे । अतुले सीमेंट दिल्ली भिजवा रहे थे । औरंगाबाद में मड़क से सीमेंट ले जाना अपराध था । ऐसे समय में मैंने मकान बनवाया । कथा लम्बी है । व्यक्त को सब स्रोत मालूम थे । उसने उस समय आवश्यक सहायता की है ।

ऐसे मित्र की अचानक मृत्यु का समाचार सुना तो विश्वास नहीं हुआ। मैं वहीं बाहर गया हुआ था। लौटते ही घर पर समाचार मिला। व्यकट नहीं रहा है। हम दोनों उसके घर पर (जिनसीवाले क्वार्टर पर ही) गए। उसका बड़ा भाई हैदराबाद से आया हुआ था। परिवार के अनेक सदस्य एकत्रित हुए थे। सब मुझे पहचानते थे। उस समय मृत्यु की घटना का विवरण मिला।

हुआ यो — व्यकट ट्रेन से नान्देड जा रहा था। अपनी बड़ी लडकी को पहुँचाने जा रहा था। एकदम स्वस्थ था। बड़ी लडकी मधु मात्र अकेली साथ में थी। एक्सप्रेस गाड़ी थी। सेलू में नीचे उतरकर 'चने' लिए। मधु को चने खिलाए। चने तो खा लिए। अब पानी की माँग हुई। पानी के लिए पुन ट्रेन से नीचे उतरे। पानी लेने उतना समय नहीं था। ट्रेन छूटनेवाली थी। फिर भी दौड़कर पानी लेकर दूसरे हाथ से ट्रेन पकड़ ली। एक हाथ में पानी और दूसरा हाथ ट्रेन के हैंडल पर। गाड़ी चल पड़ी। पानी छोड़ देते तो दूसरे हाथ से भी हैंडल पकड़ कर गाड़ी में चढ़ा जा सकता था। होनहार को क्या कहे। गाड़ी में वेग आ गया। व्यकट अपने शरीर को सभाल नहीं सका। झटके में हाथ छूट गया। गिर पड़ा। फिर वह तो दौड़ती ट्रेन थी। सेलू पर वह एक्सप्रेस गाड़ी अधिक ठहरती थी नहीं। गिरने से पटरियों से रफ़टा गया। ट्रेन आगे बढ़ गई। कुछ ही पल में वह चकरा गया। वहीं पर अन्त हो गया। पानी के बहाने मुस्कुरानेवाला व्यकट सदा के लिए चला गया। मुझे यह वृत्त मालूम हुआ तो और भी बुरा लगा। अजय की घटना में कुण्ड ने अजय को खींच लिया और इस घटना में पानी का बहाना हो गया। मौत के लिए बहाना चाहिए। पीछे रहनेवाले कर्मकाण्ड करते रहते हैं। जो हुआ, उसे दोहराते हैं।

अब तो व्यकट के परिवार ने जिनसीवाला क्वार्टर छोड़ दिया है। वह परिवार कोकणवाड़ीवाले फ्लैट में रहने आ गया है और वहीं पर रहता है। अजय का बड़ा भाई संजय अब सब कुछ देखता है। संजय का विवाह उसकी मृत्यु के बाद में हुआ। मेरे लिए तो व्यकट स्मृतियों की धरोहर है। यहाँ पर रहते हुए भी वह अम्बाजोगाई से सम्पर्क बनाए हुए था। समाचार उससे मिलते रहे हैं। सूचनाएँ भी मिली है। व्यकट की तरह गोपू (पूरा नाम गोपालराव अभगे) भी नहीं रहा। स्थानीय समाचार पत्र लोकमत में समाचार छपा कि (३ अगस्त २००३) २ अगस्त २००३ को हृदयाघात से उसका निधन हो गया। निधन के समय वह ७२ वर्ष का था।

□ □

डा. नारायण रघुनाथराव राजदेरकर (एन आर. राजदेरकर)

औरंगाबाद में सबसे पहले मेग आवास मिल कार्निर, कोतवालपुरा, में सुस्कर साहब का बगला था । यह १९६८ ई -१९७० ई की बात है । डॉ राजदेरकर मेरे पडोसी थे । उनके घर पर हारमोनियम बजते रहती थी । हमारी नम्मू दौडकर उनके घर पर चली जाती । इसी तरह उनकी लडकी अंजु दौडकर हमारे घर पर चली आती । यों परिचय बच्चो के माध्यम से हुआ । बच्चों के लिए पडोस का घर, उनका अपना घर होता है । तब मे अब तक उनका परिचय रहा है । उनके व्यक्तित्व और पारिवारिक जीवन को जानने में समय लगा ।

पडोसी के नाते ही और बच्चो के कारण उनके घर पर जाना-आना हुआ । एक कलाकार के रूप में मैंने उन्हें जाना । मालूम हुआ, वे कीर्तन करते है । कीर्तनकार है । विश्वविद्यालय मे वे बाटनी विभाग में काम करते है ।

सेवानिवृत्त होने के बाद उनसे परिचय बढ़ता गया । मैंने उनसे उनका परिचय पूछा । बतलाया कि उनका मूल गाँव मेहकर (जि बुलढाना) है । चार भाइयों में सबसे छोटे हैं । पिताजी रघुनाथराव कानूनदों थे । उनकी पढाई पुणे में हुई । फर्ग्यूसन कालेज, पुणे के छात्र रहे । उसी समय अहमदनगर की छात्रा कु. तमीज बानो दारुवाला वाडिया कालेज, पुणे में पढती थीं । दोनों में प्रेम हुआ । वह बी.ए आनर्स में पढती थी । प्रेम की परिणति विवाह में हुई और इस विवाह को उस काल के समाज-सुधारको और शिक्षाविदो का आशीर्वाद मिला । जयकर, सर रघुनाथराव परांजपे, वीर सावरकर आदि ने इस विवाह में अभिरूचि ली । ६ मई १९५६ को यह विवाह सम्पन्न हुआ और कु तमीज बानो दारुवाला, विद्यादेवी हो गई । पुणे जैसे स्थान में यह विवाह क्रान्तिकारी विवाह था । १९५५ ई में एम.एस सी आनर्स हुए । आरम्भ में खामगाँव (बिदर्भ) में गोविंदराम सक्सेरिया कालेज में अध्यापक नियुक्त हुए । वहाँ से मराठवाडा में आए । बीड के बलभीम कालेज में वाइस-प्रिंसीपल हुए । १९५९ ई. में औरंगाबाद आए । १९५९-१९६२ ई. तक देवगिरि कालेज में बाटनी विभाग के अध्यक्ष थे । उसी समय मराठवाडा विश्वविद्यालय के बाटनी विभाग में वाइस-चांसलर डोंगरकेरी के कारण प्रवेश मिला । Ph.D. नहीं थे । गाइड ठीक से नहीं मिला । अतत. वाइस-चांसलर की कृपा से उन्हें Ph.D करने की अनुमति मिल गई । त्रिना गाइड के उन्होने अपना प्रबन्ध प्रस्तुत किया । १९६८ ई. में पी-एच डी हुए । लगातार प्रयास के बाद विभाग में लेक्चरर हुए. बाद में रीडर हुए और फिर प्रोफेसर हुए । बाटनी विभाग में रहते

हुए उन्होंने पर्यावरण विभाग को स्वतन्त्र विभाग में परिणत किया और अन्ततः उस नये विभाग में प्रोफेसर एब अध्याक्ष हुए । १९९४ ई में सेवा निवृत्त हुए ।

राजदेरकर साहब की पहचान कोट और टाई है । कोट और टाई — को वे सामान्य वस्त्रों की तरह पहनते हैं । मराठी और अंग्रेजी धारा प्रवाह बोलते हैं । भ्रम पर खड़े हो जाए तो माइक छोड़ते नहीं हैं । मराठी भाषा पर उनका अधिकार सत-वाङ्मय के ज्ञाता होने के कारण है । उनकी ख्याति का प्रधान कारण कीर्तनकार होना है । उन्होंने कीर्तन करना १९५८ ई में आरम्भ किया । तेईस वर्ष की अवस्था में महर बाबा से भेंट हुई । गुरु प्रसाद पैलेस, वन गार्डन, पुणे में मेहर बाबा के सामने पहला कीर्तन हुआ । उसी समय मेहर बाबा ने राजदेरकर के सिर पर पुणेरी पगडी रखी और कीर्तन करने का आदेश दिया । उस समय एक हजार आठ कीर्तनों का सकल्प किया । अब वे बतलाते हैं कि उस सख्या को उन्होंने पार कर लिया है । अब तो उनके ११९० कीर्तन हो गए हैं । देश में तो उन्होंने कीर्तन किए ही हैं, विदेश में भी उनके कीर्तन हुए हैं । १९९२-१९९३ ई. में राजदेरकर ग्लोबल काँग्रेस में अमरीका गए । वहाँ पर १३ मेट्रोपालिशियन (महानगरों) में उन्होंने कीर्तन किए हैं । वहाँ पर १३ कीर्तन अंग्रेजी में और एक कीर्तन हिन्दी में किया । कीर्तनों के कारण उन्हें अमरीका में अधिक समय तक रुकना पड़ा । उनके कीर्तन अमरीका में पसन्द किए गए ।

राजदेरकर की पहचान का आधार 'साईबाबा' है । वे साईबाबा के परम भक्त हैं । कोतवालपुरा में रहते समय, उन्होंने खडकेश्वर के मार्ग पर प्लाट खरीदा । उस पर चाहने पर भी अपनी इच्छानुरूप बंगला नहीं बना सके । कोतवालपुरा छोड़ने के बाद वे यूनिवर्सिटी के क्वार्टर में रहने चले गए । और सेवानिवृत्त होने तक क्वार्टर में ही रहे । सेवानिवृत्त होने के एक वर्ष पूर्व वे अमरीका गए । लौटकर आने के बाद उनका ध्यान मकान बनाने की ओर गया । वे उस कार्य में जुट गए । क्वार्टर छोड़ने के बाद वे सीधे अपने नये 'साई सदन' में चले आए । अपनी एक मात्र कन्या अजु का विवाह मुंबई में कर दिया । उसे डॉक्टर बनवाया । बेटी और जंबाई दोनों ही बम्बई में अधेरी में रहते हैं । अपने भवन में वे दोनों ही रहते हैं । राजदेरकर का अपना साईबाबा का मंदिर है । नये भवन में सामने का बड़ा हाल साई बाबा का मन्दिर हो गया है । प्रत्येक गुरुवार को सायंकाल में ७ बजे विधिवत् पूजा-आरती होती है । इस पूजा-आरती में श्रीमती विद्या राजदेरकर अभिरुचि लेती है ।

कीर्तनकार होने के साथ-साथ राजदेरकर ज्योतिषी भी हैं। हाथ देखते हैं। चेहरा देखते हैं। ज्योतिष के गणित से परिचित हैं। प्रधान रूप से उनकी ख्याति का आधार उनका ज्योतिषी होना है। हाथ दिखलानेवाले और भविष्य पूछनेवालों का ताता लगा रहता है। राजदेरकर साहब प्रायः गुरुवार को ही यह काम करते हैं। और कहते रहते हैं कि मैं नहीं कहता — साईबाबा कहते हैं। साईबाबा की विधिवत् पूजा-आगती का दिन गुरुवार ही है।

होनहार को कौन टाल सकता है ? जो होना है, वह तो होगा ही। इस तथ्य को पहचानने पर भी मुख से कभी कटु शब्दों का व्यवहार राजदेरकर साहब नहीं करते। वे मुस्कुराते हुए मिलते हैं। उनकी मुद्रा हास्य-विनोद की रहती है। किसी के मन में मानसिक द्रष्ट रहता है, किसी यातना की आशंका से घबराए हुए रहते हैं, उसे पहचान लेते हैं और उससे बातचीत में खुश कर देते हैं। इतनी बात मैंने निश्चित रूप में देखी है कि किसी के दुख का हलका करने का गुण उनकी वाणी में है और भविष्य के प्रति आशावादी स्वर ही उनके मुख से निकलता है। उनकी वाणी के बल की प्रतीति वहुतों को मिली है। इसलिए जब भी उलझान का प्रश्न उपस्थित होता है तो निदान के लिए मैं ही नहीं, परिवार के सदस्यों को आनेवाले अनिधियों को लेकर उनके पास पहुँचता रहा हूँ। लौटते समय मतुष्ट होकर ही लौट है।

आज भी राजदेरकर साहब बहुत व्यस्त रहते हैं। 'साई-सदन' — दुमजला बड़ा भवन है। सामने का विशाल हॉल साई बाबा का मन्दिर है। पति-पत्नी दोनों ही रहते हैं। १९३४ ई. के हैं। सत्तर वर्ष की देहरी तक पहुँच गए हैं किन्तु घर पर मिलते नहीं। व्यस्त दिनचर्या रहती है। कभी-कभी महीनो गायब रहते हैं। मालूम होता है, मुंबई में अपनी लडकी के पास गए हुए हैं। लडकी — अजु उन्हें औरंगाबाद लौटने नहीं देती। माँ-बाप दोनों को अपने पास रखना चाहती है। किन्तु राजदेरकर साहब को 'साई सदन' की याद आती रहती है। वही तो उनका अपना सपना है। मुझे राजदेरकर साहब ने अपना मुंबई का पता दिया और फोन नंबर भी दिया। किसी कारण से मैं मुंबई अपनी नम्मू के पास गया था। नम्मू, कैवरसाहब के साथ हम दोनों राजदेरकर के घर पर पहुँचे। फोन करके पहुँचे। मिल गए। बहुत प्रसन्न हुए। बोले — 'हमारी अंजु तो नम्मू से मिलती रहती है। सब्जी विलेपार्ले में मिलती है। अजु अधेरी से सब्जी खरीदने विलेपार्ले आती ही रहती है और वहाँ पर नम्मू से भेंट हो जाती है। पत्नी कुछ

पेशान थी। उसने कुछ पूछा तो राजदेकर साहब ने सतुष्ट कर दिया। लौटे तो मन हलका हो गया था। नम्मू ने राजदेकर साहब को निमंत्रण दिया। राजदेकर साहब नम्मू के यहाँ पहुँच गये। बहुत खुश हुए। नम्मू अपने परिवार के सदस्यों को लेकर राजदेकर साहब से मिलने पहुँचती है। यो दोनो परिवारो में घर की तरह आना-जाना जारी है।

मुबई में रहते समय भी साईबाबा को भूलते नहीं। अपनी मजबूरी बतलाते रहते हैं? अजु और दामाद विदेश जाते हैं तो घर पर कौन रहेगा? बच्चों को कौन देखेगा? नाना-नानी को वहाँ रहना ही पड़ता है। 'अजु' डॉक्टर होने के कारण बहुत व्यस्त रहती है। दामाद भी वैसे ही व्यस्त रहते हैं। घर पर कोई रहता ही नहीं हैं। नाना-नानी रहे तो घर खुला रहता है। ऐसे ही कुछ कारण हैं। राजदेकर साहब मध्य दामाद के घर पर रहना नहीं चाहते किन्तु विवशता रहती है। मुबई आवास के समय साई-सदन को ताला रहता है। घर की रक्षा के लिए ७ कुत्ते रहते हैं। कुत्ते बड़े-बड़े हैं। साई-सदन के मामले के हाल में घूमते हैं। वहीं बैठते हैं। पूरा घर उनका अपना है। कुरसियों पर आराम में बैठे रहते हैं। अपनी अनुपस्थिति में राजदेकर साहब उनके खाने की व्यवस्था करके जाते हैं। कुत्तों के कारण घर सुरक्षित है।

बहुत दिन हो गए। राजदेकर साहब से मिलना नहीं हुआ। पत्नी ने कहा — राजदेकर साहब से मिलना है। फोन करने पर घटी बजते रहती है। एक दिन अचानक फोन पर मिल गए। बोले — 'कल ही आया हूँ।' घर का काम चल रहा है। समय लेकर हम लोग गुरुवार को पहुँचे। छ बजे पहुँचे। पत्नी ने दरवाजा खोला। हाल में जाते ही कुरसियों पर कुत्ते विराजमान थे। उन्हें भीतर भगाया गया। उन्होंने कुरसियों छोड़ दी। हम लोग बैठ गये। वह दिन पूजा-आरती का था। साढ़े छ बजे राजदेकर साहब लौटे। बैठ गए। बात हुई। मैं उनके लिए पुस्तक लेकर गया था। उन्होंने पुस्तक साई-चरणों में रख दी। भीतर गया। पूजा की तैयारी से आए। और लोग भी यथासमय आते गए। मन्दिर सदृश वातावरण हो गया। सात बजे पूजा आरम्भ हो गई। विधिवत् पूजा के बाद आरती हुई। खड़े रहकर आरती करने लगे। तालियाँ बजाते हुए, नृत्य करते हुए गाते रहे पूरा एक घण्टा आरती चलती रही। गला ठीक हो गया। बीमारी दूर हो गई। उनकी आरती-गान को सुना। भक्त की मुद्रा देखी। तल्लीनता का दर्शन हुआ। तर्क करना बेकार है। पड़ोस के बच्चे भी खड़े हो गए। एक

घण्टे के लिए साइ सदन मे आरती गूजते रही . धीरे धीरे हाल म कुठ परिवारो के सदस्य पहुँच गए । ऐसे मे राजदेरकर साहब से बात कैसे करे ? उनकी पत्नी ने कहा — उन्हे घर पर बुलवा लो, यहाँ पर तो निरन्तर यह क्रम जारी रहता है । आरती के बाद मे आधा घण्टा बैठकर निमंत्रण देकर चले आए । वे बाद मे आए । दो-तीन घण्टे तक बैठे । उन्मुक्त वाते की । हँसते-हँसाते रहे । अतीत की बाते बतलाते रहे । अपने सपने कहते रहे । उनकी योजना मे साई बाबा की मूर्ति सगमरवर की लेना है । जयपुर, उदयपुर जाना है । मूर्ति की प्रतिष्ठा करना है । मंदिर को गरिमा प्रदान करना है । पूजा-आरती को नियमित जारी रखना है । साई-बाबा की मूर्ति के पास मेहेर बाबा का विशाल चित्र लगा है । उन्ही के कारण, उनके कीर्तन चलते रहे है । एक प्रोफेसर की इस समर्पित भक्ति को विश्वसनीय मानना पडता है । राजदेरकर की इस साधना और तपस्या को देखकर लगता है कि विज्ञान भी क्या करे ? भक्ति तो भक्ति है ।

□ □

डॉ. भगवानदास वर्मा

डॉ भगवानदास वर्मा सरस्वती भुवन महाविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे । मैंने आरम्भ से ही उन्हें इसी रूप मे देखा है । उक्त महाविद्यालय औरंगाबाद का पुराना महाविद्यालय है । इस शिक्षण संस्था की स्थापना १९१५ ई. में हुई । १९६३ ई मे महाविद्यालय ने आकार ग्रहण किया । इसका हीरक महोत्सव १९७७ ई मे मनाया गया । उक्त सस्था की अनेक शाखाएँ हैं । उनमें हाईस्कूल है । छात्रो का अलग, छात्राओ का अलग । महाविद्यालय अलग है । कला, वाणिज्य एव विज्ञान की अलग-अलग शाखाएँ हैं । जयहिन्द प्रेस है । मराठवाडा दैनिक समाचार-पत्र है । मराठवाडा क्षेत्र मे इनकी शाखाएँ है । यों इस सस्था का काफी नाम है । इस सस्था मे काम करनेवाले हैदराबाद के निजाम राज्य में, हैदराबाद राज्य के मुक्ति सग्राम में भाग लेनेवाले सदस्य ग्हे है । प्रमुख कर्णधार लोग पहले हैदराबाद मे काम करते रहे है । वहाँ से औरंगाबाद में — निजाम के शासन का अन्त होते ही — आ गए । यहाँ पर काम किया । संस्था को आगे बढाया ।

मेरा सम्पर्क इस सस्था से पहले जयहिन्द प्रेस से हुआ । प्रेस के व्यवस्थापक श्री ज रा. बर्दापूरकर थे । प्रेस की कालोनी अलग थी । जयहिन्द कालोनी उसका नाम है । बर्दापूरकर साहब उसी कालोनी मे रहते थे । मैंने अपनी पुस्तकें जयहिन्द प्रेस मे छपवाई हैं । इस नाते प्रेस में नियमित जाना पडा है । १९७१ ई से पुस्तके

छपती रही है। १९७७ ई. तक सात पुस्तके क्रमशः छपी है। १९७७ ई. में हीरक महोत्सव के अवसर पर इस सस्था ने मेरा सम्मान किया। मेरे साथ डॉ. भालचन्द्र तेलंग का भी सम्मान किया। उक्त महाविद्यालय में डॉ. भगवानदास वर्मा हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उनका नाम नगर में ख्यात था। हिन्दी के साथ-साथ मराठी भाषा पर भी उनका अधिकार था। मराठी के साहित्यकार औरगाबाद आते ही रहे हैं। उन साहित्यकारों से वर्मा साहब सम्पर्क बनाए हुए थे। हिन्दी में लेखन कार्य भी करते रहे हैं। संगीत एवं अन्य कलाओं में उनकी अभिरुचि रही है। मैं जब औरगाबाद आया, उस समय वे औरगपुरग की गोकुलवाडी में रहते थे।

वर्मा साहब बीड जिले के निवासी हैं। उनका गाँव तालखेड है। उनका छोटा भाई हनुमानदास वर्मा परभणी के महाविद्यालय में कार्यरत रहा है। वर्मा साहब की अभिरुचि प्रधान रूप से आधुनिक साहित्य में रही है। और उसमें भी कहानी साहित्य में अधिक रही है। विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम समिति के वे सदस्य रहे हैं। उन्होंने पाठ्यक्रम में आधुनिक साहित्य और उसमें भी कथा-साहित्य को अधिक जगह दिलाने का सदैव प्रयत्न किया। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल — तीनों को एक ही प्रश्न-पत्र में समेट लेते थे। उनका सर्वथा त्याग संभव नहीं था। और फिर चार कवि रखना था। सूरदास, कबीर तथा तुलसीदास की उपेक्षा संभव नहीं थी। कुल मिलाकर प्राचीन साहित्य में भक्तिकाल ही रहता। वीरगाथाकाल में किसी को जगह नहीं मिलती। कबीर की उपेक्षा वैसे भी संभव नहीं। राजूरकर साहब प. वंगीधर विद्यालंकार की तरह कबीर के पक्षधर थे। स्पेशल पेपर (विशेष कवि) कबीर पर रहता और उस पेपर को राजूरकर साहब पढ़ाते थे। डॉ. भगवानदास वर्मा के शोध-प्रबन्ध का विषय 'हिन्दी की नई कहानी की मूल सवेदनाएँ' था। १९७१ ई. में वे पी-एच.डी. हुए।

१९७७ ई. में उन्होंने गवाह त्रैमासिक का प्रकाशन आरम्भ किया। सम्पादक, प्रकाशक सब कुछ वही थे। तदर्थ झोला लेकर जगह-जगह पहुँचते थे। बहुत श्रम किया। किन्तु इस श्रम से वे थक गए। वह काम अकेले का नहीं है और फिर प्रकाशन के लिए पूंजी चाहिए। इस पत्रिका के कारण वे ख्यात हो गए। औरगाबाद से अच्छी पत्रिका निकलने लगी। औरगाबाद और मराठवाडा क्षेत्र में उन्होंने साहित्यिक वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया। गवाह में वे मराठी के लेखकों को स्थान देते थे। उनसे लिखवाते थे। गवाह का राजस्थान विशेषांक

निकाला । तदर्थ मुझे भी लेख लिखने के लिए कहा । मैंने लिख दिया । वह छपा है । राजस्थान विशेषांक के बाद बाल साहित्य विशेषांक — वर्ष ३, अंक एक और दो का प्रकाशन किया । अक्टूबर १९७९ से मार्च १९८० का वह अंक है । ठीक इसी समय उनका बंगला श्रेयनगर में बन रहा था । १९८१ ई. में वे 'श्रेयनगर' में चले गये । पता बदल गया । जनवरी से सितम्बर १९८१ का एक ही अंक निकला । उसे गवाह का १४, १५, १६ अंक कहा गया । बंगले का नाम 'कामायनी' रखा । यो १९७७ ई से १९८१ ई तक गवाह छपता रहा है । विशेषांक स्तरीय है । इस कार्य में थक गए । बाद में उन्होंने दिशा बदल दी । 'आधुनिक साहित्य' से प्राचीन वाङ्मय की ओर मुड़ गए । प्राचीन वाङ्मय की व्याख्या और विश्लेषण — आधुनिक सदर्भ में करने लगे । भक्ति साहित्य की ओर ध्यान गया । उनमें संगठन की शक्ति थी । स्थानीय लोगों से सम्पर्क कर व्याख्यान मालाओं का आयोजन करने लगे । भागवत का वाचन करने लगे । भीड़ एकत्रित होती थी । मंच के अनुकूल वस्त्र पहनने लगे । रुद्राक्ष की माला पहनी । व्याख्यानों को लिख लिया जाता । फिर उसी को ठीक करके उन्होंने पुस्तक भी प्रकाशित की । इस कार्य में डॉ साधना शाह ने वर्मा साहब की बहुत सहायता की है । उसके पी-एच डी. का विषय — 'अज्ञेयोत्तर कहानियों में आधुनिकता बोध' — रहा है । बाद में उसने कहानी साहित्य पर डी लिट. की उपाधि भी अर्जित की । सच तो यह है कि वर्मा साहब जो कहते और सुनाते उसे साधना शाह लिख लेती थी । मैं जब-जब गोकुलवाड़ी में वर्मा साहब के घर गया, तब-तब साधना शाह मुझे वर्मा साहब के कक्ष में लिखती हुई या कुछ काम करते हुए दिखलाई दी । 'कामायनी' में पहुँचने पर वर्मा साहब वानप्रस्थी हो गए थे । आयोजन करने लगे और मंच से अधिक बोलने लगे । संगीत की सभाओं में अधिक रुचि लेने लगे ।

एक दिन मैं सहज ही उनसे मिलने गया । मुझे भीतर के कक्ष में ले गए । बोले — देखते हो, इतनी पुस्तकें एकत्रित हो गईं । इनका क्या होगा ? पुस्तकों को रखने के लिए कमरा चाहिए । एक कमरे का कितना होता है ? पुस्तकों के लिए रुपये और फिर उन्हें सुरक्षित रखने के लिए रुपये — बहुत महंगा काम है । यह सोचने की बात है । उनकी वृत्ति उस समय वीतरागी हो गई थी । पहले की तरह दहाड़ना उन्होंने बन्द कर दिया था । खूब बोलनेवालों में थे । मंच के शौकीन थे । अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे । किसी आयोजन में (मैं नहीं था)

नान्देड के प्राचार्य और मराठी के प्रसिद्ध समीक्षक नरहृ कुरुदकर आए हुए थे। मंच पर ही बोलते-बोलते गिर पड़े। नहीं रहे। उसका प्रभाव उन पर हो गया। क्योंकि सत्र कुछ उनके सामने घटित हुआ। मंच पर वर्मा साहब भी आयोजकों में थे। उस घटना के बाद वे आश्रम में अधिक रुचि लेने लगे। पैटण रोड पर एक आश्रम खोला गया था। उसमें वे जाते थे। उसी में उन्हें शान्ति मिलती।

डॉ. ग्याम वर्मा से उनकी मित्रता थी। उनके प्रभाव से उन्होंने होमियोपैथी सीख ली थी। गोकुलवाडी में अपने घर पर होमियोपैथी की दवाइयाँ देने लगे थे किन्तु उनका यह डाक्टरी रूप बहुत दिनों तक नहीं चला। वह उनका एक शौक हो गया था। समय-समय पर उन्होंने दिगाएँ बदली हैं। उनमें यह भी एक दिशा थी। वर्मा साहब की ख्याति देश के अन्य प्रदेशों में हो गई थी। बाहर से जो विद्वान् विश्वविद्यालय के विभाग में पहुँचते तो मैं उन्हें वर्मा साहब के घर लेकर जाता था। वे कालेज में सेवानिवृत्त हो गए। सेवानिवृत्त होने के बाद उनसे मिलने घर पर गया था तो बोले—जन्म-तिथि गलत लिखवाई गई है, दो वर्ष पहले सेवानिवृत्त हो गया। यह फरवरी १९९० की बात होगी। उसके बाद वे अपनी योजनाएँ पूर्ण करने लगे थे। डॉ. नरेन्द्र मोहन, डॉ. महीपसिंह, डॉ. विनय आदि दिल्ली के साहित्यकारों से सम्पर्क बना हुआ था। दिल्ली से उनकी कुछ पुस्तकें छपी हैं।

बाद में अचानक मातूम हुआ कि वर्मा साहब नहीं रहे। मैं मातूम होते ही निवास पर पहुँचा। डॉ. साधना शाह वहाँ पर थी। और लोग भी थे। बतलाया गया कि उनका अन्तिम संस्कार पैटण रोड के आश्रम में किया जाएगा। उन्होंने पहले ही यह कह दिया था। इसीलिए आश्रम में ले जाने का निर्णय हुआ। मैं स्वयं, उस दिनों आश्रम जाने की स्थिति में नहीं था। देखकर चला आया।

वर्मा साहब के आश्रम का नाम—'आनन्द आश्रम' है। डॉ. साधना शाह उक्त आश्रम का काम करती हैं। २००० ई. की गुरु पौर्णिमा को उसने मुझे उक्त आश्रम में सम्मान हेतु आमंत्रित किया। उक्त अवसर पर मैं पहली बार आश्रम में गया। श्री चम्पालालजी देसरड़ा वहाँ पर मिले। और लोग भी आए थे। मेरे साथ-साथ मरस्वती भुवन महाविद्यालय के प्राचार्य श्री जीवन देसाई, डॉ. रघुनाथ भागवत एवं कुछ अन्य गुरुजनों का सम्मान किया गया था। मंच पर मैंने देखा

कि डा भगवानदास वर्मा का फोटा था । बाद मे आश्रम घूम कर देखा । आश्रम अपनी योजनानुरूप बना था । डॉ. साधना शाह ने हमे वह स्थान दिखलाया, जहाँ वर्मा साहब का अन्तिम सम्स्कार हुआ ।

वर्मा साहब ८७, श्रेयनगर 'कामायनी' मे रहते थे । उनके बगले के सामने का मार्ग भगवानदास वर्मा मार्ग कहलाने लगा है ।

□ □

डॉ. श्याम वर्मा

औरंगाबाद का लाल किला — किले आर्क है । इसी किले-आर्क मे औरगजेब रहता था । दिल्ली मे लाल किले के पीछे यमुना नदी है । ठीक इसी तरह इस किले के पीछे खाम नदी है । शाहजहाँ ने लाल किला बनवाया, औरगजेब ने किले आर्क का निर्माण किया । लाल किला दिल्ली मे जैसे नगर के परकोटे के भीतर है, ठीक वैसे ही किले आर्क औरंगाबाद के परकोटे के भीतर ही है । किले आर्क का मुख्य दरवाजा पूर्व दिशा की ओर है । आज वही दरवाजा गवर्नमेंट कालेज का प्रवेशद्वार है । गवर्नमेंट कालेज इसके भीतर है । निजाम के शासनकाल का, औरंगाबाद का यह सब से पुराना कालेज है । यह पहले, निजाम के समय मे इटर कालेज रहा है । बी ए पढना हो तो हैदराबाद जाना आवश्यक था । मराठवाडा विश्वविद्यालय की स्थापना (१९५८ ई) के बाद मे यह कालेज मराठवाडा विश्वविद्यालय से जुड गया । फिर यह डिग्री (Graduation) कालेज हो गया । डॉ श्याम वर्मा इस महाविद्यालय मे पहले हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे और बाद मे प्रिंसिपल भी हुए ।

वस्तुतः डॉ. श्याम वर्मा, जबलपुर के निवासी थे । उनकी नियुक्ति पहले मध्यप्रदेश में हुई थी । १९५६ ई में स्वतंत्र महाराष्ट्र हो जाने के बाद नागपुर के कुछ लोग भोपाल जाना चाहते थे और भोपाल के कुछ लोग नागपुर आना चाहते थे । डॉ. विनयमोहन शर्मा पहले नागपुर मे थे । बाद में मध्यप्रदेश सरकार ने उन्हें भोपाल बुलवा लिया । उन्ही के स्थान पर डॉ. श्याम वर्मा नागपुर आ गए । उसके बाद डॉ श्याम वर्मा अन्त तक महाराष्ट्र मे रहे । डॉ श्याम वर्मा ने मुझे यह सब बतलाया है ।

डॉ. श्याम वर्मा को पहचानने और जानने मे मुझे समय लगा । वे पहले उस्मानपुरा मे, नानासाहेब मुसल्ले के बगले के सामने रहते थे । बाद में स्नेह नगर (कार्टेस् में) में रहते थे और अन्तिम दिनों मे अपने बगले मे रहने गए । महावीर

कालोनी में उन्होंने बगला बनवाया। उनका जीवन बहुत व्यस्त था। वे होमियोपैथिक डॉक्टर थे। घर पर उनकी प्रतीक्षा में रोगी बैठे ही रहते थे। एक-एक रोगी से खूब बातें करते। बिल्कुल घर के सदस्य बन जाते। उनकी बातचीत से ही आधी बीमारी ठीक हो जाती। घर पर आनेवालों का ताता लगा रहता था। रोगियों को देखना और उन्हें दवा देकर घर भेजना — इसे वे अपनी रुचि का काम मानते। वही उनके सुख का स्रोत था। उनका ध्यान डॉक्टरी फी पर नहीं था। पेशेंट जो खुशी से देता ले लेते थे। रपयों के लिए उन्होंने काम किया ही नहीं। सेवाभाव अधिक था। उनका मुख्य काम तो कालेज का काम था। पाँच बजे तक कालेज में रहते और फिर रात में पेशेंटों को देखना। सोने में रात के बारह बजे जात थे। उन्होंने कभी किमी को नहीं लौटाया। रास्ते में कोई पुराना पेशेंट मिल जाता तो उसका स्वास्थ्य पूछते। घर के समाचार पूछने पारिवारिक डाक्टर की तरह व्यवहार करते। बाद में तो मैं भी अपने सम्बन्धियों को लेकर उनके पास पहुँचता था।

उनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। उनकी पत्नी अर्द्ध-विक्षिप्त थी। घर का बहुत-सा (रसोई भी) काम स्वयं को करना पड़ता था। खुद ही चाय बनाते। बच्चों को तैयार कर स्कूल भेजते थे। एक पुत्री और तीन पुत्र थे। बच्चों पर विशेष ध्यान देने के लिए उनके पास समय नहीं था। ऐसा होने पर भी घर में कोई शिकायत-शोर नहीं होता। बाहरवालों को कुछ मालूम नहीं होता। घर में उनकी सेवा कौन करता? सब के लिए स्वयं काम करते। फिर प्रसन्न-चित्त रहते। उनके धैर्य और साहस की मैं प्रशंसा करता हूँ। सब कुछ पीकर उनके मुख पर मुस्कान रहती। यही बात जानने में मुझे समय लगा।

इंदिरा गांधी प्रधान मंत्री थी। उस समय ग्यानी जैलसिंह राष्ट्रपति थे। उन्होंने अपने कालेज के डायमंड ज्यूबिली के उत्सव का आयोजन किया। ग्यानीजी से उन्होंने स्वीकृति प्राप्त कर ली। गवर्नमेंट कालेज होने के कारण सरकारी अधिकारियों को सतर्क कर दिया गया था। यथासमय धूम-धाम से आयोजन सम्पन्न हुआ। इसमें डॉ. श्याम वर्मा और उनके सहयोगी डॉ. रमेश मेहरा ने बहुत परिश्रम किया। राष्ट्रपति के लौट जाने के बाद डॉ. श्याम वर्मा के अधिकारियों ने उनकी बदली मुंबई के इस्माइल यूसूफ कालेज के प्रिंसिपल के रूप में कर दिया। डॉ. श्याम वर्मा मुंबई चले गये। उनका बगला, उस समय महावीर कालोनी में बन रहा था। वे ठीक से देख नहीं पाए। परिवार को वैसे ही छोड़कर वे मुंबई चले गए।

वर्ष-दो वर्ष के बाद मे मुझे अचानक मुंबई से MPSC से फोन मिला कि मुंबई मे उम्मेदवारो के चयन के लिए आना है । तदनुसार मै सपरिवार मुंबई गया । वह १९८६ ई की बात है । चेम्बूर मे मदनलालजी मडलेचा के घर पर टहरा । उम समय डॉ. भ. ह राजूरकरजी विश्वविद्यालय के कुलपति हो गए थे । मै विभाग का अध्यक्ष था ।

मुंबई मे पहले दिन जब मैं अपने कार्य के लिए MPSC के कार्यालय मे पहुँचा तो टेबल पर मैने जिन अन्य दोनो सदस्यों को देखा, वे पूर्व परिचित थे । चेअर पर बैठनेवाले डॉ. भोसले (पहले मराठवाडा विश्व विद्यालय के कुलपति थे) साहब थे । गणित के प्रोफेसर थे । दूसरे सदस्य स्वयं श्याम वर्मा थे । वे इस समय इस्माइल यूमूफ कालेज के प्रिंसिपल थे । वे उस समय शासन की ओर से नियुक्त थे । चेअर पर भोसले साहब थे और हिन्दी विषय का विशेषज्ञ मै था । एक दिन में, एक बैठक मे १० बजे से एक बजे तक १० से १५ उम्मीदवारो का साक्षात्कार लेते थे । अन्त मे तीनो को अपना निर्णय अकों सहित — उसी दिन देना पडता था । दूसरे दिन फिर वही प्रक्रिया दोहराई जाती । यह क्रम एक सप्ताह तक चला । बाहर आने पर हम लोग मिलते । फ्लोरा-फाउटेन के पास मे ही MPSC का कार्यालय ऊपर की मजिल पर था । फ्लोरा-फाउटेन से बस सीधी चेम्बूर जाती है । मै उसी बस से चेम्बूर लौट जाता था । फ्लोरा-फाउटेन — ब्रिटिश काल का नाम है । अब उसे हुतात्मा चौक कहते है । डॉ श्याम वर्मा वहाँ से चर्चगेट पहुँच जाते । चर्चगेट पर उन्हें लोकल ट्रेन मिल जाती । मीधे जोगेश्वरी जाते । जोगेश्वरी में उनका कालेज है । एक दिन मै उनके साथ जोगेश्वरी गया । उनके कालेज के कैम्पस में गया । कैम्पस बहुत बडा है । हरा-भरा क्षेत्र है । उनका आवास वही पर था । पहले तो उनके कक्ष मे गया । फोन की घंटियाँ बजती रहती थी । उनके औरंगाबाद के पेशटों के फोन मिलते रहते थे । वे उनसे आत्मीयता से बात करते और अपना निर्देश दे देते थे । इस बीच में वे शासकीय कार्य भी देख लेते । बाद में उनके आवास पर भी गया । बडे बडे कक्ष थे । अंग्रेजों की पद्धति के बने हुए कमरे थे । छत ऊची थी । लम्बे-चौडे कक्ष थे । आवास तो बडा था किन्तु अकेले रहते थे । क्या करते ? कोई उपाय नही । अपना काम करते थे ।

श्याम वर्मा इतने व्यस्त रहते कि लिखने-पढ़ने के लिए उनके पास समय नही था । जितना समय मिलता, उसमे वे अपना काम कर लेते । स्वतत्र विचार

रखनेवाले थे और अपनी बात कहने में और मनवाने में चूकते नहीं थे। तर्क भी खूब करते। आनंद नगर कालोनी में डॉ. काशीनाथ मिश्र रहते थे। मुझे याद है — मराठवाडा साहित्य परिषद का अधिवेशन जब परभणी में हुआ। उसमें काशीनाथ मिश्र (देवगिरि कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष) और श्याम वर्मा दोनों आए थे। परभणी में दोनों ही एक दूसरे से भिड़ गए। दोनों के अपने-अपने तर्क थे। काशीनाथ मिश्र — बलिया के थे और बलिया का पंडित झुकता नहीं है और श्याम वर्मा एडवोकेट के पुत्र थे। शासकीय भाषा जानते थे। मैं केवल सुनता रहा। बीच-बचाव में कोई लाभ नहीं था। बहस का अन्त नहीं हुआ। यों कार्यवश उठना पड़ा।

विभाग में 'हिन्दी नाटक और रंगमंच' सेमिनार हुआ। यह सेमिनार १९ नवम्बर १९८४ ई से २४ नवम्बर १९८४ ई तक हुआ। इसका उद्घाटन भाषण देने डॉ. नगेन्द्र आए थे। बाद में सेमिनार के निबन्धों का सम्पादन मैंने किया। उस सम्पादित पुस्तक के लिए डॉ. श्याम वर्मा से भी मैंने आलेख मांगा। उनसे लिखवाना पड़ा। लिखा। आलेख का शीर्षक है — 'हिन्दी नाटक की व्यथा-कथा'। हिन्दी रंगमंच के विकसित न हो पाने की व्यथा-कथा लिखी है। उस समय वे मुंबई में ही थे।

इस्माइल यूसूफ कालेज से डॉ. श्याम वर्मा पुन औरंगाबाद आए। सेवानिवृत्त होने से पहले ही आ गए थे। उनकी अनुपस्थिति में भी उनका बगला बनता रहा। स्नेहनगर का क्वार्टर छोड़ दिया। अपने बगले में रहने चले गए। उन्होंने अपनी लड़की का ब्याह कर दिया। दामाद यही का है। अपनी लड़की को होमियोपैथी का प्रशिक्षण दे दिया। वह भी पिता के साथ काम करने लगी। एक लड़के को होमियोपैथी के कालेज में पढाना चाहा। उसे प्रवेश नहीं मिला।

सेवानिवृत्त होने से पहले उनकी तरक्की हो गई। गवर्नमेंट कालेज में IAS का प्रशिक्षण दिया जाने लगा था। वे उसके डायरेक्टर हो गए थे। अथक परिश्रम के कारण और घर में विशेष सहयोग न मिलने से वे बीमार हो गए। शूगर बढ़ गई। स्वयं डॉक्टर होने पर भी अपना इलाज आप नहीं कर सकते। घाटी अस्पताल में मैं उन्हें देखने गया था। बोले — 'कुछ नहीं हुआ। मैं ठीक हूँ।' बाद में घर पर लौट गए। बाद में बहुत दिनों तक मिलना नहीं हुआ। बाद में मैं बीमार हो गया। डॉक्टर ने 'हाउस-रेस्ट' का आदेश दिया। छुट्टी लेकर घर पर पड़ा

रहता था। यह १९९१ ई (दिसम्बर) की बात है। मे घर मे लेटा हुआ था। देखा — 'श्याम वर्मा आए है। आकर बैठ गए। बोले — 'मुझे मालूम नही। क्या हो गया। शागा ने फोन पर बतलाया कि आप बीमार है।' बाते करते समय उन्हे चाय दी गई। और कुछ खाने की इच्छा नही थी। बिस्कुट थे। वे ले लिए। बोले — 'गले का कष्ट है। कुछ खाया नही जाता। चाय मे भिगोकर बिस्कुट खा सकता हूँ। मालूम हुआ, उन्हे गले का कैंसर हो गया है। मैने विश्वास नही किया। किन्तु जब स्वय ने बतलाया तो विश्वास करना पडा। अन्तिम दिनों मे परिवार के लोग आ गए थे। पुत्र के ब्याह की चिन्ता थी। ब्याह निश्चित हो गया। तदर्थ निमंत्रण-पत्र भेजे गए। घर पर बिस्तर पर ही लेटे हुए थे। उस्मानपुरा के गोपाल हॉल में स्वागत करने के लिए वे स्वय नही थे। मै गोपाल हॉल से सीधे उनके घर पर पहुँचा। लेटे हुए मिले। मिलनेवालो का ताता लगा हुआ था। बोलने मे कठिनाई हो रही थी। फिर भी कुछ स्फुट शब्दो मे बोले — 'भोजन हो गया?' मैने — 'हाँ कहा।' परिवार के सब लोग उपस्थित थे। उन्हे अपनी बीमारी की बिलकुल चिन्ता नही थी। साहसी थे। मृत्यु से जूझते रहे। कुछ ही दिन बाद मे मालूम हुआ कि वे नही रहे। शव-यात्रा मे गया था। शव के पास खडी-खडी लीला मेहरा रो रही थी। श्याम वर्मा के छात्र, उन्हे बहुत चाहते थे। जो भी उनके सम्पर्क मे आया, वह उन्हे भूल नही सकता। अपने पिता के निधन के बाद एक वर्ष के भीतर वे भी चले गए। अपने पिता से मिलकर आए थे।

□ □

आचार्य यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे से बातचीत

आज सबैरे (१३ जुलाई १९९७, रविवार) साढे नौ बजे आचार्य यज्ञेश्वर शास्त्री कस्तुरे से मिलने गया। इतना मालूम था कि वे गुरुकुल के आचार्य है और वहाँ पर वेदो का अध्ययन होता है। जिज्ञासावश गया। उनकी ओर जाने का एक आकर्षण यह भी था कि डॉ सुरेन्द्र बारलिंगे उन्हे अपना गुरु मानते है। डॉ बारलिंगे २ जुलाई को औरंगाबाद आए थे। उनसे भेट हुई। बातचीत हुई। उनके यहाँ आने का एक आकर्षण गुरु के दर्शन करना था। उस दिन मै उनके साथ गुरु से मिलने नही गया। गणित विभाग के डॉ दामोदर कस्तुरे, (प्रोफेसर एव अध्यक्ष) — जो इसी वर्ष सेवानिवृत्त हुए है, ने मुझ से कहा कि पिताजी अभी यही पर हैं। घर पर मिले। उनसे समय लेकर आज मै डॉ दामोदर कस्तुरे के

घर गया । घर पर डॉ कस्तुरे नहीं थे । वे अपने भाई के पास गए थे । भीतर से गुरुकुल का एक सदस्य, जो गुरुजी के साथ आया हुआ था, बाहर आकर मिला । कहा डॉ कस्तुरे नहीं है । मैंने कहा — 'उनके पिताजी से मिलना है ।' भीतर जाकर पूछ आया और कहा, चलिए गुरुजी बुला रहे हैं । भीतर, पूजा घर में (मराठी में देवघर) वे बैठे हुए थे । पूजा-पाठ समाप्त कर अपने आसन पर बैठे हुए थे । बैठने के लिए कहा । वहीं पर बैठ-बैठे मैंने उनसे बातचीत की । वही भेट वार्ता नीचे लिख रहा हूँ ।

प्रश्न वैदिक काल में क्या संस्कृत बोलचाल की — व्यवहार की — भाषा थी ।

उत्तर संस्कृत बोलचाल की — व्यवहार की — भाषा नहीं थी । व्यवहार में प्राकृत भाषा थी ।

पूछा वेद अब तक सुरक्षित कैसे रहे ?

बोले मौखिक परम्परा है, सब श्रुति है । वेदों को श्रुति कहने का कारण यही है ।

पूछा संस्कृत बोलनेवाले इस समय कितने लोग होंगे और ऐसे लोगों से आपका सम्पर्क होगा ।

बोले हाँ । आज भी संस्कृत बोलनेवाले लोग हैं । यह ठीक है कि संख्या कम है किन्तु है । मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ । मुंबई में इस समय एक मुसलमान है । उसका नाम इस्माईल है । पचास वर्ष का होगा । वह संस्कृत अच्छी तरह से बोल सकता है । मैं उसे जानता हूँ । वसंतराव गाडगील (संस्कृत में समाचार पत्र प्रकाशित करते हैं), श्रीपाद शास्त्री कवीश्वर — (दोनों पुणे में हैं) आदि लोग हैं जो संस्कृत महज बोल सकते हैं । दूर क्यों जाते हैं — मेरा लडका दामोदर बाल्यावस्था में अच्छी संस्कृत बोल लेता था । उसने भरी सभा में व्याख्यान दिया है किन्तु अब तो वह यूनिवर्सिटी में गणित का प्रोफेसर हो गया ।

पूछा संस्कृत बोलनेवाले के सम्बन्ध में कुछ और बतलाएँ ?

बोले कर्नाटक में 'ताडपी' नाम का गाँव है । घने जंगल में है । पश्चिम कर्नाटक में है । वहाँ पर एक हजार ब्राह्मणों के घर हैं और वे सब आपस में आज भी संस्कृत में व्यवहार करते हैं । वे मंत्रों की भाषा भी जानते

ह , यद्यपि मैं स्वयं तो वहाँ नहीं गया । किन्तु हमारा एक साथी उस गाँव में गया था और उसने आकर हमें यह बतलाया ।

वेदों की रक्षा के लिए आप क्या कर रहे हैं ?

हमारा गुरुकुल है । तीन अध्यापक हैं । ३० छात्र हैं । सब लोग आश्रम की तरह एक ही स्थान पर घने जंगल में रहते हैं । ऋग्वेद, अथर्ववेद दो वेदों का पाठ हाता है । नित्य पठन (उच्चारण सहित) जारी है । याज्ञिक (पुरोहित के संस्कार) का अध्ययन-अध्यापन होता है । तीन ही विषय हैं और तीन अध्यापक हैं ।

संस्था का नाम और उसकी शाखाओं के सम्बन्ध में बतलाइए ।

संस्था का नाम 'श्री चतुर्वेदेश्वर धाम' है । जिस गाँव के निकट हमारी यह संस्था है, वह गाँव सावगाँव है । पोस्ट पिपळी धामगाँव, ता परतूर, जि. जालना है । हमारी संस्था की तीन शाखाएँ हैं — एक हमारी सावगाँववाली मुख्य शाखा है । दूसरी — पुणे के निकट अळदी में है । अळदीवाली शाखा में केवल यजुर्वेद का पठन होता है । उसके लिए वहाँ पर एक अध्यापक है और ३० छात्र हैं । हमारी तीसरी शाखा ढालेगाव में है । वहाँ पर चारों वेदों का पठन होता है । वहाँ पर चार अध्यापक हैं । प्रत्येक वेद के लिए अलग-अलग अध्यापक हैं ।

वेदों का पाठ्यक्रम कैसे है ? कितने वर्षों में पढाई पूरी होती है ? संहिता के लिए ५ वर्ष का पाठ्यक्रम है । और यदि किसी एक वेद का पूर्ण अध्ययन करना हो तो उसके लिए १२ वर्ष अपेक्षित हैं । पाठ में उच्चारण को प्रधान माना जाता है । क्रम से — पद/क्रम/जटा और धन — पाठ होते हैं । धनपाठी होने में समय लगता है । इस पठन में ही वेदों को सुरक्षित रखा है । उच्चारण दोष को ठीक नहीं माना जाता । तब तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा । इस उच्चारण के कारण ही वैदिक भाषा व्यवहार की (सामान्य बोलचाल की) भाषा नहीं हो सकती । आपका जन्म कब हुआ ? मूल गाँव कौनसा है ?

मैं इस समय ८९ वर्ष का हूँ । नब्बे वाला वर्ष चल रहा है । १९०८ ई. मेरे जन्म का वर्ष है । मूलगाँव, जहाँ जन्म हुआ — कळमनूरी है । तालुकास्थान है, जिला परभणी है । मेरी शिक्षा नाशिक, पुणे और इन्दौर में हुई ।

वेदसेवा में आपको किसने प्रवृत्त किया ?

एक नाम स्वर्गीय वामनाचार्य गोकककर का है। वे मूल में गोकक (कर्नाटक के एक गाँव का नाम) के रहनेवाले थे किन्तु कोल्हापुर में बस गये थे। कहते हैं, उन्हें वेदमूर्ति ने स्वयं साक्षात् दर्शन दिया और राष्ट्र में वानावरण को शुद्ध बनाने हेतु वेदसेवा में प्रवृत्त किया। साक्षात् दर्शन स्वप्न में हुआ।

वामनाचार्य का पूरा नाम गोविंद गुण्डो वामनाचार्य है।

कथा इस प्रकार है। प्रेरणा श्रीरंगपट्टण के निकट कावेरी नदी पर मिली। नदी से लौटते समय आवाज आई 'मुझे बाहर निकालो' जाकर इधर-उधर देखा तो कोई दिखलाई नहीं दिया। लौट आए। तीसरे दिन सबेरे-सबेरे सपना देखा। एक सोलह वर्ष के बटु के दर्शन हुए। उसने कहा — 'मैं कावेरी में हूँ। मुझे तुम्हारे पास आकर रहना है। मेरा नाम वेदेश्वर है। वामनाचार्य ने तुरन्त उस बटु से पूछा — 'तुम्हें कहां खोजना चाहिए ?' बोला — 'जहाँ परमो खोज रहे थे, वहीं पर खोजो।' स्वप्न सच हो झूठ। विश्वास न होने पर भी वही पर उसे खोजने गये। स्नान करते समय किसी ने उनके हाथ छोटा सा महादेव रख दिया। वामनाचार्य उसे अपने घर ले आए। उसका नाम 'अणुचतुर्वेदेश्वर' रखा। सब प्रकार के वेदों की उपलब्ध शाखाओं से उसका अभिषेक किया। बाद में १९४५ ई. में कोल्हापुर में अपने निवास स्थान पर वामनाचार्य को दिव्य मूर्ति के दर्शन हुए। सारा शरीर मनुष्य का किन्तु मुख अजा का। तेजस्वी नेत्र थे। मूर्ति को नमस्कार करने पर मूर्ति ने आदेश दिया कि 'वेदसेवा' करो। कहा — 'मुझे वेद का ज्ञान नहीं है। कहा — 'वैदिक ब्राह्मणों की सेवा करो। प्रत्येक एकादशी को तीन घण्टे वेदपाठी ब्राह्मणों का बुलाकर वेदपाठ करवाओ और उन्हें दो-दो रुपये दक्षिणा दो। कहते हैं, यह मालूम होने पर भी वामनाचार्य चुप रहे। छ. मास बीत गये।

मे पूछा। इस कथा का आप की संस्था से क्या सम्बन्ध है ?

इस कथा का हमारी संस्था से सम्बन्ध है। इसीलिए कह रहा हूँ। बाद में वही मूर्ति पुन. स्वप्न में दिखलाई दी। कहा — 'यह काम तुम्हें करना ही होगा।' जानकार मित्रों को पत्र लिखकर पूछताछ की। मित्रों ने 'सनातन प्रदीप' पुस्तक उनके पास भेजी। और बतलाया कि जिस

मूर्ति का दर्शन लाभ हुआ है, वह मूर्ति यजुर्वेद की है। वह सौम्य मूर्ति है। पारायण करे। उसके बाद वामनाचार्य ने अपनी आय का चतुर्थांश वेद के पारायण के लिए खर्च करने लगे। स्वयं ऋग्वेदी थे किन्तु यजुर्वेदी मूर्ति की आज्ञा का पालन करने लगे। बाद में उन्होंने माना कि वेदों में भेद मानना ठीक नहीं है।

बाद में १९६६-६७ वर्षों में इसी मूर्ति ने पुनः स्वप्न में दर्शन दिया और कहा कि 'गौतमी तीर पर मुझे लेकर जाओ, और वही पर मेरी स्थापना करो।' ठीक उन्हीं दिनों में रावसाहब कुलकर्णी मावगावकर के बाग में मैसूर की ओर से एक ज्योतिषी आया और उसने कहा — 'आगामी छ मास के भीतर कुछ तपस्वी यहाँ आएंगे और इसी जगह पर सत्कार्य होगा। अन्नदान भी होगा। मेरे इस कथन का ध्यान रखे।' शीघ्र ही उक्त कथन के अनुरूप कार्य होने का योग आ गया।

एक दिन स्वयं को नारदकृपापत्र कहनेवाला ब्राह्मण रावसाहब कुलकर्णी के पास उनके खेत में चला आया और कहा — 'मैं नारद की आज्ञा से यहाँ आया हूँ। यह स्थान तीन हजार वर्ष पूर्व किसी तपस्वी की तपस्या का स्थान रहा है। इसी स्थान पर पुनः देवता आने के लिए उत्सुक हैं।

ठीक उन्हीं दिनों में मैंने वानप्रस्थाश्रम स्वीकार किया था और निर्जन वन में वास करने की इच्छा से स्थान खोज रहा था। उस समय रावसाहब कुलकर्णी से मेरी भेंट हुई। उनके साथ बातचीत हुई। उन्होंने मेरी मन की भावना को समझ लिया। उन्होंने अपना उक्त स्थान 'चतुर्वेदाश्रम' को देने का निर्णय किया। दानपत्र लिख दिया और इसी स्थान पर फिर मैंने रहने का निर्णय किया। बाद में इसी जगह हमारा आश्रम बना। वामनाचार्य की कथा का क्या हुआ ?

हमारा आश्रम बन जाने के बाद, वामनाचार्य की वह वेदमूर्ति यहाँ लाई गई। कोल्हापुर से महादेव भी आए (कावेरी में जो प्राप्त हुए थे)। उसकी स्थापना यहाँ की गई है। वामनाचार्य स्वयं वे सब लेकर आए। मध्य भाग में महादेव है और उसके चारों ओर चार वेदमूर्तियाँ हैं। ये सभी वेदमूर्तियाँ कोल्हापुर में तैयार की गई हैं। ऋग्वेद की मूर्ति श्वेत वर्ण की है। उसका मुख गर्दभ का है। बाकी सारा शरीर मनुष्य की

तरह है। इसी तरह यजुर्वेद की मूर्ति पीतवर्ण की है, उसका मुख 'अजामुख' है। सामवेद की मूर्ति नीलोत्पल है और उसका मुख हयानन है और अथर्ववेद की मूर्ति धवलवर्ण की है और मुख मर्कटानन है। शरीर मनुष्य का ही हैं। इन मूर्तियों की स्थापना का खर्च औरगाबाद के कर्वे गुरुजी ने किया है।

कथा का विस्तार चल रहा था। इतने में डॉ. दामोदर कस्तुरे आ गये। चलते-चलते मैंने पुन पूछा आपके आश्रम का खर्च कैसे चलता है ?

बोले सगमनेर निवासी श्री किशोरजी व्यास हैं। वे इस समय घूमते-फिरते रहते हैं। नगर (अहमदनगर) में रहते हैं। वे सब हमारी आर्थिक व्यवस्था करते हैं। बाल-ब्रह्मचारी है।

मुझे और बहुत कुछ पूछना था। वेदमूर्तियों का वर्णन तो सुन लिया किन्तु इन मूर्तियों के मुख आदि के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने बतलाया, उससे प्रतीकों के कारण जानने की इच्छा रह गई। वामनाचार्य के सम्बन्ध में तो उन्होंने बतलाया कि अब वे नहीं हैं। कर्वे गुरुजी भी नहीं है। इतनी देर बैठकर बात करने पर भी वेदपाठ सुनने और वेदों के सम्बन्ध में जानने की इच्छा रह गई। उन्होंने बतलाया कि कल मैं अकोला जा रहा हूँ और वहाँ से पुन आश्रम को लौट जाऊँगा। हम सीधे जाते तो आप हमारे साथ आश्रम को चल सकते थे।

पूजाघर में ही उन्हें प्रणाम कर, मैं बाहर आ गया। दूसरे कमरे में डॉ. कस्तुरे मिले। कहने लगे — 'पिताजी से मिलिए।' मैंने कहा — 'मिलकर ही बाहर आया हूँ।' उन्हें नमस्कार कर मैं अपने घर लौट आया।

□ □

प्राचार्य गंगाधर पाथरीकर

दिसम्बर १९६८ ई. में मैं औरगाबाद आया। मराठवाडा विश्वविद्यालय, औरगाबाद के हिन्दी विभाग में मेरी नियुक्ति हुई। ठीक दूसरे ही वर्ष १९७० ई. में विश्वविद्यालय की ओर से पत्र मिला कि छात्रों के साथ दक्षिण भारत की यात्रा पर जाना है। हिन्दी विभाग का एक भी छात्र साथ में नहीं था। मैंने दायित्व स्वीकार कर लिया। कार्यालय से मुझे नियमानुसार पत्र मिला। छात्रों के नाम मिले। आठ या दस दिन की यात्रा थी। इस यात्रा में हम लोग हैदराबाद, बैंगलोर तथा मैसूर गए। इन नगरों के आसपास के ऐतिहासिक और प्राकृतिक स्थल देखे।

उम समय साथ रहनेवाले दो छात्रों के नाम मुझे विशेष रूप से याद है। उनमें गंगाधर पाथरीकर और वसंत मुढे। गंगाधर पाथरीकर केमिस्ट्री के छात्र थे। वसंत मुढे किस विभाग में थे, याद नहीं। तीसरा नाम थोटे है। वह अग्रेजी विभाग का छात्र था। ये तीनों कुछ प्रौढ़ थे। अलग-अलग विभागों के छात्रों को नियंत्रण में रखना और यात्रा में उनकी सुविधाओं का ध्यान रखना मेरे लिए कठिन था। किन्तु अनुभव ने सब कुछ ठीक कर दिया। मैंने छात्रों में कुछ छात्रों को पहचान लिया। मालूम हुआ कि दो छात्र कुछ विशेष हैं और यदि दो छात्रों पर नियंत्रण कर लो तो बाकी सबको नियंत्रण में रखना सरल हो जाएगा। उन विशेष छात्रों में गंगाधर पाथरीकर को साथ में रखे तो और सब पर नियंत्रण सरल हो सकता है। मैंने ऐसा ही किया। गंगाधर पाथरीकर को आरम्भ से साथ में रखने लगा। वसंत मुढे और गंगाधर पाथरीकर पक्के साथी थे। इसलिए वसंत मुढे भी मेरे साथ रहने लगा। बाद में मुझे यात्रा में कोई कठिनाई नहीं हुई।

यात्रा का एक प्रसंग लिख रहा हूँ। बेंगलौर में मेरी इच्छा टेलिफोन इंडस्ट्री सबको विल्लानी थी। बेंगलौर में हम वहाँ की यूनिवर्सिटी के होस्टल में ठहरे हुए थे। दूसरे दिन सबके ८ बजे टेलिफोन इंडस्ट्री जाना था। सभी को यथासमय उठकर चलने के लिए कहा गया था। सब यथासमय तैयार हो गए थे। गंगाधर पाथरीकर और वसंत मुढे — दोनों ही आराम में सो रहे थे। मैंने स्वयं दोनों को उठाने का प्रयत्न किया। उठ तो गए किन्तु बिस्तर पर बैठे रहे। समय होते देखकर मैंने अन्य छात्रों को कहा — ‘आप लांग आगे-आगे चलो। इंडस्ट्री के द्वार पर ठहर जाना। मैं इन दोनों को लेकर पहुँच रहा हूँ।’ सब चले गए। हम लोगों के पहुँचने में कुछ विलम्ब हो गया था। छात्रों का द्वार पर उचित स्वागत नहीं हुआ। छात्र ही ठहरे। इधर-उधर भटक गए। आधे से अधिक छात्र वहाँ पर नहीं मिले। जो उपस्थित थे और इन दोनों को साथ में लेकर मैं भीतर गया। गेटमन ने मुझे भीतर जाने से रोका। मैंने कहा — ‘अधिकारी को मिलना चाहता हूँ।’ गेटमन ने कहा — ‘आप भीतर नहीं जा सकते। मैंने कहा — ‘यदि आप सम्पर्क करने नहीं देते और भीतर भी जाने नहीं देते तो इस कागज पर लिख दीजिए कि हम लोगों ने इन्हें रोका है और हस्ताक्षर कर दीजिए।’ यह कहने पर उसने फोन किया और बात करने के लिए कहा। मैंने अपना परिचय दिया और प्रार्थना की कि इंडस्ट्री देखने के बाद हम लोग चले जाएँगे।’ अधिकारी ने भीतर आने की अनुमति दी। तब मैं उपस्थित छात्रों के साथ भीतर गया।

वहाँ से दो व्यक्ति हमारे साथ आए और पूरी इडस्ट्री हम सब को दिखलाते गए। यह कार्यक्रम तीन घण्टे तक चला। हम लोग लौटकर पुन. होस्टल आ गए। वहाँ पर पुन सब से मिलना हुआ। गंगाधर पाथरीकर को और वसंत मुढे को तब समझ में आया कि उनके कारण कितने छात्र इडस्ट्री नहीं देख पाए। बाद में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। मैसूर में राजमहल देखने हम सभी गए थे। वृंदावन गार्डन में सब साथ-साथ थे। श्रीरंगपट्टणम् में टॉपू सूलतान का स्थान देखने के बाद सब को कावेरी नदी देखने ले गया था। हमें किराए से सार्ईकिलें मिल गई थी। कावेरी के तट पर पहुँच कर वहाँ का प्राकृतिक मनोरम दृश्य देखकर हम सब प्रसन्न हुए थे। हम लोग श्रवण बेळगोला और हळेबीड भी गए थे। मन्दिर देखे। ऐतिहासिक स्थल देखे।

लौटते समय पुन बैंगलौर में ठहरे थे। सभी छात्रों ने कहा — 'हम 'नन्दी हिल्स' देखना चाहते हैं।' तदर्थ टैक्सी से जाना आवश्यक था। गंगाधर पाथरीकर और वसंत मुढे भी यही चाहते थे। टैक्सी की व्यवस्था की और हम सब लोग गए। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि 'फिल्मों की शूटिंग' भी वहाँ होती है। किमी फिल्म की शूटिंग चल रही थी। छात्र बहुत प्रसन्न हुए। खुशी-खुशी लौट आए। लौटने की यात्रा शुरू हो गई।

मैंने आरम्भ में ही गंगाधर पाथरीकर में नेतृत्व के गुण देखे। अपने माथियों के लिए काम करना उसका स्वभाव था। अनुशासन प्रिय व्यक्ति था। और बाद में मैंने देखा कि वही गंगाधर पाथरीकर मराठवाडा विश्वविद्यालय का रजिस्ट्रार हो गया। विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद में विवेकानन्द महाविद्यालय में प्राचार्य हो गया। अपनी कार्यक्षमता से महाविद्यालय के भवनों को गति दी। और प्रांगण को मनोरम रूप दिया। महाविद्यालय में छात्रों की संख्या बढ़ती गई। कार्य जारी रहा। कई बार अकेले बैठे-बैठे कार्य करते रहे।

मेरी छात्रा डॉ. शकुंतला पांचाल इसी महाविद्यालय में हिन्दी विभाग की अध्यक्ष हो गई। प्राचार्य गंगाधर पाथरीकर ने मनोविज्ञान विभाग को विशेष महत्त्व दिया। हिन्दी एवं अन्य विषयों में एम ए की कक्षाएँ खुल गई। स्नातकोत्तर महाविद्यालय हो गया। महाविद्यालय मेरे निवास स्थान से निकट होने के कारण समाह में दो घण्टे एम ए. को भाषा विज्ञान पढ़ाने जाने लगा। मुझे प्राचार्य से मिलने और बात करने का प्रायः अवसर नहीं मिलता। मैं कालेज जाता था और यथासमय लौट आता था। मैं देखता था कि कालेज में कक्षाएँ नियमित होती

है। कोई गडबड नहीं। छात्रों की सुख-सुविधाओं की चिन्ता प्राचार्य पाथरीकर को रही है।

कालेज में पाँच-छ वर्ष से पढ़ाते आया हूँ। वैसे ही थक गया था। इसी वर्ष फरवरी २००२ के प्रथम सप्ताह में मेरी अन्तिम क्लास थी। साढ़े-चार बजे लौटना था। इच्छा हुई कि अब पुनः इस कालेज में अगले वर्ष आना नहीं है। इसलिए प्राचार्य से मिल लेना चाहिए। उनके कक्ष में पहुँचा। अकेले मिले। बोले 'सर, या बसा।' — मराठी में ही बात करते थे। छात्र-जीवन में तो मुझे 'सर Sir' कहते थे। किन्तु उस दिन भी उन्होंने छात्र की तरह बात की। मैंने घर परिवार की बात पूछी तो वतलाया, 'मकान नन्दनवन कालोनी में है। उसके लिए डॉ. सूर्यवशी ने उनकी सहायता की। बच्चों की खुशहाली बतलाई। सारी बातचीत पारिवारिक स्तर पर हुई। मुझे उस समय मालूम नहीं था कि वह मेरी उनसे अन्तिम भेट होगी। लौटते समय मैंने कहा — 'अब थक गया हूँ। अगले वर्ष नहीं आ सकूँगा। इसीलिए लौटने से पूर्व मिलने आया हूँ।' बोले — 'वैसे हम कभी-कभी आपको बुलाएंगे, कालेज आपका है।' बहुत प्यार और सम्मान से उन्होंने बात की। मैं लौट आया।

२३ मार्च २००२ के लोकमत में पढ़ा कि २२ मार्च को सायंकाल में पाथरीकर अचानक अपने कर्तव्यों का पालन करते-करते चले गए। विश्वास नहीं हुआ। अभी तो बहुत काम करना था। उनके निधन से उनका परिवार, कालेज का परिवार ही नहीं अपितु औरंगाबाद का शिक्षा-जगत् सभी दुःखी हो गए।

□ □

6

भारतीय हिन्दी परिषद

मैं भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशनों में अवसर मिलने पर जाता रहा हूँ। कुल आठ अधिवेशनों में उपस्थित रहा हूँ। उन अधिवेशनों में अवसर मिलने पर अपना आलेख भी पढता रहा हूँ। प्रथमतः अलीगढ़ अधिवेशन में १९६३ ई. में गया था। उस समय मैं तिरुपति में था। दूसरी बार १९६७ ई. में तिरुपति से ही हैदराबाद गया था। दोनों अधिवेशनों के सम्बन्ध में मैंने प्रथम भाग में लिख दिया है। इसके बाद के सभी अधिवेशनों में मैं औरंगाबाद से ही गया हूँ। बाद के अधिवेशन क्रमशः पुणे (१९७० ई.) / कालिकट (१९७५ ई.) / आनन्द (१९७७ ई.) / वाराणसी (१९८० ई.) / औरंगाबाद (१९८४ ई.) तथा लखनऊ (१९८८ ई.) में भी यथासमय उपस्थित रहा हूँ।

पुणे अधिवेशन में, जिन विद्वानों को देखने, सुनने और मिलने का अवसर मिला, उनमें कुछ नाम लिख रहा हूँ। विशेष नाम है — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी,

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, आचार्य विनयमोहन शर्मा, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा । उस समय डॉ विजयपालसिंह वाराणसी से आए थे और आचार्यजी (डॉ एम टी नरसिहाचारी) तिरुपति से आए थे । उस समय डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित तो पुणे में ही थे । उनके सभी सहयोगी काम कर रहे थे । सदस्यों के लिए पुणे-दर्शन के लिए बस की व्यवस्था की गई थी । पत्नी भी साथ में थी । हम दोनों ने 'पुणे-दर्शन' का लाभ उठाया । पर्वती की सांगी सीढियाँ चढ़ गए और नीचे उतर आए । समूह में पुणे देखा । सदस्यों का साहचर्य मिला । उस समय डॉ चन्दूलाल दुबे से परिचय हुआ । वे पहले हैदराबाद अधिवेशन में भी मिले थे ।

पुणे अधिवेशन की विशेष सगोष्ठी — 'व्याकरण-सगोष्ठी' थी । उसमें दो वक्ता विशेष थे । एक तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी थे और दूसरे आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा थे । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी व्याकरण जैसे विषय पर — गभीर विषय पर — सहजता से विषय को सहज बनाकर बोले । विषय को सृजनात्मक रूप दिया । शब्द (पारिभाषिक शब्द) कहेंगे, उसकी व्याख्या व्याकरणिक ढंग से न करेंगे, सृजनात्मक ढंग से करेंगे । जैसे 'सर्वनाम' कहा । फिर बोले — 'यह सब का नाम है, किसी अकेले का नाम नहीं है । भेद भी, इसी प्रकार बतलाते गए । वे उन दिनों में व्याकरण की किसी परियोजना पर काम कर रहे थे । प्रत्ययों पर, व्याकरणिक रूपों पर इसी तरह बोलते रहे । चिन्तन को उन्होंने सृजनात्मक रूप दिया । सृजनात्मक लिखनेवाले को शास्त्र पढ़ना पडा जो उनके स्वभाव में नहीं । शास्त्र पढ लिया तो उसे भी सृजनात्मक स्वरूप दिया । वे सदैव 'मूल' तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं — शब्दों से जूझते हैं । उनका जूझना चलता रहता है । इसलिए वे बोलते-बोलते चुप हो जाते हैं और फिर अचानक एक प्रवाह में बोलते जाते हैं । वक्ता की प्रवाहमयी वाणी किसी दूसरे वक्ता से सुनने नहीं मिली । नामवरसिंह उन्हीं के शिष्य हैं ।

पुणे के अधिवेशन में डॉ कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह अध्यक्ष थे और इस अधिवेशन का उद्घाटन भाषण माननीय बालासाहब भारदे ने दिया था । सर परशुराम भाऊ कालेज के प्रांगण में इस अधिवेशन के सभी कार्यक्रम हुए । उक्त कालेज तिलक रोड पर है । पुणे के अधिवेशन में नये अध्यक्ष का चुनाव हुआ । नये अध्यक्ष आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा हुए । अक्टूबर १९७० ई. में हुए । इस पुणे अधिवेशन के बाद में दिसम्बर १९७१ ई. में खालियर में २५वाँ अधिवेशन हुआ । उसमें मैं जा नहीं सका । उसके बाद में २६वाँ अधिवेशन जून १९७४ ई. में वरुण

विद्यानगर (आनन्द के निकट) में हुआ। उस समय आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ही अध्यक्ष थे। उद्घाटन भाषण डॉ. नूफ़ल हसन ने दिया था। वल्लभ विद्यानगर के अधिवेशन में गया था। गुजरात में पहली बार गया। सरदार वल्लभभाई पटेल की वह भूमि है। उन्हीं के नाम से विश्वविद्यालय पहचाना जाता है। उनका गाँव 'खेडा' वहाँ से निकट है। आनन्द से वल्लभ विद्यानगर तक बस की व्यवस्था है। मार्केट स्थान आनन्द ही है। आनन्द में दूध की 'अमूल डेअरी' है। विश्वविद्यालय उस समय नया-नया लगा। विश्वविद्यालय के नाम से नगर भी कहलाने लगा है। विश्वविद्यालय का कैम्पस — वल्लभ विद्यानगर है। उस समय की विशेष स्मृतियों में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का नाम ले सकता हूँ। कलकत्ता से वे भी आए थे। लौटते समय आनन्द रेलवे स्टेशन पर घण्टे-दो घण्टे तक हमें प्लेट फार्म पर प्रतीक्षा करनी पड़ी। हमारे साथ और भी कई सदस्य थे। शास्त्रीजी ने औरंगाबाद में दौलताबाद की चोटी पर हमें कविताएँ सुनाई थीं। आनन्द स्टेशन पर भी उन्हें कविता सुनाने कहा। मैंने तुलसी की विनयपत्रिका के पद सुनाए। जवाब में उन्होंने तुलसी के कई पद सुनाए। उनकी स्मरणशक्ति गजब की है। विद्या उनके कंठ में है। जिनके कंठ में विद्या हो, वह अच्छा वक्ता हो सकता है। मंच पर खड़े हो जाएँ तो धाराप्रवाह बोलने की क्षमता उनमें है।

वल्लभ विद्यानगर के बाद, दिसम्बर १९७५ ई. में कालिकट में अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में मैं कालिकट गया था। उसमें विभाग से डॉ. चन्द्रभानु सोनवणे भी आए थे। कालिकट अधिवेशन में डॉ. विजयेन्द्र स्नातक अध्यक्ष थे। उद्घाटन भाषण डॉ. डी. पी. यादव, उप शिक्षा मंत्री ने दिया था। कालिकट विश्वविद्यालय कालिकट शहर से बहुत दूर है। वैसे ही जैसे वल्लभ विद्यानगर से आनन्द स्टेशन दूर है। आनन्द — शहर है। कालिकट विश्वविद्यालय का कैम्पस एक अलग नगर हो गया है। कालिकट के अधिवेशन में डॉ. रामवरसिंह, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल (नाटककार) भी उपस्थित थे। सभवतः वे किसी अन्य योजना के अन्तर्गत आए थे। हम लोग उन्हें मुन्ने गए थे। उस समय तक परिषद के नये अध्यक्ष का चुनाव हो गया था। डॉ. मलिक मोहम्मद नये अध्यक्ष हो गए थे।

कालिकट में हिन्दी विभाग की स्थापना १९७९ ई. हुई। उस समय डॉ. मलिक मोहम्मद की नियुक्ति हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के रूप

मे हुई। उनके साथ मे डॉ. जी गोपीनाथन् की नियुक्ति हुई। उनके बाद में ओर भी नियुक्तियाँ हुई हैं। कालिकट अधिवेशन के समय मे ठाकुर साहब (डॉ. श्रीधरसिंह) तिरुपति मे ही थे। बाद मे डॉ. मलिक मोहम्मद के आग्रह से वे कालिकट विश्वविद्यालय में पहुँच गए। और वही से गुवाहाटी गए।

कालिकट नगर मैंने उसी समय देखा। समुद्र का किनागा देखा। मार्किट मे काजू खरीदे। उस समय कोकण रेलवे नहीं थी। मै तो कालिकट एक ही बार गया। पुन जाना नहीं हुआ।

कालिकट अधिवेशन के बाद १९७७ में कुरुक्षेत्र में अधिवेशन हुआ। उसमे नहीं जा सका। बाद में १९८० ई. मे, जनवरी मास मे, वाराणसी मे अधिवेशन हुआ। उसमें गया था। वह अधिवेशन रेलवे स्टेशन के निकट काशी विद्यापीठ के प्राणण में हुआ। विश्वविद्यालय मे नहीं हुआ। उस अधिवेशन में डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित अध्यक्ष थे। उद्घाटन भाषण महादेवी वर्मा ने दिया था। उक्त भाषण का अब तक स्मरण है। महादेवी बोलती है तो सरस्वती मुखरित होती है। नपी तुली सासगर्भित उनकी शब्दमाला होती है। उनके गद्य में भी छायावादी-रहस्यवादी झलक को पहचाना जा सकता है।

डॉ. विजयपालसिंह उस समय BHU मे प्रोफेसर एव अध्यक्ष थे। मालूम हुआ कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र बीमार है। उन्हे देखने के लिए BHU के अस्पताल डॉ. विजयपालसिंह के साथ गया। घर पर गया। चाची से और बच्चों से मिला। हम लोग जहाँ ठहरे हुए थे, उनमें मेरे साथ में डॉ. बिजेन्द्रनारायणसिंह थे। वे भागलपुर के थे। डी.लिट् की मौखिकी के लिए जब गया, उस समय (१९७८ ई.) डॉ. बिजेन्द्रनारायणसिंह भागलपुर में थे। निवास पर गया था। उनके साथ रहने से मेरा परिचय क्षेत्र बढा। जनवरी का प्रथम सप्ताह था। वाराणसी का जाडा था। सबेरे नहाने के लिए गरम पानी चाहिए था। उस समय बिजेन्द्रनारायणसिंह के BHU के छात्र के घर पर गये। वही स्नान किया। फिर लौट आए। उनके साथ चौक मे मोदीजी की दुकान पर गये। कुछ पुस्तकें खरीदी। समाजशास्त्र और साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें खरीदी।

वाराणसी के अधिवेशन मे भाषा विज्ञान से सम्बन्धित सगोष्ठी में मैंने अर्थ-विवृति शीर्षक निबन्ध पढा। गोष्ठी के अध्यक्ष डॉ. विद्यानिवास मिश्र थे। उक्त निबन्ध के पढने के बाद उस विषय पर मेरा ध्यान केन्द्रित हुआ। वाराणसी

से लौटने के बाद मैंने 'अर्थानुशासन' पुस्तक लिखी। पूरी पुस्तक डॉ. तेलग साहब को क्रमशः सुनाना रहा। वे बहुत प्रसन्न हुए। वही पुस्तक बाद में वाणी प्रकाशन, दिल्ली से १९८५ ई. में प्रकाशित हुई। प्रकाशन में पाँच वर्ष लग गये। डॉ. तेलग साहब के निधन के बाद मैं उक्त पुस्तक का प्रकाशन हुआ। वे उम्र पुस्तक को देख नहीं सके।

उमरी वर्ष (१९८० ई.) में नवम्बर मास में मैंने डॉ. विजयपालसिंह अभिनंदन ग्रंथ के काम का आरम्भ किया। १९८३ ई. में काम पूरा हुआ। १९८३ ई. के सितम्बर मास में ग्रंथ प्रस्तुत हुआ। मेरी और डॉ. धनराज मानधाने की प्रार्थना का स्वीकार कर डॉ. साहब चाची के साथ औरंगाबाद आए। मेरी योजना, उनका सम्मान करने की थी। डॉ. मानधाने ने बीड के अपने महाविद्यालय में कार्यक्रम आयोजित किया और बाद में लातूर में तेजमल न लाहोटी गार्डन के प्रांगण में वैसा ही आयोजन हुआ। वहाँ से लौटने के बाद मैंने डॉक्टर साहब से निवेदन किया कि आपकी अध्यक्षता का परिषद का अधिवेशन औरंगाबाद में होना चाहिए। वाराणसी के (१९८० ई. के) अधिवेशन में डॉ. विजयपालसिंह का चयन अध्यक्ष के रूप में हो गया था। डॉक्टर साहब को प्रस्ताव अच्छा लगा। वे विभाग में आए। उन्होंने राजूरकर साहब से बात की। उनसे बात करने के बाद उन्हें और मुझे साथ लेकर वाइस-चांसलर से मिलने के लिए चले। उस समय कानडे साहब वाइस-चांसलर थे। वाइस-चांसलर के कक्ष में हम सब बैठ गए। परिचय हुआ। वाइस-चांसलर को बतलाया गया कि डॉक्टर साहब भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष हैं। डॉक्टर साहब उठ खड़े हुए। वे आरम्भ में ही साहसी रहे हैं। सीधे वाइस-चांसलर की कुर्सी के पास चले गए। कानडे साहब को उठाया और भीतर के कक्ष में जाकर उनसे बात की। मैं और राजूरकर साहब बैठे रहे। पाँच-दस मिनट बाद पुनः बाहर आये। निर्णय हो गया। कानडे साहब ने स्वीकृति दे दी और आयोजन की तैयारी के लिए कह दिया। भारतीय हिन्दी परिषद के औरंगाबाद अधिवेशन की तैयारी का काम उसी समय शुरू हो गया। अधिवेशन की तिथियों का निर्णय उसी समय हो गया। २, ३, ४ जून १९८४ ई. — तिथियों का निर्णय हुआ। उक्त अधिवेशन परिषद का तीसरा अधिवेशन था।

उक्त अधिवेशन का सम्पूर्ण कार्यभार डॉ. राजूरकर साहब पर था। उन्होंने निर्णय कर लिया और अपने साथियों के साथ कार्य में जुट गए। नवम्बर

१९८२ ई. म निर्णय हुआ और अधिवेशन जून १९८४ ई में था । 'स्मारिका' के लिए विज्ञापन जुटाने का बड़ा काम था । उन दिनों मे अलीगढ़ के प्रोफेसर डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त औरंगाबाद में थे । वे विभाग मे विजिटिंग प्रोफेसर थे । तीन महीने वे वहाँ रहे हैं । उनका लडका भी यही पर काम करता था । डॉ गुप्त की पहचान यहाँ के औद्योगिक क्षेत्र से थी । उनके कारण काफी विज्ञापन एकत्रित हुए । विभाग के प्राय सभी सदस्यों ने खूब परिश्रम किया । डॉ भट्टेकर, डॉ. चन्द्रदेव कवड़े, डॉ नारायण शर्मा, डॉ. नन्दकिशोर शाणा आदि सभी कार्य कर रहे थे । डॉ चन्द्रभानु सोनवणे भी हमारे साथ रहते थे ।

डॉ राजूरकर साहब का प्रभाव विन्वविद्यालय के अन्य विभागो से, कार्यालय के अधिकारियो पर रहा है । उनका कार्य कोई रोकता नही । खेल विभाग के डॉ डोकरट और उनके सहयोगिया ने भोजन की व्यवस्था की । आवास की व्यवस्था होस्टल में की गई । डॉक्टर साहब परिषद के अध्यक्ष थे । उनकी व्यवस्था गेस्ट हाउस में की गई थी । किन्तु वे अपने साथियो के साथ होस्टल में ठहरे । डॉ रमेशकुमार शर्मा के साथ मे रहे । कौन-कौन आए, कहाँ-कहाँ ठहरे, क्या-क्या हुआ ? यह सब देखने के लिए मेरे पास समय ही नही था । मै तो प्राय बैठकर टेबल वर्क करता था । स्मारिका का सम्पादन मैंने किया । प्रेस में बैठकर प्रूफ्स देखता रहा । जो मामूली मिलती, उसे क्रम देता । यथासमय स्मारिका छप गई ।

उक्त अधिवेशनो की सगोष्ठियो में सम्मिलित नहीं हो सका । मिलने-जुलने मे तथा अन्य-अन्य कार्यों मे व्यस्त रहा । उम समय जिस सगोष्ठी की चर्चा अधिक सुनने में आई, वह प्रेमचंद वाली सगोष्ठी थी । दो प्रेमचंद विशेषज्ञ आपस मे जुझ रहे थे । दिल्ली के डॉ. कमलाकिशोर गोयनका और अलीगढ़ के डॉ. शैलेश जैदी ।

उक्त अधिवेशन के लिए डॉ. राजूरकर साहब ने मुख्यमंत्री माननीय वसतदादा पाटील से सम्पर्क किया था । तदर्थ मुख्यमंत्री ने एक लाख रुपया दिया था । उक्त राशि बैंक मे जमा की गई । वह राशि अतिरिक्त होने के कारण बैंक मे पडी रही । उक्त राशि के खर्च के लिए डॉ. राजूरकर साहब की योजनाएँ थी । वे विभाग के लिए उसका उपयोग करना चाहते थे ।

परिषद के अधिवेशन के दो दिन तो सफलता मे सम्पन्न हुए । कार्यक्रम ठीक हुआ । इस बीच चुनाव भी हुआ । डॉ राजूरकर साहब परिषद के नये अध्यक्ष हो गये ।

अधिवेशन के दूसरे दिन रात्रि भोज की व्यवस्था औरंगाबाद की नगरपालिका ने की। आयोजन सिद्धार्थ-गार्डन में हुआ। भोजन के उपरान्त सब सदस्यों को आइसक्रीम दिया गया। आन्ध्र विश्वविद्यालय से प्राध्यापक आए हुए थे। उनमें से एक सदस्य ने आइसक्रीम खा लिया। अच्छा लगने के कारण अतिरिक्त आइसक्रीम का सेवन किया। उन्हे शूगर की बीमारी थी। यो भी आइसक्रीम सेवन करने की उन्हे मनाई थी। उनके साथी उन्हे समझाते रहे, माने नहीं। लौटने के बाद उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। अस्पताल पहुँचाया गया। उनका निधन हो गया। तीसरे दिन का कार्यक्रम नहीं हो सका। दोपहर में ही शोक सभा के बाद सदस्यों को छुट्टी कर दी गई। हम लोग तो घाटी अस्पताल में थे। शव को वाल्टर भिजवाने की व्यवस्था की गई। आन्ध्र विश्वविद्यालय के डॉ. कर्णराज शेषगिरिराव शव के साथ गए। यहाँ से भी एक सदस्य को साथ भेजा गया। किस समय क्या होगा? कुछ कहना कठिन है।

डॉ. राजूरकर साहब अब अध्यक्ष हो गये थे। उनकी अध्यक्षता में अधिवेशन कहीं पर हो इसका निर्णय जल्दी नहीं हो सका। दक्षिण के किसी विश्वविद्यालय से ठीक से सम्पर्क नहीं हो सका। उन्हीं दिनों में डॉ. सूर्यप्रसाद दीक्षित यहाँ आए थे। उनके व्याख्यान विभाग में हुए। वे मेरे घर पर भी आए। भाईसाहब डॉ. राजूरकर ने लखनऊ अधिवेशन की बात चलाई। उक्त अधिवेशन का निर्णय हो गया। इकतीसवाँ अधिवेशन लखनऊ में हुआ। उस समय डॉ. भ. ह. राजूरकर अध्यक्ष थे।

हम सब लोग यहाँ से १९८८ ई. में लखनऊ गये। औरंगाबाद से लखनऊ पहुँचनेवालों की संख्या अधिक थी। मैं भाईसाहब डॉ. भ. ह. राजूरकरजी तथा डॉ. (श्रीमती) अनीता गजूरकरजी के साथ मैं गया। लखनऊ की सुपर फास्ट ट्रेन से गये। औरंगाबाद से डॉ. चन्द्रदेव कवडे तथा डॉ. कमलाकर गगावणे भी आए। वे दोनों साथ में थे। लखनऊ में हम सब मिल गये। लखनऊ में चुनाव हुए। नये अध्यक्ष आचार्य कल्याणमल लोढा हुए। उपाध्यक्ष के रूप में मेरा चयन हुआ। मेरा नाम प्रस्तावित हुआ और मैं चुन लिया गया। आचार्य कल्याणमलजी लोढा की अध्यक्षता में अगले अधिवेशन के लिए प्रयत्न जारी थे।

लखनऊ अधिवेशन के बाद में लौटने की कथा लिखता हूँ। लखनऊ तक तो हम पहुँच ही गए थे। वहाँ से अयोध्या निकट ही है। सीधे बस जाती है। इसलिए लखनऊ से हम लोग अयोध्या गये। पहले फैजाबाद आता है। वस्तुतः

फैजाबाद अयोध्या का ही भाग है। वह अयोध्या का नया विकसित नगर है। मुगलकालीन प्रतीत होता है। अयोध्या प्राचीन है। फैजाबाद में नया मार्केट है। अयोध्या के लोगों का आना-जाना अधिक है। हम लोग अयोध्या के निकट बिड़ला धर्मशाला में ठहर गए। कमरे मिल गए। अयोध्या का राममन्दिर देखा। रामलला को देखा। राम का वह जन्मस्थान है। मन्दिर का साकेतिक रूप है। मसजिद तो बाद में ढह गई थी। पुलिस पहरा था। घेरे से बाहर महतों के पीठ थे। अयोध्या — वस्तुतः साधुओं का नगर है। मन्दिर भी बहुत हैं। एक दिन में सारे मन्दिर देखना संभव नहीं। हम लोगों ने विशेष-विशेष मन्दिर देखे। वाल्मीकि रामायण सगमरमर के सफेद पत्थरों पर काले अक्षरों में अंकित है। दुमजली छत है। सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर जाओ तो मन्दिर के अधिकांशों के कक्ष बने हुए हैं। उन कक्षों में 'राम-नाम की बैंक हैं।' वहाँ से लोग राम-नाम की रिक्त बहियाँ ले जाते हैं। नियमित राम-नाम लिखते हैं। बाद में उक्त वही वहाँ जमा कर दी जाती है। आपके नाम का खाता खुल जाता है। श्रद्धालुओं की भीड़ रहती है। बैंक के काउण्टर पर सम्बन्धित व्यक्ति बैठा हुआ मिलता है। वाल्मीकि मन्दिर के ठीक सामने साधुओं के ठहरने का स्थान है। अलग-अलग खुले कक्ष हैं। एक साधु के लिए आवश्यक जगह साधु को मिल जाती है। रमते जोगी आते हैं और फिर यात्रा पर चले जाते हैं। मन्दिरों में हमने फिर प्राचीन जैन मन्दिर देखे। नगर के मध्य भाग में है। हम सब की इच्छा सरयू तट देखने की हुई। वाहन द्वारा सरयू तट पहुँचे। सरयू का किनारा देखा। सरयू का घाट था। घाट की सीढ़ियाँ उतर कर नीचे गए। हाथ-पैर धोए। मुख धोया। सिर-पर भी जल डाला। सरयू का जल निर्मल था। नदी अपने बहाव में थी। रमणीय दृश्य देखा। लौट आए। अयोध्या के बाद वहाँ से हम कानपुर लौट गए। ट्रेन हमें कानपुर में पकड़नी थी। कानपुर में साहित्य रत्नालय के मालिक महेश त्रिपाठी ने होटल में हमारे कमरे बुक कर दिये थे। होटल से महेश की दुकान निकट ही थी। हम लोग थके हुए थे। सोना चाहते थे। उस दिन रात्रि में होटल के पड़ोस के प्राण में रामानन्द सागर का कार्यक्रम चल रहा था। हमें सब सुनाई दे रहा था। सुमनजी को मंच मिल जाए तो उनकी आवाज गूँजती है और वे मंच जल्दी छोड़ते नहीं। हमने दोनों के भाषण सुने। नीचे नहीं गए।

महेश त्रिपाठी ने हमारे बिदूर जाने की व्यवस्था कर दी। कानपुर गंगा नदी के किनारे पर है। बिदूर नानासाहब का स्थान है। १८५७ ई की क्रान्ति का

ऐतिहासिक स्मृति स्थल है। हमने वह ऐतिहासिक स्मृतिस्थल घूमकर देखा। वहाँ से गंगा के घाट की सीढियों उतर कर नाव में बैठकर वाल्मीकि के आश्रम में गये। लव-कुश के जन्म-स्थान का वह आश्रम है। सीता के बनवास का वह स्थान है। प्रकृति की रमणीय गोद में वह आश्रम बना हुआ है। सीता की कुटिया बनी हुई है। धरती में समा जानेवाला स्थान भी वहाँ पर है। अयोध्या से वह आश्रम दूर नहीं है। लखनऊ से हम लोग तो अयोध्या चले गए। उस समय डॉ. क्वडे और डॉ. कमलाकर गगावणे कानपुर चले आए थे। उन्होंने सभवत हमारी सारी व्यवस्था हमारे लिए की थी। महेश को सब बतला दिया हो। कानपुर स्टेशन पर हमें यथासमय महेश ने गाड़ी में बैठा दिया। हम लोग लौट आए।

लखनऊ के अधिवेशन के बाद में, मैं किसी अन्य अधिवेशन में नहीं गया।

□ □

आचार्य कल्याणमलजी लोढा

आचार्य कल्याणमलजी लोढा से परिचय बहुत पहले औरंगाबाद में ही हुआ। १९८३ ई. से पूर्व हुआ। उस समय डॉ. भालचन्द्र तेलंग सेवानिवृत्त होने पर भी सक्रिय थे और व्याख्यानो में आते रहते थे। पूना राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार सभा की शाखा औरंगाबाद में है। उसमें उनको व्याख्यान देना था। उनके साथ पटना के डॉ. कुमार विमल भी आए हुए थे। उक्त आयोजन में डॉ. तेलंग साहब ने परिचय देते हुए कहा था कि दोनों मल्ल उपस्थित हैं। अपने-अपने विषय में निपुण हैं। व्याख्यान उस समय ही नहीं। बाद में भी हुए। कामायनी पर तीन व्याख्यान उन्होंने दिए हैं। मैं उन दिनों टाउन हॉल, ६ आनन्दनगर में रहता था। १९८३ ई. से तो पत्र-व्यवहार जारी है। उनके पत्र मिलते ही रहते हैं। लखनऊ के भारतीय हिन्दी परिषद में वे भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष हो गए। उस अधिवेशन में डॉ. भ. ह. राजूरकर के बाद में उन्हें अध्यक्ष बनाया गया। उसी समय मैं भी परिषद का उपसभापति हुआ। उसके बाद के वर्षों में उनके पत्र लगातार मिलते रहे हैं।

कलकत्ता में तो उनका स्थायी आवास है। किन्तु जयपुर में भी उन्होंने अपनी कोठी बना ली है। जयपुर का पता है—७५, किरण मार्ग, सूरज नगर पश्चिम, सिविल लाइन्स, जयपुर ३०२००६। १९८८ ई. के बाद में, लखनऊ में भारतीय हिन्दी परिषद का अध्यक्ष हो जाने के बाद मैं उनके साथ पत्र-व्यवहार बढ़ गया था। हम लोगो को लखनऊ के बाद के अधिवेशन की व्यवस्था करनी थी।

हैदराबाद तथा बम्बई विश्वविद्यालयों से सम्पर्क करने पर विशेष सफलता नहीं मिली। बाद के वर्षों में मेरा दो-तीन बार (१९८८ ई. से १९९१ ई. तक) जयपुर जाना हुआ। दिसम्बर १९८९ ई. में तो कलकत्ता में मिलना हुआ था। उस समय उनकी पत्नी थीं। जयपुर की यात्रा में डॉ. नरेन्द्र भानावत से मिलना हुआ तो उन्होंने कहा कि लोढाजी यहीं पर है। उन्होंने फोन किया। लोढाजी को फोन करके बुलवा लिया। मैंने आगामी अधिवेशन की बात चलाई। उस समय डॉ. भानावत तैयार नहीं हुए। उस समय विभाग में डॉ. हीरालाल माहेश्वरी अध्यक्ष थे। इसीलिए। भानावतजी के बगले से हम लोग लोढाजी के आवास पर गये। श्रीमती लोढा मिली। पत्नी भी साथ में थी। धूमकर सारा भवन दिखलाया। लोढाजी से साहित्यिक संवाद हुआ। बाद में उन्होंने हमें हमारे आवास पर छोड़ दिया। बाद में भानावतजी से लोढाजी से पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क जारी रहा। और अन्ततः जयपुर में अधिवेशन का निर्णय हुआ। अक्टूबर १९९२ ई. में उक्त अधिवेशन हुआ। कई पत्र मिले। मैं तो सितम्बर १९९२ ई. में पूना के रुबी अस्पताल में था। यद्यपि मैं जा नहीं सकता था। तथापि मुझे सारे समाचार मिलते रहे हैं।

□ □

इलाहाबाद से सम्पर्क

परिषद् का उपसभापति होने के कारण इलाहाबाद से सम्पर्क बना रहा है। विशेष रूप से डॉ. रामकमलराय, डॉ. राजेन्द्रकुमार वर्मा और डॉ. जगदीश गुप्त से पत्र-व्यवहार रहा है। दिल्ली से डॉ. कमलकिशोर गोयनका और पटना से डॉ. गोपालराय के पत्र भी मिलते रहे हैं। डॉ. जगदीश गुप्त तो यहाँ पर आए थे। विभाग में दो महीने तक आते रहते थे। गेस्ट हाउस में ठहरे थे। घर पर भी आए। परिषद् के नाम जो औरंगाबाद में राशि बैंक में थी, उसे वे लोग इलाहाबाद ले जाना चाहते थे। बाद में वह राशि इलाहाबाद के केन्द्रीय कार्यालय को दे दी गई। आचार्य कल्याणमलजी लोढा के दो पत्र —

प्रो. कल्याणमल लोढा

२ए, देशप्रिय पार्क (ईस्ट)

कलकत्ता - ७०००२६

दिनांक २० जून, १९८९

प्रिय भाई,

आपका दिनांक २१-५-८६ का पत्र मुझे परसों मिला। जयपुर में आपसे मिलकर मुझे भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। यह शुभ समाचार

भी मिला कि आपके पुत्र का विवाह १२-६-१९८९ को सम्पन्न होगा । घर में वधू का आगमन भी सदेव मांगलिक होता है । जून में आप परिषद का कार्य पूरा कर दे । यह एक बड़ा दायित्व हम लोगो पर है । प्रयाग तो शिथिल है । अब ठीक होगा । जोधपुर में अधिवेशन संभव नहीं है । हैदराबाद देखें । चारों ओर विचित्र निष्क्रियता है । मैं तो अपना दायित्व निभा रहा हूँ । अभी तक रु ३५,०००-०० भेज दिये हैं । आर्थिक संकट तो दूर हो गया पर विभिन्न कार्यों में गति नहीं आयी है । यह कठिनाई है । संभवतः मुझे प्रयाग जाना पड़ेगा । आप विश्व कोश का कार्य भी अब कर दें । यह भी एक बड़ा बोझ उठा लिया है । वीर प्रभु की ही शरण है ।

आप दक्षिण से जितने स्थायी सदस्य बना सकें — बनाएँ । परिषद के अखिल भारतीय रूप के लिए यह आवश्यक है ।

कृपया अपने समाचार देते रहें । परिवार में सबको यथायोग्य । आप कलकत्ता कार्यक्रम अवश्य बनाएँ । आपका फोन तो २७८४२ ही है ?

आपका
कल्याणमल लोढा

० ०

कलकत्ता
दि २६-६-९०

प्रिय भाई,

आज आपका कृपा पत्र मिला । प्रसन्नता हुई । औरंगाबाद से लौटकर मैंने आपको एक पत्र भेजा था, मिला होगा । डॉ. राजूरकर को भी पत्र भेजा था पर उत्तर नहीं मिला । अस्मिता के विवाह पर तुच्छ भेंट भी भेजी थी, पता नहीं वह भी मिली या नहीं । अब आप के पत्र का उत्तर —

१. अधिवेशनाङ्क छपा तो पर भदा । छपायी निकृष्ट है । कई पेज तो पढ़े ही नहीं जा सकते ।

२. प्रसाद भारतीय आत्मा व वर्मा के अंक भी शीघ्र छपेंगे ।

३. अधिवेशन के लिए डॉ. बाबिवडेकर को लिखा है —
अन्य कोई विभाग प्रस्तुत नहीं होता ।

४. अनुवाद सगोष्ठी का उद्घाटन भाषण भेजा, वह मिला ।
यह सूचना भी । आप ने देखा होगा परिश्रम से लिखा है ।
कैसा लगा ? लिखें ।

५. परिषद भवन के न्यास की नियमावली तैयार है । मैंने
रूपरेखा डा. राजूरकर को भेज दी थी । आप देखें और अभिमत
लिखें ।

६. मैंने उन्हे लिखा है कि निष्पादन समिति की बैठक वे
औरगाबाद में बुलाए जिससे अन्तिम निर्णय लिए जा सकें । आप
उनसे परामर्श करें ।

७. विश्वकोश का कार्य स्थगित हो रहा है । बिडला जी
ने हठात् अपने हाथ खींच लिए । देश-विदेश में मर्यादा नष्ट हुई ।
पर लगता है वह येनकेन प्रकारेण पूरा होगा ।

८. आप अपने स्वास्थ्य का का ध्यान रखें । अब कैसा
है, तन्दुरुस्ती हजार नहीं लाख नियामत है ।

९. विश्व कोश के लिए आपकी सामग्री व्यय गयी । आपकी
चेक भी मिल गया होगा । परिवार में मन्न को नमस्कार कहे ।
भाभी कैसी है ? बच्चे-बहुएँ । पुत्री का सम्बन्ध होना चाहिए ।
लडकियों तो परायी घरोहर है, जिसकी है उसे ही सौंपना है । लीली
आपको नमस्कार कह रही है । भाभी को भी ।

पत्र में कृपया सविस्तर सूचनाएँ दें ।

आपका

कल्याणमल लोढा

□ □

डॉ. नरेन्द्र भानावत

जब भी जयपुर गया, डॉ. नरेन्द्र भानावत के घर गया हूँ । हमारा परिचय
सहज में हुआ और फिर धीरे धीरे हम निकट आते गए । सन् १९७६ ई. में
राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में सगोष्ठी हुई थी । लगभग दो सप्ताह तक जयपुर
में रहने का अवसर मिला । उस समय विभाग के सदस्यों से परिचय हुआ । उनमें

घरलू सम्बन्ध डा भानावत से ही हुआ। उनके घर गया। हमारा पारिवारिक परिचय हुआ। बाद में भी जब जब जयपुर गया डॉ भानावत से मिले बिना लौटा नहीं हूँ।

मैंने अनुभव किया कि डॉ भानावत ने अपने लिए क्षेत्र विशेष का चयन कर लिया है। और वे सदैव अपने क्षेत्र से सम्बन्धित बात करते थे। साहित्यिक कार्य तो करते ही थे किन्तु उसमें भी अधिक जैन-वाङ्मय पर कार्य करने में रुचि लेते प्रतीत हुए। उनके कार्य के कई पहलू हैं। प्रधान रूप से लेखन कार्य तो है ही किन्तु उससे अधिक सामाजिक संगठन का कार्य भी राजस्थान में बाहर के क्षेत्रों में भी किया। संगोष्ठियाँ आयोजित की। उन संगोष्ठियों में मुझे भी निमंत्रित किया। संगोष्ठियों के विषय प्रायः जैन साहित्य और सस्कृति रहा है। मेरा अपना विषय 'जैन साहित्य और सस्कृति' नहीं रहा। इसलिए चाहकर भी किसी संगोष्ठी में सम्मिलित नहीं हो सका। किन्तु डॉ भानावत की ओर से योजनानुसार पत्र मुझे मिलते रहे हैं। इसीसे मैंने जाना कि उनमें सामाजिक संगठन की शक्ति है। तीसरी बात यह कि सम्पर्क में आनेवालों को लिखने के लिए प्रेरित करते रहे। कड़यो से उन्होंने धार्मिक और जीवन के व्यावहारिक विषयों पर लघु पुस्तकें लिखवाई और उन्हें प्रकाशित भी किया। और फिर जिनवाणी का सम्पादन कार्य अलग से करते रहे हैं और जिनवाणी के माध्यम से उनका परिचय उन-उन क्षेत्रों में होता गया, जहाँ-जहाँ जिनवाणी पहुँचती रही।

जयपुर से बाहर झालावाड की मैथिलीशरण गुप्त संगोष्ठी में हम मिले। हम लोग पास पास ही ठहरे हुए थे। सबेरे शाम साथ-साथ रहते। मन का साथी मिले तो बात बात में समय कट जाता है और जीवन के क्षण सुखद प्रतीत होने लगते हैं। हम दोनों के अध्ययन के विषय एक नहीं रहे। इसलिए हम मिलकर काम नहीं कर पाए। किन्तु बातचीत में उनके कार्यों का विवरण मुझे मिलता रहा और मैंने सदैव उनके कार्य का मन में सम्मान किया है और अब भी करता हूँ। साध्वी डॉ सरोजश्री जी की मौखिकी हेतु मुझे जयपुर जाना पड़ा। हम लोग रेलवे से मीनाक्षी एक्सप्रेस से गये थे। बम्बई विश्वविद्यालय ने पी-एच डी की मौखिकी जयपुर में लेने की अनुमति दी थी और बम्बई से पत्र पाने पर ही मैं जयपुर गया था। जयपुर स्टेशन पर स्टेशन से बाहर आने पर मालूम हुआ कि जयपुर में दगा हो गया है। सड़के बन्द है। बाजार बन्द है। मुश्किल में एक आँटो हमें मिला। हम लोग खोजते खोजते यथास्थान विश्वविद्यालय के निकट

पहुँच गये । मैंने पहले ही राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को अपने आगमन के सम्बन्ध में पत्र लिख दिया था । डॉ. नरेन्द्र भानावत मे मिले । उन्होंने हमारी व्यवस्था, यूनिवर्सिटी के गेस्ट हाउस में कर दी । मौखिकी के लिए प्रबन्ध निर्देशक बम्बई से यथासमय पहुँच नहीं सके । कारण — स्पष्ट था । जयपुर के दूरे की खबर मब ओर पहुँच गई थी । बिना प्रबन्ध निर्देशक के मौखिकी कैसे ले ? हमारे सामने प्रश्न था । डॉ. नरेन्द्र भानावत ने ह्युट्रिचो में भी यथासमय विभाग में मौखिकी की व्यवस्था करवा दी । वे स्वयं ही नहीं आए, अपितु विभाग के तीन-चार सदस्य भी यथासमय पहुँच गये । पी-एच.डी. की छात्रा साध्वीजी भी यथासमय विभाग में पहुँच गईं । सबके सम्मुख नियमानुसार मौखिकी सम्पन्न हुई । वही पर रिपोर्ट लिखकर मैंने विभागाध्यक्ष डॉ. नरेन्द्र भानावत को दी । उन्होंने यथास्थान हस्ताक्षर किए और नियमानुसार रिपोर्ट बम्बई विश्वविद्यालय को भेज दी । उस समय यदि डॉ. भानावतजी का सहयोग न मिलता तो हमारी जयपुर यात्रा बेकार हो जाती । हमने अपना काम कर दिया । आगे का काम विश्वविद्यालय को करना था । जयपुर आवास के वे तीनो दिन ऐसे थे जिनमें हम शहर नहीं जा सके । अजमेरी गेट के आगे पुराने शहर में जाना मना था । हम तो बिना शहर में गए वैसे ही जयपुर से लौट गए । लौटते समय हम उस आतंकित वातावरण से बचकर सीधे घर पहुँचने की इच्छा से हवाई जहाज से लौटे । हमारे उस सक्षिप्त आवाम में डॉ. नरेन्द्र भानावत और उनके स्नेही सहयोगी डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ का पूरा पूरा सहयोग और स्नेह मिला है । बहुत बाद में हमें मालूम हुआ कि डॉ. सरोजश्री की वह रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई और उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय ने पी-एच.डी की उपाधि प्रदान की ।

उक्त यात्रा के बाद हमारा सम्बन्ध और भी दृढ हुआ । औरंगाबाद के भारतीय हिन्दी परिषद के बाद, लखनऊ में अधिवेशन हुआ । उक्त अधिवेशन में आचार्य कल्याणमलजी लोढा भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष हो गए । उनके साथ मैं भी भारतीय हिन्दी परिषद का उपाध्यक्ष हुआ । लखनऊ के बाद में अधिवेशन कहाँ हो ? इस चिन्ता में हम रहते थे । हमारा पत्र-व्यवहार जारी था । पुनः जब जयपुर पहुँचा तो डॉ. भानावत के घर पर गया था । हम लोग बैठकर बातें कर रहे थे । डॉ. भानावतजी ने बतलाया कि इस समय आचार्य कल्याणमलजी लोढा यहीं पर हैं, चाहे तो फोन मिला देता हूँ, बात कर लीजिए । हमारी बात हुई । कहा कि वही ठहरो, मैं आ रहा हूँ । आचार्य कल्याणमलजी लोढा वहाँ पर आए ।

हमारी बातचीत हुई। उस समय मैंने कहा था कि अगला अधिवेशन जयपुर में होना चाहिए। किन्तु उस समय अध्यक्ष डॉ. हीरालाल माहेश्वरी थे। मैंने उनसे बात की। किन्तु उत्साह दिखलाई नहीं दिया। प्रस्ताव रखकर हम लोग प्रतीक्षा करते रहे। उसके बाद दूसरी बार जब जयपुर पहुँचा तो हम दोनों ही डॉ. भानावतजी के घर पहुँचे। उस दिन दोनों ही डॉ. भानावत और डॉ. शान्ता भानावत किसी प्रात्रा पर निकलने की तैयारी में थे। समय बहुत कम था। फिर भी हम लोगों के साथ उनकी बातचीत हुई। कहा कि आचार्य कल्याणमलजी लोढा इस समय भी यही पर है। इस बार वे अध्यक्ष हो गए थे। अब वे भारतीय हिन्दी परिषद का अधिवेशन जयपुर में ले सकते थे। इस सम्बन्ध में समयभाव के कारण मेरी उनसे विशेष बातचीत नहीं हुई। लौटने से पूर्व मैं आचार्य कल्याणमलजी लोढा से मिलने के लिए उनके जयपुर के निवास स्थान पर गया था। भेट हो गई। बात भी हुई। लौटने के बाद मालूम हुआ कि जयपुर में भारतीय हिन्दी परिषद का अधिवेशन हो रहा है। मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु अस्वस्थता के कारण मैं जयपुर नहीं जा सका। औरंगाबाद से विभाग के कई सदस्य जयपुर गए थे। लौटकर आनेवालों ने जयपुर के अधिवेशन की बड़ी सराहना की। डॉ. नरेन्द्र भानावत ने अधिवेशन की व्यवस्था उत्तम की थी। मुझे उनके दो पत्र अधिवेशन के बाद मिले हैं। स्मारिका भी मिली। सब कुछ सुना और पढ़ा भी। किन्तु चाहकर भी उनसे मिलना नहीं हुआ। ४ नवम्बर १९९३ को दोपहर में आकाशवाणी से सुना कि डॉ. नरेन्द्र भानावत नहीं रहे। सन्न रह गया। विश्वास नहीं हुआ। तुरन्त पत्र लिखा। पत्र मिलने पर स्वीकार करना पड़ा। उनके अन्तिम तीन पत्र आगे प्रस्तुत हैं —

डॉ. नरेन्द्र भानावत	सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग	तिलक नगर,
राजस्थान विश्वविद्यालय	जयपुर - ३०२ ००४
	दिनांक २-११-९१

प्रिय बोरु सा.

सस्नेह बन्दे ।

मैं नैनीताल, मसूरी, ऋषिकेश, हरिद्वार, देहरादून, मथुरा, वृन्दावन व आगरा की दस दिवसीय यात्रा से लौटा ही हूँ ।

यहाँ आने पर आपका ३-१०-९१ का लिखा पत्र प्राप्त हुआ ।

डाक-अव्यवस्था के कारण पत्र समय पर नहीं मिला । यदि पत्र समय पर मिल जाता तो आपको असुविधा न होती और विश्वविद्यालय का गेस्ट हाउस गौरवान्वित होता ।

आप भाभीजी के साथ घर पर पधारे, पर हम आपका विशेष आतिथ्य न कर पाये, उसी दिन हमे जाना था, अतः पूरी बात भी न हो सकी ! आशा है, अन्यथा न लेगे ।

प्रो लोढा से आपका मिलना हो गया होगा । भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन के सम्बन्ध में क्या बात चली, लिखे ।

दीपावली पर आपका व परिवार के सभी सदस्यों का अभिनन्दन व बधाई ।

आपका

डॉ नरेन्द्र भानावत

० ०

डॉ नरेन्द्र भानावत
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग,
तिलक नगर,
जयपुर - ३०२ ००४
दिनांक ७-१-९३

प्रिय बोगजी,
सन्नेह,

आपका पत्र मिला था । अधिवेशन की सफलता का श्रेय वस्तुतः आप जैसे सहृदय, शुभचिन्तक, विद्वान्, साहित्यकारों की भागीदारी को ही है । मैं तो मात्र निमित्त बना । आपकी सद्भावनाओं के लिए आभारी हूँ । स्मारिका शीघ्र ही आपकी सेवा में पहुँचेगी ।

नव वर्ष आपके एवं आपके समस्त परिवार के लिए सुख श्रीवर्धक एवं मंगलमय हो ।

इन्हीं शुभकामनाओं के साथ ।

आपका

डॉ नरेन्द्र भानावत

० ०

डॉ नरेन्द्र भानावत
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय

सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग,
तिलक नगर,
जयपुर - ३०२ ००४
दिनांक ७-२-९३

प्रिय बोरा,

सरस्नेह वन्दे !

सौ का. नमिता एव चि महेश के शुभविवाह की कुकुम पत्रिका सधन्यवाद प्राप्त हुई ।

चाहते हुए भी इस अवसर पर सदेह उपस्थित होना हमारे लिए सभव नहीं हो पा रहा है, कृपया क्षमा करें। समन हम आपके साथ है ।

नव-दम्पती को हमारी ओर से आशीर्वाद कहें । हम उनके चिर सुखी दाम्पत्य जीवन की मंगलकामना करते है ।

परिवार, समाज और राष्ट्र को अपने स्नेह, शील एव कर्मठ व्यक्तित्व से सिंचते हुए अभ्युदय और श्रेयस के पथ पर निरन्तर बढ़ते हुए नव-दम्पती यशस्वी बने, यही मंगलकामना है ।

परिवार में सभी को स्नेहाभिवादन ।

आपका

डॉ नरेन्द्र भानावत

□ □

डॉ. विजयपालसिंह अभिनंदन ग्रंथ

में 'भाव, उद्वेग और सवेदना' — पुस्तक लिख रहा था । उसको सुनाने डॉ भालचन्द्र तेलग के पास नियमित जाता था । उस समय वे अपने सुषमा निकुंज, बगले के पीछे के दो-तीन कमरो मे रहते थे । मुख्य बगला पूरा का पूरा किराये से दिया था । उनकी सेवामे एकमात्र पत्नी सुशीलादेवी थी । वह उनकी दूसरी पत्नी थी । पहली पत्नी दिवंगत हो गई थी । उनके दो पुत्र थे और दो पुत्रियाँ थी । दोनो पुत्र मध्यप्रदेश मे और दोनो पुत्रियाँ राजस्थान मे थे । पहली पत्नी का निधन १९४८ ई मे हुआ । तेलग साहब जब औरंगाबाद आए उस समय उनकी पहली पत्नी नहीं थी । दूसरी पत्नी के साथ कोई भी बच्चा रहने के लिए तैयार नहीं था । मिलने के लिए आते और मिलकर चले जाते । उन्होने सारी

खिन्दगी औरंगाबाद में गुजारी । मैं जब पहुंचता तो बहुत खुश होते । जो सामग्री लेकर पहुंचता, उसे ध्यान से सुनते । टिप्पणी करते । रीतिकाल के तो अधिकारी विद्वान् थे । उन्हें शुक्लजी याद आते । वे बनारस में उस समय पढ़नेवालों में थे, जब आचार्य शुक्ल पढ़ानेवालों में थे । त्रिवेणी के सम्पादक उनके मित्र थे । पुरानी स्मृतियों को दोहराते । मुझे वाराणसी से डॉक्टर साहब के पत्र मिलते रहते थे । तेलंग साहब बोले — 'क्यों न डॉ. विजयपालसिंह का अभिनदन करें ?' मैंने कहा — 'मैं तो करना चाहता हूँ, किन्तु यह होगा कैसे ?' बोले — 'औरंगाबाद में बैठने से काम नहीं होगा । इसके लिए वाराणसी जाना होगा । उनसे अनुमति लेने के लिए मिलना बहुत आवश्यक है । यह १९८० ई की बात है । १९७९ ई तक मैं पुस्तकें छापता रहा । १९८० ई. में मकान बनवाने की ओर ध्यान दिया था । वस्तुतः पुस्तक छपकर आते ही १९७९ ई में ही काम आरम्भ कर दिया था । उस समय कोई नई पुस्तक नहीं लिख रहा था । डी.लिट् १९७९ ई में हुआ था । मैंने डॉ. तेलंग साहब के अनुरोध को स्वीकार किया । वाराणसी गया । डॉक्टर साहब मिल गये । उनके घर पर ही ठहरा । निवेदन किया । पहले तो नकार दिया । कहा — 'क्यों चक्कर में पड़ता है ?' मैंने कहा — 'आप, हों कह दीजिए । बाकी काम मेरा है । मैं सब कुछ करूँगा ।' मान गए । वही पर काम शुरू हो गया । उस समय दीपावली की छुट्टियाँ थीं । नवम्बर १९८० की बात है ।

उक्त काम की रूपरेखा तैयार करने, वाराणसी के नामों की सूची बनाने तथा अन्य सामग्री संकलन हेतु मैंने डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का सहयोग लिया । उनके घर पर बैठकर काम किया । दूसरे दिन डॉक्टर साहब के घर पर बैठकर काम कर रहा था । उसी समय औरंगाबाद से तार मिला कि बम्बई में मेरे साले साहब मदनलालजी मंडलेचा नहीं रहे । वे उस समय चेम्बूर में इंग्लिश माध्यम हाईस्कूल के प्रिंसिपल थे । उस समय मेरा पुत्र सुनिल बम्बई में था । किसी फैक्ट्री की योजना के अन्तर्गत काम करने गया था । वह मेकानिकल डिप्लोमा हो गया था । समय की बात देखिए वह अपने मामाजी से मिलने के लिए पहली बार चेम्बूर गया और उसी रात उसके मामाजी चल बसे । अन्तिम समय में वह उनके पास में था । तार मिलते ही मैंने डॉक्टर साहब से बिदा ली । स्टेशन पहुंच गया । मुगलसराय गया । क्योंकि वही पर गाड़ियाँ अधिक मिलती हैं । किसी भी गाड़ी से लौटा जा सकता था । मैं पहले तो औरंगाबाद पहुंचा और बाद में तुरन्त बम्बई

(चेम्बूर) गया, बम्बई में पारिवारिक लोगों से मिला। अपनी स्कूल में मदनलालजी बहुत लोकप्रिय थे। अब तो कुछ वर्ष पूर्व बम्बई कांफ़ोरेशन ने उम स्कूल के मार्ग का नाम मदनलाल मडलेचा मार्ग रख दिया है।

बम्बई में लौटकर मैंने योजनानुसार सबको पत्र लिखे। सब से पहले डॉ. नगेन्द्र का पत्र मिला। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा —

डॉ. नगेन्द्र	ई-४/१८, मॉडल टाउन
कृतकार्य आचार्य, हिन्दी विभाग	दिल्ली-११०००९
दिल्ली विश्वविद्यालय	दूरभाष - ७१७९६९
	दिनांक २५-११-८०

प्रियवर

आपका पत्र २४ नवम्बर १९८० मिला। डॉ. विजयपालसिंह अभिनदन ग्रथ की योजना के लिए मैं आपका साधुवाद करता हूँ। आप मेरा नाम सम्पादक मण्डल में अवश्य रख लीजिए।

शुभैषी
नगेन्द्र

उसके बाद तो और पत्र मिलते गए और राशि भी जमा होती रही। फुटकर स्वरूप के लेख न छापकर काव्यशास्त्र में सम्बन्धित लेख एकत्रित करने का निर्णय किया। सम्पादक-मण्डल में नाम छपे हैं और जिनका निर्णय अंततः लिया गया, वे नाम इस प्रकार हैं —

प्रधान सम्पादक - प. जगन्नाथ तिवारी, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरबशलाल शर्मा, और डॉ. सत्येन्द्र।

संपादक मंडल - डॉ. ओम्प्रकाश, डॉ. रमेशकुमार शर्मा, डॉ. प्रेमस्वरूप गुप्त, डॉ. चन्द्रभान रावत, डॉ. भ. ह. राजूरकर, और डॉ. मलिक मोहम्मद।

प्रबन्ध सम्पादक एवं संयोजक - डॉ. राजमल बोरा।

इन नामों के अतिरिक्त परामर्श मंडल में बारह नाम इस प्रकार थे —

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा (पटना) / डॉ. विजयेन्द्र स्नातक (दिल्ली) / डॉ. रामसिंह तोमर (शान्तिनिकेतन) / डॉ. संसारचन्द्र (जम्मू-कश्मीर) / डॉ. सरलाशुक्ल (लाखनऊ) / डॉ. धर्मपाल मैनी (चण्डीगढ़) / डॉ. श्यामनन्दन किशोर (मुजफ्फरपुर) / डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा (जयपुर) / डॉ. एस. टी. नरसिहाचारी (तिरुपति) / डॉ. कुमार विमल (पटना) / डॉ. एस. कृष्णमूर्ति (बेंगलूर) और डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन (मद्रास)।

इन नामों में डा. नामवरसिंह का नाम भी रखा गया था किन्तु उनका नकारात्मक पत्र मिलने के कारण उनका नाम हटा दिया गया। यो इस कार्य के लिए अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी विभागों के सदस्यों से अपूर्व सहयोग मिला है। औरंगाबाद के हिन्दी विभाग के प्रत्येक सदस्य ने आर्थिक सहयोग दिया है। डॉ. भ. ह. राजूरकर एवं श्रीमती (डॉ.) अनीता राजूरकर दोनों ने ५०१ की राशि अलग अलग दी। यो सामान्य रूप में १०१ रु. सभी ने अपनी और से दिए हैं। सब के नाम नहीं लिख रहा हूँ। इस सम्बन्ध में ग्रंथ के आरंभ में 'यह आयोजन यह ग्रंथ' शीर्षक के अन्तर्गत मैंने लिखा है —

“नवम्बर १९८० की वाराणसी यात्रा के बाद पहली यात्रा दिसम्बर १९८० में हैदराबाद और तिरुपति की की। मार्च ८१ में जयपुर, जोधपुर तथा उदयपुर गया। बाद में २२ अप्रैल से १७ मई तक फिर लम्बी यात्रा पर गया। इस बार, वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर, अलीगढ़, बनवारीपुर (डॉक्टर साहब का गाँव), आगरा तथा दिल्ली गया। आगे २८ अक्तूबर से ९ नवम्बर तक फिर वाराणसी, इलाहाबाद, दिल्ली तथा हैदराबाद गया। फरवरी १९८२ ई. में फिर दिल्ली गया। इन यात्राओं में बहुतों से भेट हुई। सहयोग राशि एकत्रित हुई और ग्रन्थ के लिए सामग्री भी मिली। डॉक्टर साहब का गाँव बनवारीपुर, उनके प्रधान कार्यक्षेत्र आगरा, अलीगढ़, तिरुपति और वाराणसी — सब स्थानों पर गया हूँ। उनके प्रधान कार्यक्षेत्र दो रही रहे हैं — तिरुपति (श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय) और वाराणसी (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) इन कार्य क्षेत्रों के आधार पर ही ग्रंथ का नाम 'वेंकटेश्वर से विश्वनाथ' रखा गया है।

यहाँ पर प. जगन्नाथ तिवारी का विशेष उल्लेख करना चाहता हूँ। वे डॉक्टर साहब के ही गुरु नहीं अपितु डॉ. नगेन्द्र के भी गुरु रहे हैं। जब प्रधान सम्पादकों में मैंने डॉ. नगेन्द्र का नाम रखा तो उन्होंने पत्र लिखकर निर्देश दिया कि सबसे ऊपर नाम प. जगन्नाथ तिवारी का रखना चाहिए। आगरा की यात्रा में श्री विश्वभर अरुण के सहयोग से जब उनसे मिलने, उनके निवास स्थान पर पहुँचा, तो उस समय वे अपने बगीचे में काम कर रहे थे। धोती और बनियाइन पहने हुए थे। उनके मुख पर श्रम की प्रसन्नता विराजमान थी। वैसे ही उठकर चले आए। प्रसन्न मुद्रा से स्वागत किया। मैं चाहता कि पण्डितजी डॉक्टर साहब के लिए आशीर्षक लिख दें। वे लिखवाते तो मैं लिख लेता। किन्तु तुरन्त यह संभव नहीं हुआ। मेरे पत्र उन्हें मिले थे। स्वीकार किया। कार्य के प्रति सहमति व्यक्त

की .. हा, ठीक है। कहा। मैं देख रहा था, पण्डितजी में केशव की विद्वता के साथ, वह अक्खडता भी थी। उनकी वाणी गुरु-गम्भीर लगी। उनके बोलने में बड़ा आत्मविश्वास लगा। उस दिन मुझे जैसे ही लौटना पड़ा बाद में मैंने डॉ राजेन्द्रपालसिंह को पत्र लिखा कि गुरुजी के आशीर्वचन चाहिए और यह कार्य आपको ही करना है। २१ अगस्त १९८१ ई के पत्र के साथ उन्होंने पण्डितजी के आशीर्वचन भिजवाए। आशीर्वचन लिखवा लेने की कठिनाई भी बतलाई। मैं चाहता था कि ग्रंथ के आरम्भ में उनके आशीर्वचन, उन्हीं के हस्ताक्षर में छपे। आवश्यक निर्देश देने पर भी यह सभव नहीं हुआ। उनके आशीर्वचन आरम्भ में छप गए हैं।

ग्रंथ के प्रकाशन के बाद जब मैंने ग्रंथ की प्रति पण्डितजी को भिजवाई तो पण्डितजी गद्गद् हो गए। उन्होंने प्राप्ति सूचना का पत्र तुरन्त लिखा। पत्र इस प्रकार है—

२/२६, स्वेदशी बीमानगर,
आगरा,
दिनांक . २१-१०-१९८३

प्रिय बोरजी,

आपके द्वारा प्रेषित स्मारिका-सहित विजयपालसिंह अभिनन्दन ग्रंथ प्राप्त हुआ। धन्यवाद।

आपने जिस योग्यता तथा परिश्रम के साथ इस ग्रन्थ को तैयार किया है, वह अत्यंत प्रशंसनीय है। बधाई है।

जगन्नाथ तिवारी

अभिनन्दन-ग्रंथ की योजना को मफल बनाने में मुझे सबसे अधिक सहयोग डॉ मनेन्द्र का मिला है। इस सम्बन्ध में मुझे उनके पत्र मिले हैं। कुछ पत्र प्रस्तुत कर रहा हूँ—

दिल्ली-९
दिनांक . २८-२-८१

प्रियवर,

आपका पत्र क्रमांक ६२८ दिनांक १७-२-८१ मिला। आप अभी सकलित सामग्री मेरे पास न भेजे। मेरा अपना सैद्धान्तिक लेख मेरे पास तैयार है, यथासमय आपको भेज दिया जाएगा। डा विजयपालसिंह के व्यक्तित्व के विषय में भी एक छोटा-सा

लेख लिखने का प्रयत्न करूँगा । उस बीच आप दो काम करें — १) डा विजयपालसिंह के दोनो शोधप्रबन्धो पर विस्तृत लेख और अन्य पुस्तको पर समीक्षाएँ तैयार कराएँ । २) लगभग ३०-४० पृष्ठ मे किसी एक व्यक्ति से विस्तृत जीवन लिखाएँ । यह काम आप स्वय भी कर सकते है । उस लेख का शीर्षक हो सकता है — निष्ठा और सकल्प ।

मै दिल्ली से कुछ सैद्धान्तिक लेख भिजवाने का प्रयत्न करूँगा । रीतिकाव्य और काव्यशास्त्र के विशेषज्ञ विद्वानो से लेख प्राप्त करने का आग्रह करना चाहिए । ये लेख यदि पूर्व-प्रकाशित भी हो तो कोई हानि नही है । विभिन्न महाविद्यालयो मे एक-एक व्यक्ति को यह दायित्व सौंप देना चाहिए कि अपने सहयोगियों से लेख एकत्र कर शीघ्र ही भिजवाने का प्रयत्न करे ।

शुभैषी
नगेन्द्र

डा. राजमल बोरा,
६, आनन्द नगर, टाउन हाल,
औरंगाबाद - ४३१ ००१ (महाराष्ट्र)

प्रतिलिपि

प्रो. डा विजयपालसिंह
अध्यक्ष - हिन्दी विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५.

० ०

दिल्ली-१

दिनांक ११ अप्रैल १९८१

प्रियवर,

आपके पत्र — दिनांक के लिए धन्यवाद । ग्रन्थ के लिए दो लेख अलग साधारण डाक से ही भेज दिए है । १०१ रुपये का चेक आपके नाम भेज रहा हूँ । कृपया प्राप्ति-सूचना तत्काल भेजे ।

शुभैषी
नगेन्द्र

० ०

दिल्ली - ११०००९

दिनांक १८-६-८१

प्रियवर,

आपके पत्र से समारोह विषयक प्रगति का समाचार मिला। दिल्ली से जाते हुए आप — भैरे नाम जो सन्देश छोड़ गए थे, उससे यह जानकर सन्तोष हुआ था कि राजपाल एण्ड सन्स ने ग्रन्थ प्रकाशन का दायित्व स्वीकार कर लिया है। यह वास्तव में उनका कर्तव्य है। इसीलिए हमने किसी अन्य प्रकाशक से इस बारे में बातचीत करना उचित नहीं समझा। लेकिन बीम हजार रुपये की बात सुनकर आश्चर्य हुआ।

खैर, आप अपना काम करते जाइए। जो भी स्थिति होगी। उसके अनुसार क्रिया जाएगा।

मैं दिल्ली से २-१ लेख भिजवाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। लोग अभी तक परीक्षा कार्य में व्यस्त रहे हैं। सस्मरण भी मैं जल्दी ही लिखकर भेजने की कोशिश करूँगा।

आशा है आप प्रसन्न हैं।

शुभैषी

नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९

दिनांक १-८-८१

प्रियवर,

आपका पत्र दि. २७-७-८१ मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ६०० पृष्ठ की सामग्री प्राप्त हो गई है। मैं इन दिनों अनेक प्रकार के साहित्यिक तथा सरकारी कामों में उलझा रहा, इसलिए अभी संस्मरण नहीं लिख पाया। इधर कुछ दिन से आँखों में थोड़ी तकलीफ है। फिर भी, शीघ्र ही अपना संस्मरण व्यक्त कर दूँगा।

प्रकाशन के विषय में क्या निर्णय हुआ? क्या २०,००० देकर राजपाल एण्ड सन्स ने ही प्रकाशन का अनुबन्ध किया जाएगा

या कुछ और व्यवस्था करने का विचार है। मेरी राय में इतनी बड़ी रकम देकर राजपाल एण्ड सन्स से छपवाने की अपेक्षा किसी अन्य मध्यम श्रेणी के प्रकाशक से ही बात करनी चाहिए। डा. विजयपालसिंह का प्रभाव अब भी निश्चय नहीं हुआ, इसलिए यह काम मुश्किल नहीं होगा। बाकी जैसा आप लोग ठीक समझें।

शुभैषी
नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९
दिनांक १२-९-८१

प्रियवर,

आपके पत्र यथासमय मिले। यह जानकर सन्तोष हुआ कि आपने अभीष्ट धनराशि एकत्र कर ली है। मेरा अनुमान है कि राजपाल एण्ड सन्स को २१००० रु (२०,००० ग्रन्थ, १००० स्मारिका के लिए) देने के बाद आयोजन आदि के लिए १०,००० रु की और व्यवस्था करनी होगी।

२० x ३० / ८ आकार के ४०० मुद्रित पृष्ठों के लिए लगभग ५५०-६०० फुलस्केप टर्कित पृष्ठों की सामग्री काफी होगी, जो शायद आपके पास आ चुकी है। इसलिए आप लेखों की पूरी तालिका पृष्ठसंख्या सहित तैयार कर मेरे पास भेज दें, जिससे कि मैं ग्राह्य और त्याज्य सामग्री का विश्लेषण कर सकूँ। लेखों का पुनरीक्षण और प्रूफ-शोधन आपको या आपके किसी अन्य सहयोगी को, जो इस कार्य में दक्ष हो, करना होगा। मेरे लिए सभी लेखों का पुनरीक्षण करना सम्भव नहीं है।

तालिका में लेख-शीर्षक, लेखक का नाम और पृष्ठ संख्या देना जरूरी है। इस बीच में आप सभी लेखों का पुनरीक्षण आगम्भ कर दीजिए।

शुभैषी
नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९

दिनांक : २५-११-८१

प्रियवर,

आपका पत्र और सलग्न सामग्री मिली । धन्यवाद ।

‘प्रधान सम्पादक’ शीर्षक के अन्तर्गत प. जगन्नाथ तिवारी का नाम ऊपर मेरी जगह और मेरा नाम उनकी जगह होना चाहिए । वे सब से बड़े हैं और मेरे भी गुरु रहे हैं । अगर फोल्डर छप गया हो तो ग्रन्थ में यही क्रम रहना चाहिए ।

‘राजपाल एण्ड सन्स’ से बाकायदा अनुबन्ध कर लेना चाहिए जिससे आगे कोई कठिनाई न हो ।

शुभैषी

नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९

दिनांक १-२-८२

प्रियवर,

आपका पत्र यथामय मिल गया था । ग्रन्थ-प्रकाशन के कार्य की प्रगति से अवगत कराते रहे ।

शेष कुशल ।

शुभैषी

नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९

दिनांक २९-३-८२

प्रियवर,

आपका पत्र और सलग्न तालिका आदि प्राप्त हुई । विषयक्रम ठीक है । शेष सामग्री के बारे में अभी कोई कार्यवाही नहीं करनी चाहिए । पुनर्विचार का भी अब प्रश्न नहीं उठता । ग्रन्थ-प्रकाशन के बाद उसे क्षमा याचना के साथ लौटा दिया जाएगा । सौजन्य

की दृष्टि से आप चाहे तो ग्रन्थ की एक प्रति उन्हें भेंट कर दें।
पर इस पूरे प्रसंग पर बाद में ही विचार करना चाहिए।

शुभैषी
नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९
दिनांक ५-५-८२

प्रियवर,

आपका पत्र दिनांक १-५-८२ मिला। सम्पादकीय आप ही
लिखें और उसकी एक प्रति मेरे पास भेज दें।

शुभैषी
नगेन्द्र

० ०

दिल्ली-११० ००९
दिनांक २५-५-८२

प्रियवर,

सम्पादकीय पर एक निगाह डालकर उसे लौटा रहा हूँ। ठीक
है।

शुभैषी
नगेन्द्र

ग्रंथ तैयार हो गया। उसके लिए मुख्य अतिथि और तिथि के निर्णय की
आवश्यकता थी। तदर्थ दिल्ली गया। डॉ. नगेन्द्र के सहयोग से ही यह कार्य सभव
था। मुझे साथ लेकर डॉ. नगेन्द्र पं. कमलापति त्रिपाठी के पास पहुँचे। वे बहुत
वृद्ध हो गए थे। उनसे मिलना बड़ा कठिन था। प्रतीक्षा में बहुत से काग्रेसी
सदस्य जो विभिन्न प्रदेशों में आए हुए थे, बैठे हुए थे। उनसे पहले हमारा भीतर
पहुँचकर मिलना सभव नहीं था किन्तु डॉ. नगेन्द्र ने चिट पर अपना नाम लिखकर
भिजवाया तो पंडितजी ने तुरन्त बुलवा लिया। डॉ. नगेन्द्र मुझे साथ लेकर भीतर
पहुँचे। पहले तो पण्डितजी के चरण-स्पर्श किए। बाद में पंडितजी से प्रार्थना

की गई। पण्डितजी ने अपनी अवस्था को दिखलाते हुए कहा — 'अब, मैं कहीं नहीं जाता।' वह उनकी अपनी निजी विवशता थी। हम लोग बाहर आए। डॉ. नगेन्द्र ने उस समय डॉ. नूरुल-हसन के पास जाना उचित लगा। उन्हें रूस का राजदूत बना दिया गया था और शीघ्र ही उन्हें रूस पहुँचना था। डॉ. नगेन्द्र मुझे उनके बगले पर ले गए। डॉ. नूरुल हसन साहब तैयार हो गए। किन्तु उनका कहना था कि १५ मितम्बर १९८३ से पहले यह कार्यक्रम तैयार होना चाहिए। उनसे स्वीकृति लेकर हम लौट आए। उसके बाद डॉ. नगेन्द्र मुझे श्री वियोगी हरि के पास ले गए। वे तो डॉक्टर नगेन्द्र के आवास से निकट ही रहते थे। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी और कार्यक्रम बन गया। बाद में ईश्वरचन्द्रजी खण्डेलवाल से मिलकर निमत्रण-पत्र की सामग्री देकर मैं औरंगाबाद लौट आया।

औरंगाबाद पहुँचने के बाद में निमत्रण-पत्र की प्रतीक्षा की। वे आए नहीं। अतः मैंने यही पर निमत्रण पत्र साइक्लोस्टाइल कर लिए और प्रतियाँ भेज दी। पत्रिकाएँ बाद में पहुँची और तब तक विलम्ब हो चुका था। उस समय समागेह के आयोजन का काम मैं अकेला नहीं कर सकता था। उस समय डॉ. धनराज मानधने और मेरा छोटा पुत्र अनिल मेरे साथ दिल्ली आए। दिल्ली में हम लोग फतेहपुरी की लक्ष्मीनारायण धर्मशाला में ठहरे हुए थे। दो दिन पूर्व पहुँच गए थे क्योंकि हमें आयोजन की तैयारी करनी थी। डॉ. नगेन्द्र से मिलने सबै-सबैरे पहुँचे, उस समय वे आयोजन से सम्बन्धित प्रमुख सदस्यों को फोन कर रहे थे। उन्होंने स्नातकजी से बात की तो स्नातकजी बिगड़े हुए थे। उनका क्रोध मुझ पर था। शिकायत यह थी कि उन्हें निमत्रण-पत्र व्यवस्थित नहीं मिला है। उनके क्रोध को शान्त करने के लिए डॉ. नगेन्द्र ने फोन मुझे दिया। मैंने बात की। बहुत गरम थे। मैं कुछ कहूँ, इस बात को सुनने के लिए वे तैयार नहीं थे। मुझे डॉक्टर नगेन्द्र ने पहले ही बतलवा दिया था कि मंच पर बैठने और ग्रंथ के विमोचन का काम आपको करना है — ऐसा कहना। इस पर वे शांत होंगे। तदनुसार मैंने प्रार्थना की और निवेदन किया तो वे मान गये और आने के लिए तैयार हो गए। दूसरे दिन सायंकाल में कार्यक्रम था। डॉक्टर साहब वाराणसी से आ गए थे। वाराणसी से कई लोग आए थे। डॉ. नगेन्द्रनाथ उपाध्याय आए थे। डॉ. रावत भी पहुँच गए थे। मैं सबैरे-सबैरे पुनः डॉ. नगेन्द्र के घर पर गया था। वे मेरे साथ व्यवस्था देखने हेतु गजपाल एण्ड सन्ज आए। वहाँ की सीढ़ियों पर चढ़े नहीं। मुझ से कहा कि ईश्वरचन्द्रजी को नीचे बुलवा लो।

ईश्वरचन्द्रजी को नीचे तुलवा लिया और कांस्टीट्यूशन क्लब में यथासमय पहुँच कर व्यवस्था करने के लिए कह दिया। मैं, मानधाने और अनिल यथासमय पहुँच गए। ग्रंथ की प्रतियाँ वहाँ पर आ गई थी। अनिल और मानधाने व्यवस्था में लगे हुए थे।

यथासमय लोग आने लगे। मंच पर बैठनेवालों में श्री वियोगी हरि, डॉ नूरुल हसन, डॉ विजयेन्द्र स्नातक आदि केन्द्र में थे। स्नातकजी के पास में डॉ. विजयपालसिंह थे। डॉ. नगेन्द्र किनारे पर बैठे हुए थे। मैं दूम्गे किनारे पर खड़ा था। विश्वनाथजी (प्रकाशक) को बैठने के लिए प्रार्थना की। वे बैठे नहीं। योजना के अनुसार कार्यक्रम हुआ। मैंने आयोजन के कार्य का विवरण प्रस्तुत किया और इसे सफल बनानेवाले सभी सदस्यों के ऋण को स्वीकार कर सभी को धन्यवाद दिया।

उक्त आयोजन में दिल्ली विश्वविद्यालय के और स्थानीय कालेजों के प्राध्यापक थे। डॉ. निर्मला जैन थी। डॉ. ओम्प्रकाश थे और कई लांग थे। मंच के वक्ताओं का भाषण हुए। ग्रंथ विमोचन हुआ। मैंने आरम्भ में कह दिया था कि सहयोग राशि प्रदान करनेवाले सभी अपना-अपना ग्रंथ ले सकते हैं। तदनुसार लगभग चालीस ग्रंथ वहीं पर वितरित हो गए। शेष प्रतियाँ मुझे ईश्वरचन्द्रजी ने औरंगाबाद भेज दी। सदस्यों की सख्या चार-सौ से कुछ ऊपर ही थी। उनको मैंने औरंगाबाद पहुँचने के बाद में वितरित किया। रजिस्टर्ड डाक से सब को भेज दी।

यहाँ पर डॉक्टर नगेन्द्र के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। वे अपने से बड़ों का सम्मान करना जानते हैं। उन्होंने स्नातकजी के क्रोध को शांत किया और मंच के केन्द्र में स्वयं नहीं बैठे। काम तो सब उनका ही किया हुआ था। दिल्ली में वह आयोजन डॉ. नगेन्द्र और विश्वनाथजी के सहयोग के बिना संभव नहीं था। विश्वनाथजी का काम ईश्वरचन्द्रजी करते थे। मैं दोनों ओर पहुँचता था। इस आयोजन में ही वे दोनों मिले किन्तु उस दिन भी बैठकर बात नहीं की। डॉ. नगेन्द्र की तरह विश्वनाथजी भी सम्मान के भूखे नहीं थे। वे मंच पर बैठे ही नहीं। यों इस आयोजन का सारा खर्च राजपाल एण्ड सन्ज ने ही किया था। यह आयोजन १५ सितम्बर १९८३ को हो गया था। उसके बाद डॉ. नूरुल हसन रूस चले गए थे। उनकी उपस्थिति से आयोजन का गौरव बढ़ा।

डा विजयपालसिंह जून १९८३ ई में सेवा-निवृत्त हो गए थे । कार्यक्रम उसी वर्ष सितम्बर में हुआ । दीपावली के बाद डॉक्टर साहब और चाची दोनों औरंगाबाद आए । घर पर ही ठहरे । चाची इम समय बहुत प्रसन्न थी । वाराणसी में सदैव बीमार रहती थी । यहाँ पर पहुँचने के बाद अपने आपको अधिक स्वस्थ महसूस किया । यहाँ पर वे चिकलठाणा की फैक्ट्री में गई । अपने लिए कुछ स्टील के बर्तन सीधे फैक्ट्री में (लक्ष्मी मेटल इंडस्ट्री) खरीदे । डॉ मानधने भी आ गया था । बीड में समारोह रखने का निर्णय हुआ । मानधनेजी ने बीड के कालेज में सारी व्यवस्था कर दी थी । उसी तरह लातूर में मेरे भाई तेजमल ने लाहोटी गार्डन में सम्मान के आयोजन की व्यवस्था की थी । उस समय डॉ. भ. ह. राजूरकर ने भी अपूर्व सहयोग दिया । राजूरकर साहब की गाड़ी से हम लोग डॉक्टर साहब और चाची के साथ पहले बीड पहुँचे । बीड का कार्यक्रम सफल हुआ । बाद में लातूर गए । वहाँ पर भी सारी व्यवस्था थी । लातूर के कार्यक्रम में डॉ. जनार्दन वाघमारे साहब थे । उन्हीं के द्वारा डॉक्टर साहब का सम्मान किया गया । चाची का सम्मान भी किया । डॉ विजयपालसिंह-ग्रथ का आयोजन रखना और सफलतापूर्वक सम्पन्न करने से मुझे डॉक्टर साहब का अखिल भारतीय स्तर पर व्यापक प्रभाव दिखलाई दिया और वह सब कार्य अपनी गति से हुआ है । कई नाम हैं, जो इस कार्य से प्रसन्न नहीं थे । मुझे पत्र भी लिखे हैं । उनमें कुछ नाम लिख रहा हूँ । डॉ रवीन्द्र भ्रमर प्रसन्न नहीं थे । किन्तु चूँकि आपातकालीन जयपुर की संगोष्ठी-शिविर में वे मेरे साथ सम्मिलित थे । अतः उन्होंने पत्र लिखकर अपनी असहमति व्यक्त की । — इसी तरह मेरे हैदराबाद के गुरु डॉ. श्रीराम शर्मा ने भी मुझे बतलाया और पत्र में अलग से टिप्पणी लिखी कि यह कार्य ठीक नहीं है । ऐसे पत्र लिखनेवालों में कुछ लोग तो मुझे चाहनेवालों में रहे हैं । मैं हैदराबाद के विभाग के सदस्यों से रुपये बसूल कर रहा था । प्रायः सभी ने सहयोग दिया । कुछ सदस्यों ने कहा — 'आप डॉ. विष्णुस्वरूप से रुपये नहीं ले सकोगे ।' मैं अबिड रोड की गली में उनके अपार्टमेंट में ऊपर की मंजिल पर पहुँचा । मिल गए । बातें हुई । अतत उन्होंने रुपये दिये । डॉ. विष्णुस्वरूप से उस समय अन्तिम बार मिला । उसके बाद मैं उनसे मिलना नहीं हुआ । मैं उनसे पहली बार उस समय मिला था जब वे वाराणसी से पहली बार आए थे । मैं उस समय एम. ए. फाइनल का छात्र था । उस छात्रावस्था में और बाद में विवेकवर्धिनी कालेज में काम करते समय वे मेरे घर पर आते रहे हैं । वे प. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के

छात्र थे । उन्होंने कवि-समय पर काम किया था । उनका प्रबन्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से छप गया था । मालूम हुआ कि उनकी श्रीमतीजी बाद में विदेश गईं और पुनः हैदराबाद आई है । मिलना नहीं हुआ ।

मैंने जो कार्य किया वह अच्छा था या अच्छा नहीं था ? इस सम्बन्ध में मुझे कुछ नहीं कहना है । मैंने जो निर्णय किया, उसे मैंने पूर्ण किया यही मुझे कहना है । काम को रोकनेवाले बहुत लोग होते हैं किन्तु जो काम करते जाता है, उसके सहायक भी उसे मिलते जाते हैं । मैंने तो देखा कि जो डॉक्टर साहब को बिलकुल नहीं चाहते, उन्होंने मुझे सहयोग दिया । उन्होंने आर्थिक महयोग दिया किन्तु लिखा कि उनके नाम का उल्लेख कहीं न हो ।

डॉ तेलग साहब इस कार्य से प्रसन्न थे । उन्होंने ही इस कार्य की प्रेरणा दी थी । 'लाल कवि' पर उनके काव्यशास्त्र के ग्रंथ 'विष्णु विलास' का नायक नायिका भेद पर एक लेख लिखकर भी दिया । वह अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित है । उन्होंने उक्त ग्रंथ का सम्पादन किया है । वह अप्रकाशित है । उक्त ग्रंथ की टंकित प्रतिलिपि मेरे पास में है । उसे प्रकाशित करना है ।

□ □

मकान बनवाया

तिरुपति के प्राविडेण्ट फंड के रुपये में कुछ और रुपये जोड़कर १९७१ ई में, मैंने मनीषा कालोनी में चार हजार स्क्वेअर फीट का प्लॉट खरीद लिया। वह प्लॉट मुझे मेरे साहू शामलालजी बम्ब के कारण प्राप्त हुआ। बम्ब साहब उस समय परभणी में थे। परभणी की मित्र-मण्डली ने औरंगाबाद के कुछ सहयोगियों से सहयोग लेकर मनीषा कालोनी की जगह खरीद ली। उसके प्लॉट बनाकर वितरित किये गये। परभणी के जामकर (कुछ समय महाराष्ट्र राज्य के मंत्री भी रहे) साहब के साथ मेरे साहू रहते थे। उस सम्पर्क के कारण जो प्लॉट खाली रह गए थे, वे हमें मिले। पहले निर्णय हुआ कि एक ही प्लॉट दोनों में लिया जाएगा। किन्तु बाद में उन्होंने स्वयं के लिए दूसरा प्लॉट खरीद लिया। मेरा प्लॉट ५ नम्बर वाला है। उनके प्लॉट का नम्बर दो है। १९७१ ई. में प्लॉट खरीद लिया। मेरा प्लॉट पहले अर्जुनराव दर्शनकार का था। उस समय दर्शनकार अम्बाजोगाई में थे। उन्होंने बेच देना चाहा। वही मुझे मिल गया।

मनीषा हाउसिंग कोआपरेटिव सोसाइटी का निर्माण १९६६ ई. में हुआ। मैं १९६९ ई. में सम्पर्क किया। तिरुपति से फंड के रुपये आने में दो वर्ष निकल गये। इसीलिए १९७१ ई. में प्लान मिल गया। तब तक सोसाइटी ने मुझे सहयोग दिया। उस समय केवल दो बगले बने हुए थे। बाकी सब प्लान ही प्लान थे। एक बंगला काशीनाथ चव्हाण का था, जो स्वयं सोसाइटी के सेक्रेटरी थे और दूसरा बंगला सांगवीकर का था। सांगवीकर सोसाइटी के प्रेसिडेंट थे। इन दोनों बंगलो के अतिरिक्त सब प्लान ही प्लान थे। मैं उस समय बंगला बनवाने की स्थिति में नहीं था। आरम्भ में जो दो बगले बने, उन्हें बहुत तकलीफ उठानी पड़ी है। कालोनी में मार्ग नहीं बने थे। बिजली की व्यवस्था नहीं थी। इसी तरह जल की व्यवस्था बहुत दूर से करनी पड़ी थी। पाइप-लाइन बिछाई नहीं गई थी। सब कुछ धीरे-धीरे हुआ। कालोनी की दूरी और झोपड़-पट्टी थी। कोर्ट के अहाते के बाहर सामन के भवन से लगकर झोपड़ियाँ बन गई थी और क्रमशः अतिक्रमण होता रहा है। इस कालोनी की भूमि पर अतिक्रमण के प्रयत्न उस समय में हुए हैं। तदर्थ सोसाइटी के सदस्यों की बैठकें होती और अतिक्रमण को रोकने के प्रयत्न हुए हैं। सोसाइटी की ओर से कहा जाता कि बंगला जल्दी से बनवा लो।

मैंने आर्किटेक्ट के सहयोग से नक्शा बनवा लिया। इसे तैयार करने में श्री बाहेकर ने काफी परिश्रम किया। उसमें कई परिवर्तन हुए हैं। लडके छोटे थे। स्कूल में पढते थे। अपनी योजनानुरूप नक्शा तैयार हुआ तो उसे नगरपालिका में प्रस्तुत किया। नियमानुसार स्वीकृति मिलने में दो-तीन वर्ष निकल गए। टाउन हॉल के सामने ही नगरपालिका का भवन होने पर भी समय लगा। अलफखों उस समय में नगरपालिका में अधिकारी थे। उन तक कागज पहुँचा तो मैं मिलने गया। उन्होंने तुम्हें स्वीकृति दी किन्तु स्वीकृत नक्शे को प्राप्त करने में पुनः कुछ महीने लग गये। बाद में काम शुरू हुआ।

१९७६ ई. में फाउण्डेशन का काम हुआ। उस समय मुन्नू (सुनिल) मैट्रिक हो गया था। ग्यारहवीं में कालेज में पढने लगा था। पत्नी ने और मुन्नू ने दोनों ने ही उस समय में अधिक काम किया। अनिल भी दौड़ता था। वह नौवीं में था। आनन्द नगर कालोनी के भकान वामन मिस्तरी ने बनवाए थे। उसीने हमारा काम किया। फाउण्डेशन के बाद काम रुक गया। उस समय तक कालोनी में कुछ और बगले बन गये थे।

मकान के काम को आगे बढ़ाने के लिए धनराशि नहीं थी। काम कैसे होता ? चार वर्षों तक काम रुका रहा। HDFC से लोन लेने का प्रयत्न किया। तदर्थ आवश्यक प्रामाणिक और प्रमाणित कागज जुटाने में समय लगा। आज तो HDFC का कार्यालय औरंगाबाद में है। उस समय उक्त कार्यालय मुंबई में ही था। तदर्थ दो-तीन बार मुंबई गया। उस समय सुनिल मुंबई में MLA होस्टल में (जामकर साहब के कमरे में) रहता था। उसी के पास ठहरा। MLA होस्टल से लगकर HDFC का कार्यालय था। स्वीकृति मिल गई। इस बीच मैंने घर पर ही दरवाजे और खिड़कियों की चौखटें बनवा ली थीं। उसमें कुछ मित्रों ने सहयोग दिया। धनराज मानधने ने भी सहयोग दिया था। यह सब काम मैं यूनिवर्सिटी का नियमित कार्य करते हुए करता था। १९७८ ई. में डी लिट्. हो गया था। उसके बाद मे डी लिट्. के प्रबन्ध को भी प्रकाशित कर दिया था। १९७९ ई. से १९७९ ई. तक आठ वर्षों तक प्रकाशन काम करता रहा हूँ। प्रकाशन में धनराशि लगती गई। १९७९ ई. के बाद मैं मकान की ओर ध्यान गया। प्रकाशन का कार्य बन्द कर दिया। दूसरी बात यह कि मकान का कार्य आरम्भ करते समय १९८० ई. में ही डॉ. विजयपालसिंह अभिनन्दन ग्रंथ के कार्य का आरम्भ कर दिया।

१९८०-तथा-१९८१ के दोनो वर्षों में मकान के कार्य में तेजी आ गई थी। और १९८१ का वर्ष तो अभिनन्दन-ग्रंथ के कार्य का विशेष वर्ष था। दोनो काम साथ-साथ अपनी गति से चल रहे थे।

नगरपालिकाओं में काम जल्दी नहीं होता। एक-दो अनुभव लिख रहा हूँ। मैं मकान के प्लान की स्वीकृति के लिए नियमित जाता था। कभी कोई अनुपस्थित रहता तो कभी कुछ और रहता। उन्हें छोड़ दे। स्वीकृति और हस्ताक्षर के बाद की बात लिख रहा हूँ। कार्यालय में प्लान लेने पहुँचा तो सम्बन्धित क्लर्क ने कहा — 'हाँ, साहब, आपका काम हो गया है। स्वीकृत प्लान इसी अलमारी में रखा है।' बगल में बैठा हुआ दूसरा साथी कहता है, साहब को बाहर ले जाओ, बात कर लो। सम्बन्धित क्लर्क खड़ा हो गया। कहने लगा — 'बाहर चलिए, चाय पीकर आएं।' दोनो बाहर आ गए। मुझे भी उठकर बाहर जाना पड़ा। क्लर्क का साथी कहने लगा — 'कुछ दे दो।' चाय पीने के बाद मैं लौटते लौटते मैंने पचास रुपये दिये। तब जाकर क्लर्क ने प्रसन्नता सहित नक्शे की प्रतियाँ बाहर निकाल कर रख दीं। मैं लेने लगा, तो कहा — 'ठहरिये, इस पर ठप्पा (रबर स्टैम्प) लगाना बाकी है। चपरासी को बुलाकर वे नक्शे ठप्पा लगाने के लिए

दिए । वह मुस्कराने लगा । क्लर्क ने कहा — ‘उसे भी कुछ दे दो ।’ मैंने उसे दस रुपये दिए । तब जाकर नक्शा मिला । एक दूसरा अनुभव यह है कि पार्न की व्यवस्था के लिए नियमानुसार कागजात तैयार करने में काफी समय लगा । काम लगभग हो गया था किन्तु हस्ताक्षर नहीं हुए थे । कुछ काम रह गया था । मैं कागजात लेकर अधिकारी की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था । इतने में परिचित छात्र खण्डेलवाल वहाँ आया । मुझे वहाँ बैठा हुआ देखकर पूछा — ‘सर, क्या बात है ?’ मैंने कागजात दिखाए । खण्डेलवाल ने कागजात ले लिए और पन्द्रह मिनट में फटाफट हस्ताक्षर ले आया । मुझे दे दिए । और कहा — ‘कुछ काम हो तो मुझसे कहना ।’ यहाँ तो सब ऐसे ही चलता है । सच तो यह है कि सरकारी कार्यालयों की चक्कर लगाने में घण्टों बैठना पड़ता है । काम हो गया तो ठीक समझना चाहिए । जान-पहचान के अभाव में काम नहीं होता ।

तहसीलदार के कार्यालय में भी लगातार चक्कर काटता रहा हूँ । तहसीलदार के घर पर भी गया । नियमानुसार सीमेंट मिला ही नहीं । उन दिनों में सीमेंट मार्केट में उपलब्ध नहीं था । श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधान मंत्री थी । एशियाड गेम्स की तैयारी दिल्ली में हो रही थी । तदर्थ महाराष्ट्र से सारा सीमेंट दिल्ली जा रहा था । वहाँ खेल नगर बन रहा था । प्लाया ओवर बन रहे थे । सड़के बन रही थी । महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री अब्दुल रहमान अतुले थे । सड़क से सीमेंट लेकर जाना अपराध था । विवश होकर मैंने चूने की भट्टी लगवाई । चूने की मशीन की व्यवस्था की । फाउण्डेशन तो सीमेंट में हुआ था । ऊपर की दीवारें चूने में बन रही थी । HDFC की ओर से पहली किरत मिल गई थी ।

ठीक ऐसे समय में व्यक्त अम्बेकर ने मेरे लिए सीमेंट की व्यवस्था कर दी । आवश्यक ३० थैले सीमेंट सरकारी कीमत पर उसने घर तक पहुँचाने की व्यवस्था कर दी । लिटल का काम हो गया । अब छत (स्लैब) के लिए सीमेंट की व्यवस्था करनी थी । वह काम बाद में मेरे भादू श्री शामलालजी बम्ब ने किया । उस समय वे औरंगाबाद रेलवे स्टेशन के निकट के क्वार्टर में रहते थे । उनकी नियुक्ति रेलवे स्टेशन पर थी ।

उस समय साइट पर पहुँचकर काम देखने के लिए मेरे पास समय ही नहीं था । मेरी पत्नी सब काम करती थी । वह साइट पर बैठती । लाला मिस्त्री काम करता था । मैं सबेरे शाम पहुँचता । काम देखता और चला जाता था ।

सुनिल उस समय मुंबई में था और बाद में आ गया तो सिकंदराबाद, मेरे भाई ललितकुमार बाफणा के पास चला गया। काम अनिल को ही करना पड़ा। वह अपनी माता की सहायता में था। काम हो रहा था।

HDFC के आर्थिक सहयोग से (चालीस हजार से) काम पूरा नहीं होता था। वाराणसी से मेरे गुरु डा. विजयपालसिंह ने दस हजार रुपये भिजवाए। कुछ रुपये प्रकाशको से मिले। प्राविडेण्ट फंड से लोन मिला। इस तरह सब के सहयोग से काम हो गया। जब स्लेब का काम हो रहा था तो मुजू यहाँ आया हुआ था। उसने स्लेब का काम का निरीक्षण किया है। उसकी देखरेख में काम ठीक होता था। किन्तु वह पुनः सिकंदराबाद चला गया। फर्श का काम रुका हुआ था। मुजू ने उस समय सिकंदराबाद से रुपये भेजे। वे प्लास्टर में काम आए। तेजमल लातूर से आया। उसने पाँच हजार रुपये उस समय दिए। काम आगे बढ़ता गया। यह सब १९८१ ई. की बात है। बाद में मैंने तेजमल के रुपये लौटाए। डॉक्टर साहब के रुपये भी वाराणसी भेज दिए। पी.एफ. के रुपये नहीं लौटाए। ३० जनवरी १९८२ ई. को वास्तु-शान्ति की पूजा की। मुहूर्त था। इसीलिए पूजा कर ली। तेजमल आया था। बाकी सब घर के लोग थे। फर्श बिछी नहीं थी। दरवाजे खिड़कियाँ लगी नहीं थीं। अन्तिम कार्य के लिए फिर स्टेट बैंक ऑफ इंडिया की छावनी शाखा से सोना रखकर लोन लिया और काम पूरा किया। फरवरी १९८२ ई. के अन्तिम सप्ताह में टाउन हॉल का मकान छोड़कर नये मकान में आ गया। शेष काम फिर बाद में होते रहे।

मकान जिन दिनों में बन रहा था, उन दिनों सुनिल सिकंदराबाद में था। इसीलिए सारा कार्य पत्नी और अनिल को करना पड़ा। घर का काम पूरा कर पत्नी साइट पर पहुँच जाती थी। यथासमय मैं पहुँचता था। यूनिवर्सिटी से सीधे साइट पर चला आता। साथ में बैग रहती थी। साइट पर बैठकर अभिनदन-ग्रथ की आगत सामग्री को पढ़ते रहता था। ठीक लगने पर उन लेखों, सम्मरणों आदि को टंकित करने के लिए दे देता था।

जब रहने के लिए आ गया तो सब को निमंत्रित करना शेष रह गया था। फरवरी के दूसरे सप्ताह में सब को निमंत्रित करने की स्थिति में नहीं था। जनवरी तीस को वास्तुपूजा हो गई थी। इसीलिए बाद में अपनी सुविधा से १४ अप्रैल १९८२ ई. को सबको निमंत्रित किया। वह दिन मुजू का जन्म-दिवस भी था। कार्यक्रम सफल हो गया। मुजू सिकंदराबाद से आया था। और लोग भी आए थे।

अब अपना घर हो गया था । इस बीच मैंने डॉ जगदीश गुप्त से पत्र-व्यवहार किया था । पूछा था कि मकान का क्या नाम रखू ? मैंने अपने पिता का नाम 'रतनलाल' बतलाया था । जगदीश गुप्त ने 'रत्नदीप' नाम का सुझाव दिया । उनके सुझाव को स्वीकार करते हुए अपने नये भवन का नाम 'रत्नदीप' रखा ।

□ □

मार्निंग क्लब (सबेरे टहलने का क्लब)

नये भवन मे आने के बाद अपने नियम के अनुसार सबेरे घूमने निकलता था । प्रिंट ट्रेवल चौक पर पहुँचता और वहाँ से छावनी के मार्ग की ओर आगे बढ़ जाता था । प्रिंट ट्रेवल चौक तक छावनी की सीमाएँ हैं । छावनी का एक बगला प्रिंट ट्रेवल के चौक से लगा हुआ है । आगे की भूमि खाली मैदान है । आगे बढ़ने पर खाम नदी का पुल है । पुल पार करने पर छावनी के बगले एक ओर हैं और दूसरी ओर होली-क्रॉस इंग्लिश हाइस्कूल हैं । इसी स्कूल में बच्चे पढते रहे हैं । मै तो स्कूल से आगे नगर-नाके तक पहुँचता था । मैंने देखा कि सबेरे-सबेरे घूमनेवालों का दल बहुत बडा है । मुझे घूमते देखकर सदस्यों ने कहा मार्निंग-क्लब के सदस्य बन जाओ । सदस्य बन गया । उन सदस्यों के कुछ नियम थे । सभी सदस्य एक कालोनी के नही थे । अलग-अलग कालोनियो से आते थे । उनका मिलन स्थल प्रिंट ट्रेवल का चौक था । जाते समय सब साथ मे नही जा सकते थे । रास्ते मे जो मिल जाए, वह साथ हो जाता था । पहुँचने का स्थल निश्चित था । इसी तरह पहुँचने के स्थल मे लौटने का स्थल भी निश्चित था । छावनी मे मन्दिर था । मन्दिर पहुँचने के लिए मुख्य सडक से उतर कर भीतर के खुले मार्ग से जाना पडता था । मार्ग में छावनी के अधिकारियों के बगले थे । एलोरा मार्ग के निकट, भीतर की ओर वह मन्दिर था । जो लोग समय से पहले पहुँचते, वे मन्दिर के प्रवेश द्वार की मुडेरों पर बैठ जाते और अन्य साथियो की प्रतीक्षा करते थे । समय होते ही उपस्थित समुदाय मन्दिर में प्रवेश करने लगते । चप्पल-बूट खोलकर पैर धो लेते और आरती मे खडे हो जाते थे । आरती 'ओऽम् जय जयदीश हरे . स्वामी जय जगदीश हरे .' वाली होती । आरती समाप्त होने के बाद हम लोग प्रदक्षिणा करते ओर तब बूट-चप्पल पहनकर बाहर निकलते । यह मन्दिर प्रिंट ट्रेवल से डेढ़ कीलोमीटर होगा । प्रिंट ट्रेवल से मेरा मकान आधा कीलोमीटर है । इस तरह दो कीलोमीटर जाना और उतना ही लौटना था । यो चार कीलोमीटर घूमना हो जाता था ।

उत्साही सदस्य मंदिर के आगे जाते — एलोरा मार्ग पर जाते — और यथासमय मन्दिर लौट आते थे। साथियों का मिलन-स्थल मन्दिर होता। मन्दिर में दस मिनट लगते।

लौटते समय सवाद होता रहता था। सब समूह में चलते। कोई विलम्ब में आता तो उमें साथ में लौटना पड़ता था। प्रिंट ट्रेवल के चौक पर पहुँचने का समय निश्चित था। शीतकाल में ६ बजकर चालीस मिनट और गर्मियों में साढ़े ६ बजे। मौसम के हिसाब से समय बदलते रहते थे। ६ बजकर चालीस मिनट पर प्रिंट ट्रेवल से सब लोग अपने अपने घर लौट जाते।

मार्निंग क्लब के सदस्यों की संख्या सदैव बदलती रही है। सामान्य रूप से प्रतिदिन उपस्थिति कम-से-कम बीस रहती। अधिकतम तीस-पैंतीस की संख्या थी। क्लब में प्रायः सेवानिवृत्त सदस्यों की संख्या अधिक थी। व्यापारी वर्ग के सेठ लोग भी इनमें थे। वे गिने-चुने थे। मेरी तरह कुछ नई पीढ़ी के सदस्य भी थे। कोई भी सदस्य चालीस-पैंतालीस वर्ष से कम नहीं था। सत्तर से अस्सी वर्ष के सदस्य भी थे। पचपन से पैंसठ की आयुवाले अधिक थे। सामान्य आयु साठ के लगभग थी। आयु के हिसाब से सदस्यों का दौड़ में बटवारा होता था। २ अक्टूबर, गांधीजी के जन्म दिवस पर मन्दिर से प्रिंट ट्रेवल तक चलकर (बिना दौड़े) पहुँचने कहा जाता। कितने मिनट में कौन पहले पहुँचता है, यह देखा जाता। तेज चलनेवालों में गणोरकर प्रायः प्रथम आते। वे बारह मिनट में पहुँच जाते थे। दूसरे सदस्य पीछे से आते रहते थे। अन्त में पहुँचनेवालों में तालीकोटे और लाटकर रहते। बुजुर्ग व्यक्तियों में आर व्ही देशपाण्डे थे। तीन देशपाण्डे थे। तीनों ही देशपाण्डे हमारी कालोनी से लगी ममाधान कालोनी में रहते हैं। विजय देशपाण्डे और रमेश देशपाण्डे एक ही प्लाट में अलग-अलग बगले बनाकर रहते हैं। विजय देशपाण्डे यूनिवर्सिटी में समाजशास्त्र विभाग में प्राध्यापक थे। रमेश देशपाण्डे सरस्वती भुवन कालेज में विज्ञान के विभाग में प्राध्यापक थे। तीसरे बुजुर्ग देशपाण्डे रामचन्द्र देशपाण्डे थे। वे कालेज ऑफ एज्युकेशन से सेवानिवृत्त हो गए थे। डॉक्टरों की संख्या कम थी। इजिनिअरों की संख्या अधिक थी। इडस्ट्री के लोग भी थे। यो मार्निंग क्लब में अलग-अलग क्षेत्रों में काम करनेवाले थे। क्लेक्टर, तहसीलदार भी थे। सेवानिवृत्त थे। कालेज के सेवानिवृत्त प्रिंसिपल थे। सदस्यों की दिनचर्याएँ और काम अलग-अलग होते हुए सबेरे सब साथ में रहते। हँसते-हँसाते, संवाद करते हुए मण्डली चलती रहती थी। सेवानिवृत्त होने

के बाद जो लोग घर से बाहर नहीं निकलते, वे लोग भी सबेरे-सबेरे अपने साथियों से मिल लेते थे ।

मैं इस मार्निंग क्लब में मार्च १९८२ ई में जाइन हो गया था । उस समय पचासवाँ वर्ष चल रहा था । सेवानिवृत्त होने में दस वर्ष बाकी थे । उस समय वाराणसी से डॉक्टर साहब (डॉ विजयपालसिंह) आए हुए थे । मभवत रविवार का दिन था । सबेरे-सबेरे डॉक्टर साहब भी साथ में थे । डॉक्टर साहब को अच्छा लगा । वे तो घूमने के मास्टर थे । प्रिंट ट्रेवल तक लौटने के बाद हम लोग प्रिंट ट्रेवल के निकट कार्तिक होटल में गये । सब का नाश्ता हुआ । चाय दूध के बाद लौट गए । क्लब के सदस्यों ने डॉक्टर साहब का स्वागत किया । उन दिनों अभिनन्दन-ग्रथ का काम चल रहा था ।

मार्निंग क्लब में रविवार को 'मटकी' की पार्टी होती थी । प्रत्येक रविवार को होती थी, ऐसा तो नहीं था किन्तु जो व्यवस्था कर सकता था, वह घर पर सब सदस्यों को निमंत्रित करता था । 'मोट' को ही मराठी में 'मटकी' कहते हैं । मोट को रात्रि में भिगोकर रखते हैं । दूसरे दिन सबेरे उसको उबाल लेते हैं । मोट के साथ प्याज, नींबू, टमाटर, दही, सेव आदि सामग्री रहती हैं । अंत में चाय-काफी रहती है । इस मटकी के साथ खिलानेवाले मिठाई भी देते हैं । यह कार्यक्रम महीने में एक बार और कभी-कभी दो बार भी हो जाता है । मैं 'मटकी' खाने के लिए कई सदस्यों के घर पर पहुँचा हूँ । अपने घर पर भी मटकी का कार्यक्रम रखा है । जो लोग घर पर व्यवस्था नहीं कर पाते, वे होटल में पार्टी दे देते हैं । ऐसा चलता रहा है । दूसरी बात यह कि मेल-जोल बढ़ाने हेतु पिकनिक का कार्यक्रम भी होता रहा है । इसमें श्री और श्रीमतीजी दोनों को निमंत्रण रहता । सब से रुपये लिए जाते और कार्यक्रम बनता । बस की व्यवस्था होती । प्रायः पिकनिक का कार्यक्रम जब भी होता, उस समय बस डॉ हजारी के बगले पास यथासमय खड़ी हो जाती । डॉ. हजारी के बगले पर पहले चाय पार्टी होती और तब हम यात्रा के लिए प्रस्थान करते । मुझे दो यात्राओं का स्मरण है । एक तो पैठण की यात्रा, दूसरी चालीसगाँव के निकट पाटणा-देवी की यात्रा । पैठण की यात्रा में इंजीनिअरों का पूरा सहयोग मिला है । जायकवाड़ी डैम पर काम करने वाले प्रमुख इंजीनिअरों का समूह हमारे साथ था । उन लोगों ने पैठण के गेस्ट रूमों में हमारी व्यवस्था की थी । गेस्ट रूमों के अहाते में सुन्दर गार्डन है । खाने पीने की पूरी व्यवस्था की गई थी । जायकवाड़ी का डैम उसी दिन मैंने पूरी तरह से देखा था । डैम की सड़क जो, नाथ सागर से लगकर है, जो पुल

की तरह है। उस सड़क के एक ओर तो सागर है और दूसरी ओर अतिरिक्त जल को छोड़ने की व्यवस्था है। अतिरिक्त जल गोदावरी के पात्र में गिरता है और नदी के प्रवाह में बह जाता है। इसे बाहर से देखना अलग है और उस पूरी व्यवस्था को देखना अलग बात है। प्रमुख इंजीनियर (श्री चिटगोपेकर) हमें साथ लेकर पुल के नीचे एक सिरे के द्वार की ओर ले गए। हम लोगों को साथ साथ लेकर चलते हुए सब कुछ समझाते रहे। बतलाते भी रहे। मेरा ध्यान समझने में कम और देखने में अधिक था। मुझे तो मनुष्य के मस्तिष्क की शक्ति का परिणाम दिखलाई दिया। जल को छोड़नेवाले स्थल और उन्हें व्यावहारिक रूप में छोड़ने की व्यवस्था दिखलाई गई। हम लोग भीतर-ही-भीतर इस ओर के सिरे से उस ओर के सिरे तक देख आए। फिर उसी ओर से लौटकर बाहर आए। बाहर आने के बाद बस हमें सत एकनाथ के ऐतिहासिक आवास-स्थल पर ले गई। वह अब भक्तों का मिलन-स्थल था। घूम-फिर कर देखा। गोदावरी के घाटों पर गए। चक्रधर स्वामी के स्थल पर गये। पुराने खण्डहर देखे। कालेज के पास में ऊँचा स्तंभ देखा। प्रतिष्ठान का इतिहास खण्डहरों में आबद्ध है। खोजनेवालों को पुरानी ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। पैठण न तो गाँव है और न ही पूरा नगर है। गोदावरी के तट पर इतिहास के अवशेषों का ऐतिहासिक स्थल है। इतिहासकार, वहाँ पहुँचते हैं और खोज कार्य जारी रखते हैं। हम लोगों ने अवशेषों से सम्बन्धित स्थल देखे। पैठण की पैठणी के कारखाने देखे। पैठणी की कला को जीवित रखनेवाले कलाकार आज भी वहाँ पर हैं। इस क्षेत्र में डॉ. मोरवंचीकर ने बहुत काम किया है। यूनिवर्सिटी में इतिहास विभाग के सदस्यों से मिलता रहा हूँ। उनके कारण भी पैठण बार-बार जाना हुआ है। उस दिन तो हम लोग पुनः गेस्ट हाउस आ गए।

उस यात्रा का अविस्मरणीय प्रसंग लिख रहा हूँ। आयोजकों ने उस गेस्ट हाउस में सायंकाल में सांस्कृतिक कार्यक्रम रखा। एक पुलिस विभाग का कलाकार था। वह संत एकनाथ के भारूडों को नाट्यमय पद्धति से प्रस्तुत करने में समर्थ था। भारूड सुनाता, उसके गूढ़ रहस्य को मंच पर उजागर कर देता। विशेष मंच की आवश्यकता नहीं थी। एक पात्र का अभिनय था। संगीतमय पद्धति से भारूड उसने अभिनय के साथ प्रस्तुत किए। एकनाथ महाराज हम लोगों के बीच उस पात्र के माध्यम से उपस्थित हो गए। संत की आत्मा तक हमें पहुँचाने का उसने प्रयत्न किया और उसमें वह सफल रहा। उसके बाद मैंने भारूडों को

इस रूप में नहीं सुना। इससे पूर्व १९७० ई. में पुणे में भारतीय हिन्दी परिषद् के अधिवेशन में परशुराम भाऊ महाविद्यालय (तिलक मार्ग पर) के मंच पर भी मैंने कुछ भारूडों के प्रसंग सुने थे। किन्तु पैठण में जो सुना, उसकी बात कुछ और ही थी।

दूसरी यात्रा पाटणा-देवी की यात्रा थी। यात्रा लम्बी थी। चालीमगाँव के आगे धूलिया मार्ग पर घने जंगल में, पर्वतों की घाटीवाला वह रमणीय स्थल था। पाटणा-देवी, वहाँ पर विराजमान है। उस यात्रा की व्यवस्था हमारी कालोनी के ही श्री सूर्यवंशी ने की थी। वे प्रातःकाल में घूमने के लिए कम आते थे। किन्तु उनके परिचित-क्षेत्र का विस्तार था। उन्हें पाटणा-देवी के स्थल की पूरी जानकारी थी। धूलिया के मार्ग पर आगे बढ़ते ही बाईं ओर मुड़ जाना पड़ा। हम लोग जंगल में पहुँच गये। बस के जाने-आने का मार्ग बना हुआ था। वहाँ तो वन-भोजन हुआ। रसोई की सामग्री साथ में थी। रसोइया भी साथ में था। सभवतः खान-पान की व्यवस्था श्री शान्तिलाल मुधियान और श्री राजेन्द्र मुणोत ने की थी। उस यात्रा में महिलाएँ थीं। बच्चे थे और हम सब लोग थे। मिल कार्नेर, कोतवालपुरा के पुराने पड़ोसी डॉ. काशीनाथ जोशी अपनी पत्नी और बच्चों के साथ में थे। सब लोग उस स्थल पर पहुँचे हैं जहाँ पहाड़ी से नीचे जल की धारा बहती है। वर्षा ऋतु थी। हरियाली थी। मार्ग चलकर बनाना पड़ता था। एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चलते थे। डॉ. जोशी के बच्चों के नाम शैलेश और मोना थे। श्रीमती जोशी होलीक्रास स्कूल में बच्चों को पढ़ाती थी। शैलेश, मोना से परिचय था। सब स्नान कर रहे थे। शैलेश को नहाते देखकर जोशी साहब ने कहा, 'नहा लो, देखो बच्चा नहा रहा है। उनके प्रोत्साहन के कारण, संभलते-संभलते मैंने स्नान कर लिया। बच्चों की तरह उछलना-कूदना संभव नहीं था। रास्ता बीहड़ था। तुलसी का दोहा लिखता हूँ—

हीरत भूमि, तृण संकुल, समुझि परहि नहि पथ ।

जिमि पाखण्ड विवाद ते लुप्त होहि सद् ग्रथ ॥

मैं तृण संकुलों से गुजरते हुए बाहर आया। अन्य साथियों के साथ भोजन-स्थल पर पहुँच गया। वह स्थान ऐसा था, कि कहीं पर भी बैठ जाओ प्रकृति का दर्शन होता था। तपस्वियों का स्थान था। कुछ बाबा लोग वहाँ पर पाटणा देवी के स्थान पर विराजमान थे। उनके साविध्य में बैठे रहे। स्थिर होकर पूरी बात सुन नहीं सका। साथियों से मिलने और बात करने में समय निकल गया।

मुझे तो अम्बाजोगाई की बूटीनाथ की घाटी याद आ गई। उस घाटी में कभी नीचे उतर कर नहीं गया। मुकुंदराज की ऊंचाई पर से दूर से ही देखा है।

क्लब के सदस्यों में जिन्दादिली रही है। मैं स्वयं निजाम के काल को बचपन में देख चुका हूँ। ऐसी स्थिति में मुझमें बुजुर्ग मण्डली अधिक होने के कारण प्रायः सभी उर्दू पढ़े हुए थे। गेर-शास्त्री में अभिरूचि रखनेवाले अधिक थे। कुछ तो जेबों में गजले लिखी हुई छोटी-सी नोटबुक रखते थे। जहाँ दस मिनट बैठने का मौका मिलता तो कुछ-न-कुछ सुनाते रहते थे। नवाबों की तबियत के लोग थे। आज तो उनमें से कुछ लोग नहीं रहे। इतनी बात सच है कि वाकिग क्लब के सदस्यों का जीवन — उदासी का जीवन नहीं रहा। शरीर बूढ़ा हो जाता है किन्तु मन बूढ़ा नहीं होता। उत्साह में कमी नहीं होती। एक बार जो इस क्लब में आ जाता था, वह इस क्लब का सदस्य बना रहना चाहता था। कोई विवशता हो तो अलग बात है। मुझे इस क्लब ने जीने की प्रेरणा दी है।

रामचन्द्र बलवन्त देशपाण्डे क्लब के बुजुर्ग सदस्य थे। १९१२ ई. में जन्म हुआ। औरंगाबाद के कालेज ऑफ एज्यूकेशन से सेवानिवृत्त हुए। उसके बाद उन्हें मौलाना आजाद कालेज में काम मिल गया। जकेरिया साहब की उन पर बड़ी मर्जी थी। अनुशासन-प्रिय व्यक्ति रहे। घड़ी के काण्टों का ध्यान क्लब में भी रखते। उनकी घड़ी पर सब विश्वास रखते। क्लब के सदस्यों में उनका सम्मान सभी करते थे। उनका छोटा नाम 'आर.बी. सर' था। देशपाण्डे कोई कहता ही नहीं। उनके छोटे भाई का नाम लक्ष्मण बलवन्त देशपाण्डे था। वे एल.बी. देशपाण्डे कहलाते थे। एल.बी. देशपाण्डे — उस्मानिया विश्वविद्यालय के कंट्रोलर ऑफ एग्जामिनेशनस् (Controller of Examinations) थे। मेरे बी.ए. और एम.ए. के मार्कशीटों पर उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। वे अन्त तक हैदराबाद में रहे। अनुशासन-प्रिय व्यक्तियों को मैं पसन्द करता हूँ। इसीलिए प्रायः मैं उनके साथ रहता था। उनकी घड़ी का पालन मैं भी करता था। 'आर.बी. सर' सबसे पहले आनेवालों में थे। वे प्रायः मन्दिर में पहले पहुँचते थे। खुली सड़क रहती। गणोरकर भी पहुँचते। मैं भी प्रिंट ट्रेवल से उनके साथ रहता और मन्दिर से आगे उनके साथ जाता था। हम लोग लौटकर मन्दिर आते तब तक मण्डली पहुँच जाती थी। नियमानुसार लौट जाते थे। उन दिनों में खाम नदी पर, होलीक्रास स्कूल के समीप एक ही पुल बना हुआ था। उस पुल पर मे गुजरना कठिन

था। जानेवाले और आनेवाले भारी वाहन जब गुजरने लगते तो पैदल चलनेवालों को तकलीफ होती थी। किनारे-किनारे पुल पार करना पड़ता। 'आर बी सर' अपने साथ मारिनिंग स्टिक रखते थे। उनकी बेटी लंदन में डाक्टर है। अपना बेटी के पास लदन भी गए। बेटी ने उन्हें एक बढ़िया स्टिक दी थी। किन्तु वे उसका उपयोग नहीं करते। कभी-कभी इच्छा हुई तो लेकर आते। उनके पास अनुभवों का पिठारा था। प्रायः चुप रहते किन्तु अवसर मिलने पर बोलते थे।

१९८८ ई.-१९८९ ई. तक ठीक चलता रहा। १९८९ का वर्ष, बहुत व्यस्तता का रहा। उस वर्ष इलाहाबाद जाते समय सौम्य हृदयाघात हुआ। मनमाड पर ट्रेन में बैठते समय हुआ। राजूरकर साहब साथ में थे। मैं क्लककता की एक सप्ताह की यात्रा में लौटा था। और पुनः इलाहाबाद जा रहा था। ट्रेन में वैसे ही लेट गया। टी.टी. ने देखा तो कहा कि गाड़ी तो अब भुसावल पर ठहरेगी। डाक्टर वही पर मिलेगा। उसने भुसावल को फोन कर दिया था। भुसावल पर गाड़ी के ठहरते ही डाक्टर आया। उसने प्रथमोपचार किया और गोलियाँ दीं। आगे यात्रा करने की अनुमति नहीं दी। लौट आया। लौटते ही सीधे यूनिवर्सिटी गया। डॉक्टर के पास नहीं गया। दूसरे दिन डॉ. भागवत के पास गया। डॉक्टर ने रेलवे के डाक्टर की रिपोर्ट देखी। पत्नी से कहा कि इन्हें रिक्शे में घर ले जाएँ। पैदल न चलने दे। हाउस रेस्ट के लिए कहा। गोलियाँ दीं। इस बीमारी के कारण क्लब छूट गया। घर पर रहता। यूनिवर्सिटी जाने की मनाई थी। घर-पर बैठे-बैठे उन्ही दिनों में (१९९०-१९९१ ई. में) भारत की भाषाएँ पुस्तक लिखता रहा। उसके साथ-साथ 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की जीवनी का' काम भी जारी था। अंततः १९९२ ई. में पुणे के रुबी अस्पताल में मेरी बाय-पास सर्जरी हुई। सितम्बर-अक्टूबर १९९२ ई. पुणे में था। दशहरे के बाद लौट आया। कमजोरी थी। दो-तीन महीने के बाद कुछ ठीक होने के बाद पुनः घूमने निकलने लगा। सदस्य मिलने लगे। किन्तु मैं उनके साथ मन्दिर तक नहीं जा सकता था। धीरे-धीरे होती क्रॉस स्कूल तक और बाद में नगर नाके तक जाता था। पुराना उत्साह सदस्यों में भी नहीं था। जाते-आते नमस्कार हो जाता था। धीरे-धीरे मैं फिर 'आर बी. सर' के समय का ध्यान रखते हुए उनके साथ रहने लगा। नगर नाके के पास के मोड पर भीतर की ओर एक पुल पर सदस्य बैठ जाते थे। मैं भी वहाँ तक पहुँचकर बैठता था। मन्दिर तक पहुँचना सभी ने छोड़ दिया था। कुछ उत्साही सदस्य अकेले ही दूर तक जाते थे। उनमें गणोरकर

थे। वे रोज मिलते। बात नहीं होती। केवल नमस्कार होता। सदस्यों की संख्या १९९० ई के बाद में कम हो गई।

‘आर बी सर’ थक गए थे। नगर नाके के बाद में हम लोगों ने होली-क्रॉस तक अपने को सीमित कर लिया। स्कूल के बाहर की पुलिया पर बैठने लगे। हम लोग अब चार-पाँच सदस्य थे। ‘आर बी सर’, तालीकोटे, प्रभाकरराव कुलकर्णी और एक सदस्य थे (नाम भूल रहा हूँ) — पाँचवे सदस्य कभी-कभी आते। हम वाग नियमित थे। इस समय तक खाम नदी पर जाने-आने के लिए दो पुल हो गए थे। इनकम टैक्स का कार्यालय खाम नदी के किनारे पर होली क्रॉस स्कूल के पार्श्व में बन गया था। उनके कार्टर भी बने थे। कार्य जारी था। होलीक्रॉस स्कूल का भी कार्य जारी था। गेट के पास की पुलिया हटा दी गई। बैठने के लिए जगह नहीं रही। आगे बढ़कर कम्पाउण्ड वाले के अगले सिरे पर पत्थरों के ढेर पर जगह बनाकर बैठ जाते थे। इस समय हम चार सदस्य थे। बाद में इनकम टैक्स कार्यालय के अन्तिम सिरे तक पहुँच कर मन्दिर के चबूतरे पर बैठने लगे। तालीकोटे साहब कुछ विलम्ब से आते, ... आ जाते थे। प्रभाकरराव कुलकर्णी साहब अधिक नियमित थे। इन दिनों में कुछ सदस्य सिद्धार्थ गार्डन में जाने लगे थे। ‘आर.बी सर’ कभी नहीं गए। वे हमारे साथ थे। जब बहुत थक गए तो खाम नदी के पुल तक पहुँचकर लौट जाते थे और प्रिंट ट्रेवल के पास के छावनी के बगले की पुलिया पर बैठ जाते थे। वहाँ पर पुन सब का मिलन होता था। जानेवाले भी वहाँ पर लौटकर बैठते थे। नियमित समय पर लौटते थे। ‘आर बी सर’ के कारण प्रिंट ट्रेवल का वह पुलिया हमारा मिलन स्थल हो गया। बजाज की गाड़ियाँ बालूज उसी मार्ग से गुजरती थी। इसीलिए मैं गाड़ियाँ गुजरने से पूर्व सड़क पार करना चाहता था। इसीलिए, पुलिया पर अधिक न बैठकर मैं तुरन्त उठ जाता था। बाद में ‘आर.बी सर’ घूमने के लिए उस पुलिया तक ही आने लगे। हम तीनों ने साथ नहीं छोड़ा। तालीकोटे और कुलकर्णी साहब इनकम टैक्स कार्यालय के मन्दिर तक मेरे साथ चलते थे। लौटकर पुलिया पर बैठते और वे मिल जाते थे।

‘आर बी सर’ — नियमित गीता पढ़ते थे। गीता की विशेष-विशेष कक्षाओं में जाते। इसी तरह कुलकर्णी साहब नित्य भागवत पढ़ते थे। मैंने भी घर पर गीता का पाठ पढ़ना शुरू किया। यात्रा में भी गीता साथ में रखता था। जब ‘आर.बी सर’ ने डाक्टर के कहने से घूमना बंद कर दिया तो उन्हें मिलने घर

पग चाना पडता , घर में ही टहलते । हमारी कालोनी के णिवमन्दिर तक जाते
 और लौट आते । अबसर मिलने पर घर जाता तो जिन्दादिली से बात करते ।
 बाहर कुर्सियाँ डाल कर बैठत । उनकी पत्नी भी वृद्ध हो गई थी । वह भी सर्वे
 घूमने निकलती थी । स्वस्थ जो आर 'आर.बी सर' की सेवा करती । एक बार
 घर गया तो उन्होने पूर्णाकृति का अपना फोटो दिखलाया । उनका नगर में सम्मान
 किया गया था और वह फोटो उन्हें उस समय भेट में दिया था । उनके भाई
 लक्ष्मण देशपाण्डे के पुत्र बैंगलौर में रहते थे । काम्प्यूटर के सम्बन्ध में देश-विदेश
 में हुई प्रगति से अवगत करते रहते थे । मैं किसी कारण वश सिकदराबाद गया
 था । १९९८ ई की बात है । लौटा तो मालूम हुआ — 'आर बी सर' नहीं रहे ।
 घर पर मिलने गया तो उनकी पत्नी के साथ लदन से आई हुई बेटी भी मिली ।
 बतलाया कि सबेरे-सबेरे चाय पीने के लिए कुर्सी पर आराम से बैठे । चाय पी
 ली । बाद में कुर्सी पर ही लुढ़क गए । किसी को तकलीफ नहो दी । सहज
 ही चले गये । उनके निधन के बाद मार्निंग क्लब के दो सदस्य ही में साथ
 रहे । तालीकोटे और कुलकर्णी । तालीकोटेजी का पूरा नाम पाण्डुरंग तालीकोटे
 है । १९२५ ई. के है । १९९९ ई. तक वे घूमने आते रहे । वे BHU के छात्र
 रहे है । अर्थशास्त्र में वही से एम ए किया । वाराणसी के प्रसन्न सुनाते । वे उस
 समय पढते थे जब डॉ राधाकृष्णन् वाइस-चांसलर थे । निजाम के जमाने में आरम्भ
 में उन्हें तहसीलदार की नौकरी मिली । बढ़ते बढ़ते डेप्युटी कलेक्टर हो गए । उसी
 पद से सेवानिवृत्त हो गए । समर्थनगर में बगला बनवाया । सिद्धार्थ गार्डन उनके
 लिए निकट था । कहने पर भी माने नहीं । सिद्धार्थ गार्डन जाने लगे । कुलकर्णी
 साहब अब अकेले रह गए थे । वे १९२७ ई. के है । इजीनिअर रहे हैं । उनका
 बगला भी समर्थनगर में है । वे नियमित थे । उनका बचपन सिकदराबाद में गुजरा
 है । सिकदराबाद में जनरल बाजार की गली के मन्दिर के पास रहते थे । उनके
 परिवार के सदस्य आज भी सिकदराबाद-हैदराबाद में है । वे भी थक गए । तालीकोटे
 के बाद में वर्ष-दो वर्ष तक दो हजार ईसवी के वर्ष तक उन्होंने साथ दिया ।
 वे कभी-कभी साथियों से मिलने सिद्धार्थ गार्डन चले जाते थे । मैं कभी नहीं गया ।
 दो हजार ई के बाद २००१ ई तथा २००२ ई. के छ-सात मास तक मैं अकेले
 ही घूमता रहा । प्रिट ट्रेवल की पुलिया पर बैठकर लौट आता था । किसी तरह
 २००२ ई. वर्ष पूरा हुआ । उस वर्ष (२००३ ई.) मेरा भी घूमना बन्द हो गया ।
 घर पर ही रहता हूँ । एक बार तालीकोटे साहब से मिलने गया था । अब फोन
 से बात कर लेते है । कुलकर्णी साहब भी बहुत थक गए । ६ फरवरी २००३

ई. को ७०वाँ वर्ष पूरा होने के कारण बच्चों ने दिवस मनाया । उस ममारोह में कुलकण ? साहब आए थे । उनका पुत्र उन्हें लेकर आया । उसके बाद भी उनसे मिलने गया हूँ । अब तो फोन से ही बात कर लेते हैं ।

□ □

कोलकाता (कलकत्ता) यात्रा

कोलकाता की यात्रा डॉ. बैजनाथ चतुर्वेदीजी के साथ में १९५५-५६ में की थी । उस समय मैं बी.ए. फाइनल का छात्र था । उसके बाद की यात्रा १९८९ ई. की दीपावली के बाद नवम्बर में हुई । प्रधान रूप से मुझे एशियाटिक सोसाइटी का ग्रंथालय तथा नेशनल लाइब्रेरी देखना था । वहाँ पर मैं दो चिद्दानो से परिचित था । आचार्य कल्याणमलजी लोढा और दूसरे आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री । दोनों को ही मैंने आगमन की सूचना दे दी थी । उनकी ओर से सकारात्मक उत्तर भी मिले ।

यात्रा के अपने कष्ट होते हैं किन्तु उसके लाभ अधिक हैं । अकेले तो मैंने बहुत यात्रा की किन्तु पत्नी और बच्चों के साथ में लेकर भी मैंने यात्राएँ की हैं । कलकत्ता की यात्रा में पत्नी और बेटी नमिता दोनों साथ में थे । हावडा उतरना था । वहाँ पर कैसी व्यवस्था होगी ? कहाँ ठहरेंगे ? चिन्ताएँ थीं । परिवार भी साथ में था । हावडा पर गाडी पूरी खाली हो जाती है । भीड़ बहुत होती है । प्लेटफार्म से गुजरना लोगों से टकराते हुए गुजरना पड़ता था । जैसे-तैसे मामान लेकर हम लोग आगे बढ़ने लगे । बाहर निकलने के गेट के पास एक सज्जन कागज का बैनर लिए खड़ा था । उस पर लिखा था — 'Welcome Dr. Rajmal Bora !' मैंने उससे कहा — 'मैं राजमल बोर हैं ।' आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की ओर से भेजा हुआ व्यक्ति था । मैंने शास्त्रीजी को आगमन की तिथि गाडी का समय सब लिख दिया था । तदनुसार उन्होंने स्वागत हेतु उस व्यक्ति को भेजा था । हम लोग स्टेशन से बाहर आए । हावडा पर टैक्सी खड़ी मिलती है किन्तु भीड़ बहुत होती है । पुलिस-व्यवस्था होती है । हमे लाईन में खड़ा कर दिया । नम्बर आते ही हम लोग टैक्सी में बैठे और सीधे चले । हावडा-ब्रिज से गुजरे । चौकी सड़क पर आए और वहाँ से शेक्सपियर सर्णी में भारतीय भाषा परिषद के भवन पर पहुँचे । वहाँ पर तीसरी मजिल पर गेस्ट हाउस में हमारे ठहरने की व्यवस्था थी । चढ़ने-उतरने के लिए लिफ्ट की व्यवस्था थी । उस व्यक्ति ने हमारे रहने की व्यवस्था कर दी ।

उस समय न तो शान्जी से मिलना हुआ और न ही लोढाजी मे । भारतीय भाषा परिषद के कार्यालय से लोढाजी का घर कैसे पहुँचे पूछ लिया । निर्देशानुसार हम लोग सिटी बस मे बैठकर देशप्रिय पार्क गए । पहले वेस्ट मे गए । पुन. ईस्ट मे सड़क लाघ कर गए । घर मिल गया । घर पर ही थे । उन्ही दिनो उनके पुत्र का निधन हो गया था । दुखी थे । श्रीमती लिली लोढा भी मिली । पत्नी का, नमिता का परिचय हुआ । पारिवारिक स्तर पर मिले । उस समय लोढाजी भारतीय हिन्दी परिषद के अध्यक्ष थे, — सभापती थे । मै उपसभापति था । उस दिन हम लौट गए । वे 'क्रोध'-आदि मनोवेगो पर कुछ लिख रहे थे । हमे लौटते देखकर बोले — 'मैं आ रहा हूँ ।' हमारे 'भारतीय भाषा परिषद' मे लौटने के बाद में वे उसी दिन आए । पत्नी और नमिता को छोडकर मैं उनके साथ अकेला ही गया । एशियाटिक सोसाइटी लाइब्रेरी मे ले गए । वहाँ परिचय करवा दिया । भीतर उसकी ग्रंथ-सपदा देखी । विशाल ग्रंथालय है । चौरंगी रोड से नजदीक ही है । लौटकर उन्होंने वह इस्टिच्यूट भी दिखलाया, जिसमे इनसाइक्लोपीडिया का सम्पादन हो रहा था । मैने वहाँ पर कुछ सामग्री भेजी थी । वह स्वीकृत भी हुई । सम्पादक से मिला । उसके बाद लोढाजी चले गए । मुझे लौटकर, लौटने के लिए टिकटो का आरक्षण करना था । लौटते ही सेक्सपियर सरणी के रोड पर अचानक रावतजी मिल गए । चर्कित हो गया । प्रसन्नता भी हुई । उसी मोड मे एक ओर मेरा आवास था और दूसरी ओर रावतजी ठहरे हुए थे । आगरा के पुराने मित्र के घर पर ठहरे हुए थे । उनका आवास देखा । फिर लौटकर उन्हें अपने आवास पर ले गया । वह सयोग था कि वे कलकत्ता मे मिल गए । ऊपरी मजिल पर आए । बैठे । बात हुई । मालूम हुआ कि वे विजिटिंग प्रोफेसर के रूप मे शान्तिनिकेतन गए थे । तीन महीने पत्नी के साथ वहीं पर थे । प्रो. रामसिंह तोमरजी के निमंत्रण पर गए थे । वहाँ से दिव्य-प्रबन्ध का ८ भागों का मेट लेकर आए थे । कुछ और काम भी किया । नम्मू भी सब से मिलकर प्रसन्न हुई । चाची मिली । पत्नी अपनी बहनजी से मिली । हम सब का निर्णय हुआ कि बस के द्वारा कलकत्ता-भ्रमण कर ले उसके लिए आरक्षण आवश्यक था । दूसरे दिन जाने का निर्णय हुआ । रावतजी के आवास पर पहुँच कर उनके माथी को टिकट आरक्षण करवाने कहा । हम सब के टिकट बुक हो गए । दूसरे दिन सबेरे नौ बजे डलहौजी स्क्वेअर पर पहुँचना था ।

यथासमय हम लोग डलहौजी स्क्वेअर पहुँच गए । कलकत्ता का वह भाग मुंबई के फोर्ट एरिया सदृश है । चौड़ी और साफसुथरी सड़के तथा ऊचे-ऊचे भवन । सजा हुआ, आधुनिक पद्धति का यूरोपीय ढंग का मार्केट है । हम जब पहुँचे तो मार्केट खुला नहीं था । हम लोग तो नौ बजे से पहले पहुँच गए थे । पर्यटक के रूप में हम लोग कलकत्ता देख रहे थे । दिनभर हम लोग साथ में रहे । रावतजी बतियाते रहे । महिलाएँ भी साथ-साथ थीं । नम्मू प्रसन्न थी । किस रास्ते से बस गई ? कौनसा स्थान पहले देखा ? ठीक से स्मरण नहीं । किन्तु जिन महत्वपूर्ण स्थानों पर हम गए, उनके नाम लिख रहा हूँ । हम लोग त्रिक्टोरिया मेमोरियल गए । मगमरमर की भव्य इमारत है । लगा कि ताजमहल के सदृश इमारत बनाने का प्रयत्न हुआ है । ताज का स्मरण करने पर इमारत कुछ और ही नजर आती है । जो स्वतंत्र रूप में देखें तो इमारत सुंदर है । इंग्लैंड का वास्तु-शिल्प है । आकार और आकृति पर विदेशी छाप है । यूरोप की एक इमारत भारत में देखने मिली । इमारत भव्य है । घूमकर इमारत देखी और यथासमय बस में बैठ गये । उस इमारत के चारों ओर खुला मैदान है । ताजमहल की तरह गार्डन नहीं है और न प्रवेश द्वार है । उस इमारत के सामने से जो सड़क जाती है, वह चौरंगी को जाती है । चौरंगी वहाँ से पैदल जाने का रास्ता है । चौरंगी की दूसरी ओर बस्ती है और चौरंगी पर दूर तक चले जाओ तो निव मार्केट है । चौरंगी सड़क के इस ओर मैदान खाली है । कोई इमारत नहीं है । त्रिक्टोरिया मेमोरियल से सड़क की दूसरी ओर जाए तो ईडन गार्डन है — खेल का बड़ा मैदान है । क्रिकेट के मैच इसी ईडन गार्डन पर होते हैं । ईडन गार्डन से आगे, उम्मी क्रम में झू (Zoo) है । उसे झूआलाजिकल गार्डन कहना चाहिए ।

हमारी बस झू (Zoo) के पास ठहर गई । वहाँ पर हमें एक घण्टे से कुछ अधिक समय दिया गया था । घूम-फिर कर देख रहे थे । 'झू' बहुत बड़ा है । प्राणी हैं । कृत्रिम वन का वातावरण है, उसमें वन्य प्राणी स्वतंत्र रूप में विचरण कर सकते हैं । सब जगह पहुँचना और पूरा देखना चाहे तो एक दिन भी काफी नहीं होता । शारीरिक क्षमता को देखते हुए घूमना था और समय रहते लौटना था । हम लोग, बस के गाइड से दूर नहीं जाते । यथा सभव साथ में रहते हुए सब देखा । हाँ, नम्मू दौड़-दौड़ कर देखती थी । वह प्रसन्न थी । झू के सामने ही सड़क की दूसरी ओर (National Library) राष्ट्रीय पुस्तकालय था । हम लोग पुस्तकालय में भी गए । ग्रंथालय के चारों ओर गार्डन है । विशाल भवन है ।

अहाता बहुत बड़ा है। हमारी बस मुख्य भवन के सामने खड़ी हो गई। हम बहुत कम समय दिया गया। भीतर गए। सीढ़ियों चढ़कर जाना पड़ा। ऊपर भव्य हाल में पहुँचे। उसमें कार्यालय के सदस्य थे। इमारत विशाल थी। ब्रिटिश पद्धति की इमारत थी। वह इमारत पहले गवर्नर जनरल का आवास स्थान था। वारन हेस्टिंग्स से लेकर डलहौजी ही नहीं, उसके बाद के गवर्नर जनरल भी वही पर रहते थे। कलकत्ता ही भारत की राजधानी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन इसी स्थान से होता था। दिल्ली पहुँचने तक और शासन बदलने तक — ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन इसी स्थान से होता था। दिल्ली पहुँचने तक और शासन बदलने तक — ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त कर सीधे लण्डन के राजघराने से शासन को जोड़ने तक — यह इमारत राजधानी रही है। भारत स्वतंत्र होने पर इसी इमारत को राष्ट्रीय प्रथालय का रूप मिला। मैं उसी प्रथालय में काम करने के लिए आया था।

जहाँ तक मुझे याद है, हम लोग वहाँ से सीधे बोटानिकल गार्डन गए। कलकत्ता का यह विशाल गार्डन है और गंगा के तट से लगा हुआ है। १९५५ ई (दिसम्बर में) जब यहाँ आया था, उस समय चतुर्वेदीजी ने हमें बोट में बैठाया था। गंगा तट पर उतर कर हम लोग इसी गार्डन में आए थे। अब तो बम हमें सीधे उस वटवृक्ष के पास ले गई जो गार्डन का विशेष पेड़ था। पहले जब गए थे, उस समय फेन्सिंग नहीं थी। वृक्ष खुला था। वृक्ष के चारों ओर घूमा जा सकता था किन्तु अब फेन्सिंग के कारण घूमना संभव नहीं था। बाहर से खड़े रहकर ही देखा जा सकता था। हमारे पास इतना समय नहीं था। निश्चित अवधि में ठहरकर हमने प्रस्थान किया। वट-वृक्ष के मूल रूप को पहचानना कठिन था। उसका घेरा विशाल था। और वही दर्शनीय वृक्ष था। उसकी रक्षा पर्यटन विभाग कर रहा था। उसके बाद में हम लोग कहाँ-कहाँ गए? क्या-क्या देखा? स्मरण नहीं। इतना याद है कि हावडा ब्रिज से गुजर कर कलकत्ता छोड़ दिया। हावडा ब्रिज की दूसरी ओर हावडा — पुराना कलकत्ता — है। प्राचीन नगरी है। यह प्राचीन नगरी भी गंगाजी के तट पर है। इस ओर की सड़कें चौड़ी नहीं हैं। इमारतें प्राचीन पद्धति की हैं। हम लोग जैन मन्दिर गए। मन्दिर का शिल्प प्राचीन है। घूम-फिर कर देखा। नक्काशी और कारीगरी है। भव्य आगम है। लगता है, वहाँ से हम रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के स्थान पर (बेलूर मठ) गए। गंगाजी के तट पर बना हुआ यह मठ है। रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के स्मृति-स्थल देखे। परमहंस के भव्य हाल में बैठे। शान्त वातावरण

है बैठने और ध्यान करने को जी चाहता है । पत्थर की इमारतें हैं । प्राण भी विशाल है । गगातट पर घाट की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं । क्षेत्र व्यापक है । गगाजी की अपनी शोभा है । उस चित्त प्रमत्त करनेवाले दृश्य को निहारने में सुख मिलता है । यथासमय हम लौट गये ।

वस्तुतः हम लोग औरंगाबाद से ३१ अक्टूबर १८८९ ई. को निकले थे । कलकत्ता जानेवाली हावडा रेल हमें मनमाड पर रात्रि में दो बजे मिलती है । यो हम १ नवम्बर को रात्रि में दो बजे (तारीख बदल गई थी) ट्रेन में बैठ गए । २ नवम्बर को सबेरे-सबेरे हावडा पहुँचे । इस यात्रा में बहुत काम करना था । पृथ्वीराजरासो — पर काम करते समय राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा एशियाटिक सोसाइटी की सामग्री देखी नहीं थी । इसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सम्बन्धित सामग्री भी देखनी थी । क्या क्या देखना है ? सब लिखकर लाया था । यह काम मैंने तीसरे दिन ४ नवम्बर से आरम्भ किया ।

राष्ट्रीय ग्रंथालय मैंने देख लिया था । प्रधान रूप से मुझे पृथ्वीराजरासो — से सम्बन्धित तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सम्बन्धित पुस्तकें देखनी थी । पत्नी और नमिता को कहाँ छोड़े, यह प्रश्न था । मेरी छोटी पुत्रवधू की सहेली कलकत्ता में रहती थी । उसका पता उसने दिया था । नाम था 'प्रिया' । प्रिया की माताजी, औरंगाबाद के गवर्नमेण्ट कालेज के प्राचार्य थत्ते साहब की पुत्री थी । थत्ते साहब तो रहे नहीं किन्तु उनका एक मात्र पुत्र औरंगाबाद की यूनिवर्सिटी की प्रेस में काम करता था । यह सब बाद में मालूम हुआ । नमिता के पास पता था । प्रिया के पिता का कार्टर राष्ट्रीय ग्रंथालय के अहाते में था । हम लोग राष्ट्रीय ग्रंथालय पहुँचे । वहाँ पर वह कार्टर खोज लिया । 'प्रिया' और उसकी माताजी मिल गई । पत्नी और नमिता को वहीं छोड़कर मैं सीधे ग्रंथालय में गया । ग्रंथालय में 'हिन्दी विभाग' में पहुँचा । प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग अधिकारी नियुक्त हैं । ग्रंथालय के हिन्दी विभाग के अधिकारी से परिचय हुआ । उसका पूरा नाम भूल रहा हूँ । नाम द्विवेदी ही था । द्विवेदीजी मेरे नाम से परिचित जान पड़े । मेरी कुछ पुस्तकें ग्रंथालय में थीं । इसीलिए नाम जानते थे । मुझे घूम फिर कर हिन्दी की पुस्तकें दिखलाई । बांछित विषयों की पुस्तकों का रैक दिखला दिया । दिन भर वही बैठकर काम किया । मैंने पृथ्वीराजरासो की मुद्रित प्रतियाँ देखीं । हस्तलिखित नहीं देख पाया । इसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सम्बन्धित पुस्तकें देखीं । पुस्तकें खोज कर एक स्थान पर एकत्रित रूप में रख दीं । बैठकर उन पर काम करना था । पृथ्वीराजरासो से सम्बन्धित लगभग बीस पुस्तकें मिलीं । इसी तरह

शुक्लजी से सम्बन्धित कुछ पुराने सस्करण मिले । १९३० ई में प्रकाशित विचार-वीथी थी । भारतेन्दु साहित्य (१९२९ ई.) / १९३५ ई. का रामचन्द्र शुक्ल का भाषण / कुछ और पुस्तके थीं । विशेष रूप में ज्यामसुन्दरदास की आत्मकथा (१९४१ ई) मिली । मदन मोहन मालवीय से सम्बन्धित दो पुस्तके देखी — महामना मालवीय (ब्रजमोहन व्यास) और महामना मालवीय (डॉ ईश्वरप्रसाद वर्मा) / नाम पते लिख लिए । पुस्तको की सूची तैयार कर ली । कुछ अन्य विषयो की पुस्तके भी देखीं । पहला दिन तो पुस्तकें देखने और क्रम लगाने में गया । एक-दो पुस्तके पढी भी । कुछ लिखा भी । लौट आया । नम्मू से मिला । देखा कि वह तो 'प्रिया' से काफी घुल-मिल गई । वही पर भोजन हुआ । 'प्रिया' पुत्रवधू के साथ B Com हो गई थी और इस समय CA की तैयारी कर रही थी । वह अपने समय से जाती और लौट आती । प्रिया के पिताजी से मिलना हुआ । वे प्रिसिपल थत्ते के दामाद थे । पहले सिकदराबाद में थे और इस समय ट्रांसफर होने के कारण कलकत्ता में थे । 'प्रिया' के मामा औरगाबाद में थे । सच तो यह है कि मैं एक चिन्ता से मुक्त हुआ । स्वतंत्र रूप से कुछ काम कर सकता था । मुझे पुन ग्रंथालय में आना ही था । उस दिन हम लोग लौट गए ।

मुझे कलकत्ता के हिन्दी विभाग (विश्वविद्यालय के) में जाना था । आचार्य विष्णुकान्त शान्धी भारतीय भाषा परिषद में आए थे, उस समय मैं प्रो लोढाजी के घर पर गया हुआ था और जब वे लोढाजी के घर पर पहुँचे तो हम निकल गए थे । वे उन दिनों में बहुत व्यस्त थे । भारतीय जनता पार्टी का काम कर रहे थे । संभवत हम न्योग दूसरे दिन प्रो लोढाजी के घर गये । उनके घर पर हमें भोजन करना था । पारिवारिक भोजन हुआ । उस समय नम्मू का विवाह नहीं हुआ था । बाद में (१९९३ ई में) विवाह हुआ तो मुंबई के लोढा परिवार में हुआ । नम्मू को और पत्नी को वहाँ का मार्किट देखना था । कुछ खरीदना था । लोढाजी की पत्नी के साथ वे दोनों मार्किट गईं । हम लोग बैठकर साहित्यिक चर्चा करने लगे । प्रो. लोढाजी को प्राचीन वाङ्मय का अच्छा ज्ञान है । प्राकृत की पुस्तकें भी उन्होंने पढी हैं । मनोविकारों पर उन्होंने कुछ लिखा भी है । वह पढकर सुनाया । आवश्यकता होने पर ग्रंथालय चले जाते हैं और सदर्थ खोज लेते हैं । उनके साथ पत्र-व्यवहार १९८३ ई से है किन्तु मिलना तो उससे पूर्व हुआ है । औरगाबाद के विभाग में उनके तीन व्याख्यान कामायनी पर हुए हैं । उनके लम्बे-लम्बे साहित्यिक पत्र मुझे मिले हैं । प्राचीन वाङ्मय मैं भी पढता रहा हूँ,

किन्तु उतनी गहराई मुझ में नहीं है। हमारा समय बीत गया और पता नहीं चला। नम्मू और पत्नी लौट आए। उस समय तक प्रो. लोढाजी का कोई परिचित व्यक्ति वहाँ आया था। कुछ टिकित करके ले आया था। उसे उन्होंने गेक लिया। और हमसे कहा — 'इसके साथ आप मेट्रो में काली का मन्दिर चले जाएँ। वह आपको दिखाकर लौट आएगा।' हम लोग उसके साथ मेट्रो चले गए। पहली बार मेट्रो से यात्रा की। १९५६ ई. में जब कलकत्ता आया था, उस समय ट्राम में बैठा था। इस बार मेट्रो में यात्रा की। काली का मन्दिर तक गए। मन्दिर देखा। कलकत्ता की घनी आबादीवाला वह स्थान है। कलकत्ते का पुराना भाग है। हम गए भी और आए भी। जब लौट आए तो नम्मू ने खरीदी हुई साड़ियाँ दिखाईं। श्रीमती लोढा से वे दोनों ही प्रसन्न थीं। लौटकर आने के बाद रावतजी से मिलना हुआ। उन्हें मैंने अपना वृत्त सुनाया। वे भी किसी कार्यक्रम में व्यस्त थे। किन्तु उन्हें सभवतः मेट्रो में बैठने का अवसर नहीं मिला। कोई साथ लेकर घूमनेवाला नहीं मिला। प्रो. लोढाजी पर कुछ नाराज हो गए। मेरा तो अभी काम हुआ नहीं था। लौटने का आरक्षण कर लिया था। कलकत्ता में हमें दस दिन रहना पड़ा। तीन-चार दिन तो निकल गए। क्रिस क्रम से हम कहीं-कहीं गए, यह सब याद नहीं। हर बार नई जगह जाने के लिए पूछताछ करना पड़ता था।

हम पुनः राष्ट्रीय ग्रंथालय गए। पहले टैक्सी में बैठने में डर लगता था। आदत नहीं थी। अब बैठने लगे। तुरन्त ग्रंथालय पहुँच जाते थे। अब स्थान में परिचय हो गया था। नम्मू और पत्नी को 'प्रिया' के घर पर छोड़कर मैं ग्रंथालय में दिन भर काम करता रहा। ग्रंथालय छोड़ने को जी नहीं चाहता। इच्छानुसार पूरा ग्रंथालय घूम कर नहीं देख सका। किसी रैक के पास खड़े रहकर पुस्तकें देखने के लिए समय ही नहीं था। जल्दी से जाल समेटना था। अपना ही काम करना था। एकत्रित की हुई पुस्तकों में से कुछ के नोट लिख लिए। कुछ पुस्तकों पर निशान लगा लिए। दूसरे दिन भी ऐसा ही किया। तीसरे दिन मुझे जीराक्स करवाना था। उसकी व्यवस्था वहाँ पर है। मैं जीराक्स विभाग में पहुँचा। सामग्री दी। वहाँ पर लम्बी प्रतीक्षा थी। पूरा दिन गया। काम हो गया। जब तक जीराक्स का काम होता रहा तब तक ग्रंथालय घूम फिर कर देखता रहा। द्विवेदीजी से बातचीत हुई। उन्होंने अपनी पुस्तक दी।

लौटा तो नमिता प्रसन्न थी। प्रिया के साथ मार्केट जाकर आए थे। भागतीय भाषा परिपद पहुँचने तक थक जाता था। घर लौटने की इच्छा हो गई। अभी

दो/तीन दिन बाकी थे। रावतजी सभबत तब तक लौट गए थे। मुझे कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में जाना था। १९५६ ई. में गया था। उस समय लालता प्रसादजी थे। किमी से परिचय नहीं था। पूछते-पूछते पहुँच गया। महानगर के मध्य भाग में विश्वविद्यालय है। गोल-गोल सीढ़िया चढ़कर ऊपर विभाग में गए। इमारत बहुत पुरानी है। विभाग में शम्भुमिहजी थे। और भी सदस्य थे। मच के नाम याद नहीं। विभाग में एक व्याख्यान दिया। पत्नी और नम्मू बाहर हाल में बैठे रहे। नीचे उतर आए। हमें लौटना था। द्वार से बाहर निकलते ही भीड़-भाड़ वाली मडक थी। वहाँ से आगे बढ़ जाओ तो बड़ा बाजार पहुँच सकते थे। वहाँ पर खाने पीने की व्यवस्था हो सकती है। किन्तु हम गए नहीं। बड़ा बाजार के द्वार तक पहुँच कर भी लौट गए। मद्रास में जैसे सावकार पेट है, वैसे ही कलकत्ता में बड़ा बाजार का बड़ा नाम है। हम लोग तो नये कलकत्ता में (कनाट प्लेस) में रहे। चाँदनी चौक गए ही नहीं। लौटने के बाद में भी जाना सभव नहीं हुआ।

खाने-पीने की तकलीफ थी। शेक्सपियर सरणी के पास खाने लायक शाकाहारी कोई होटल नहीं थी। आस पास घूम कर देखा तो हमारे खाने लायक कुछ मिलता नहीं था। सब जगह मछली की गंध आती और हम लोग बाहर आ जाते। एक मात्र मद्रासी होटल ढग की मिली। वहाँ जाकर इटलो-साभर तथा बोडा खा लेते और काफी पी लेते। नारियल मिलते। उसका पानी पी लेते। रात्रि में सो जाते। थके हुए रहते थे। हमारी मजिल से ऊपर मच था और वहाँ पर कार्यक्रम रात्रि में चलता रहता। ऊपर जाने की इच्छा नहीं होती। लेंटे लेंटे ही सुन लेते थे। संगीत का कार्यक्रम चलता रहता था। उसी भवन में प्रभाकर माचवेजी रहे, बालशोरि रेड्डी रहे और बाद में प्रभाकर क्षोत्रीयजी भी रहे। किन्तु हम लोग जब वहाँ पर गए तो, वहाँ पर कोई नहीं था। नीचे कार्यालय में डॉ. सन्हैयालाल ओझा थे। वृद्ध हो गए थे। उनसे बात होती। छत पर पहुँच कर ऊपर से कलकत्ता देखते। भवनो के बीच-बीच में छोटे छोटे तालाब दिखलाई देते। जहाँ गंगाजी अपने चरम रूप में है, वहाँ पानो की समस्या नहीं हो सकती।

आरक्षण की तिथि आ गई। भारतीय भाषा परिषद के बिल का भुगतान कर हम लोग लौट गए।

□ □

बीमारी ने घेर लिया

कलकत्ता से लौटा तो थका हुआ था। हाथ-पॉवो में दर्द होने लगा था। शरीर में खिंचाव था। विभाग में ढेरो काम था। विभाग की एक पुस्तक को पूर्ण करना और प्रेस कापी तैयार कर दिल्ली भेजना था। वह काम करता रहा। उन दिनों स्कूटर (बजाज १५०) चलाता था। इलाहाबाद में भारतीय हिन्दो परिषद की मीटिंग रखी गई थी। हम दोनों को निमन्त्रण मिले थे। मैं परिषद का उपसभापति था और राजूकर साहब कार्यकारिणी के सदस्य थे। ओरंगाबाद अधिवेशन का हिसाब-किताब बाकी था। हमारा पहुँचना आवश्यक था। १३ दिसम्बर १९८९ ई को मीटिंग थी। हम दोनों ने इलाहाबाद का आरक्षण किया। महामगरी से जाना था। मनमाड़ से दिसम्बर १२ को सबेरे पाँच बजे की गाडी से जाना था। ११ दिसम्बर को यूनिवर्सिटी से पाँच बजे लौट आया। प्रेस कापी उसी दिन दिल्ली भेजी थी। और भी काम करते हुए इलाहाबाद जाने की तैयारी की। रात में

ग्यारह बजे की पैसेजर से मनमाड जाना था । राजूरकर साहब स्टेशन पर मिल गए । वेटिंग रूम में बैठे रहे । गाडी आई नहीं । कागण मालूम नहीं । दूसरी गाडी रात में दो बजे थी । घर जाकर पुन लौटना ठीक नहीं था । राजूरकर साहब संभवतः घर लौट गए । मैं बैठ गया । वे पुन आए । दो बजे की गाडी में बहुत भीड़ थी । मुश्किल से चढे । बैठने के लिए जगह नहीं मिली । जो जगह मिली, उस पर राजूरकर साहब बैठ गए । खडे-खडे ज्यो-त्यो मनमाड पहुँच गए ।

मनमाड पर उतरे, उस समय साढेचार बजे थे । सबेरे का समय था । पाँच बजे हमारी ट्रेन थी । दिसम्बर का मास था । जाड़ा अपने उत्कर्ष पर था । कॉपते-कॉपते ही दो नम्बर के प्लेटफार्म पर पहुँच गए । कुली के साथ कॉपते हुए दौड़ना पडा । वेटिंग रूम में बैठे । गाडी ठीक समय पर आ गई । कुली सामान लेकर हमारे आरक्षण के डिब्बे तक आया । मैं भीतर से स्वेटर पहना हुआ था । ऊपर से कोट था । फिर भी कैप-कैपी थी । सामान भीतर गखते ही हम दोनो क्रमशः गाडी में बैठने लगे । राजूरकर साहब आगे निकल गए और अपनी बर्थ पर बैठ गए । कुली भीतर नहीं आया । वही से उसको बिदाकर भीतर जाने लगा । गाडी हिल गई । चलने लगी । उसी समय बिजली का धक्का लगे, उस तरह से शरीर झनझना गया । पास खडे दूसरे यात्री ने सामान उठाया । बर्थ तक कॉपते हुए जाकर बैठ गया । वैसे ही बैठ गया । सामान व्यवस्थित नहीं कर सका । राजूरकर साहब की बर्थ कुछ दूरी पर थी । वे भी थके हुए थे । रात्री का जागरण था । मेरी कैप-कैपी बन्द नहीं हुई । टी.टी. आया । उसने मेरी हालत देखी । कहा, गाडी तो भूसावल पर ठहरेगी । ८ बजे सबेरे पहुँचेंगे । मैं फोन करता हूँ । भूसावल पर डॉक्टर आ जाएगा । अब तो कुछ हो नही सकता । वैसे ही बैठा रहा । गाडी वैसे अपनी गति से चलने लगी थी । जैसे-तैसे थोडी चेतना आने पर अपना सामान ठीक किया । बैग व्यवस्थित की । चादर बिछा ली । ओढने का निकाल कर ठीक से ओढ कर बैठ गया । सो नहीं सका । राजूरकर साहब आए । देखकर गए । टी.टी. ने उन्हे समझा दिया । वे चले गए । मैं चुपचाप रहा । गाडी के चलते गहने पर धीरे धीरे आँख बन्द होने लगी । तन्द्रा-सी स्थिति हुई । वह जागते हुए सोना था । थोडा आराम मिला । शरीर में स्थिरता आई । ऐसे ही झकोले खाते रहा । गाडी बहुत तेजी से दौड़ रही थी । आठ बजे सबेरे भूसावल पहुँच गई । वहाँ पर गाडी पन्द्रह मिनट ठहरेती है । डिब्बे के ठीक सामने डाक्टर आया ।

उमने जाँच की। कागज पर रिपोर्ट लिख दी। अपने पास से कुछ गोलियों दी। फिर कहा कि — आगे यात्रा न करे। भूसावल में दवाखाने में एडमिट हो जाओ। हम लोगों ने यात्रा स्थगित कर दी। कुल्हूँ हमारा सामान लेकर बेटीग रुम तक आया। मुझे भूख लग गई थी। बैठ गया। बैग से पूडियों निकाली। दो पूडियाँ खा ली। कुछ चेतना आई। राजरकर साहब ने अपना टिकट निकाल कर दिया। कहा — 'टिकट लौटाकर आओ। मैं यहीं पर बैठता हूँ।' वैसे ही टिकट लौटाने गया। दादरा चढ़ना पड़ा, पुन उतरना पड़ा। काउंटर पर गया। टिकट लौटा दिया। भूसावल से औरंगाबाद दो टिकट भी ले लिए। अब तो जो गाड़ी मिले, उसमें लौटना था। दादरा पुन बढ़ गया। पुन उतरा और यथास्थान बैठ गया। वही पर बैठकर, स्टेशन का दूध पी लिया। हम लोग मनमाड की गाड़ी में बैठ गए। जगह मिल गई। सभ्यत. पैसेजर थी। जलगाँव पर बड़े-बड़े बेर मिले। गदराएँ और मीठे थे। जाली की थैली में पैक किए हुए थे। मैंने बेर खरीद लिए। बैठे-बैठे बेर खाए। स्वादिष्ट थे। भूख भी वैसी थी। तुष्ट हुआ। हवा में थोड़ी गरमी आ गई थी। जाडा कम हो गया था। मनमाड आए और वहाँ से औरंगाबाद पहुँचे। घर पहुँच गया। सब कुछ बतलाया। कहा — 'डॉक्टर को दिखलाना है।' उस दिन तो थका हुआ था। डॉक्टर के पास नहीं जा सका। दूसरे दिन सबेरे १३ दिसम्बर को नियमानुसार स्कूटर पर बैठकर यूनिवर्सिटी गया। नियमानुसार पाँच बजे लौट आया। सायंकाल में छ. बजे के आस-पास पत्नी के साथ बजाज अस्पताल में गया। डॉ. भागवत को दिखलाया। उन्हे रेलवे के डॉक्टर की रिपोर्ट दिखलाई। डॉक्टर ने देख लिया। कुछ कहा नहीं। पत्नी से कहा — 'इन्हें पैदल घर पर न ले जाएँ। रिक्शे में जाएँ। दो सप्ताह के लिए 'हाउस रेस्ट' अर्थात् घर से बाहर न जाएँ — घर पर आराम करे' — कहा। कुछ नियमित गोलियाँ दी। तीन बार दिन में लेनी थीं। डॉक्टर ने फिर आने के लिए कहा था। रिक्शे से आना और वैसे ही लौटना। मैं घर पहुँच गया। यूनिवर्सिटी जाना बन्द हो गया। १३ दिसम्बर १९८९ ई. को स्कूटर से यूनिवर्सिटी से घर लौटा था। उसके बाद स्कूटर चलाना बन्द कर दिया। १९७२ से १९८९ ई तक लगभग सत्रह वर्षों तक मैंने स्कूटर का उपयोग किया है। डॉक्टर के प्रमाणित करने के कारण मुझे मेडिकल छुट्टी मिल गई। दूसरी बार डॉक्टर के पास गए तो डॉक्टर ने धीमे से समझा कर कहा कि 'माइन्ड हार्ट अटैक था।' घरबाने की बात नहीं है। रेस्ट लेने से ठीक हो जाएगा। शूगर टेस्ट करवाया। उसकी

गोलियों अलग से लेने लगा । ब्लड-प्रेसर के कारण उसकी गोलियाँ अलग । घर पर रहने की आदत नहीं थी । जबर्न घर पर रहना पड़ा । क्या करता ? सेवा-निवृत्त होने से पहले यह स्थिति हो गई । बिस्तर पर आदमी कितने दिन सो सकता है ? घूमना-फिरना बन्द हो गया । सबेरे टहलने नहीं जा सकता था । उस समय दो-तीन विषयों पर एक साथ काम चल रहा था । उस ओर ध्यान केन्द्रीत किया । १९८९, दिसम्बर से रिटायर होने तक के अन्तिम वर्ष (४ फरवरी १९९३ तक के वर्ष) वाचन और लेखन में बीते हैं । मैं पूर्ववत् काम करने की स्थिति में नहीं रहा । अकेले यात्रा करना बन्द कर दिया । हाउस रेस्ट में — तीन महीने तो एक प्रकार से घर में कैद था । लोग आते, मिलकर चले जाते । विभाग से लोग आए । देखकर गए । डॉ. श्याम वर्मा स्वयं कैंसर से बीमार होने पर भी देखने आए । उनका आत्मबल देखकर चकित रह गया । मोत की गोद में रहकर हँसकर जीने की प्रेरणा देनेवाले व्यक्ति है । घर आए तो बोले — ‘आप यूनिवर्सिटी नहीं जा रहे हैं — क्या बात है ? मुझे मालूम ही नहीं । गागा ने फोन पर बतलाया कि आप घर पर हैं । मैं चला आया ।’ वे स्वयं डॉक्टर हैं । बीमार आदमी से बात ऐसी करते हैं कि वह चिन्तामुक्त हो जाए । अपनी कथा, सुनाई । बोले — ‘मैं डॉक्टर को दिखलाने पूना गया । बस स्टेण्ड पर चक्कर आ गई । वही लेट गया । चेतना आई तो उठकर बस में बैठा और पहुँच गया । उनकी बीमारी में उनके साथ में कोई नहीं रहता । डॉक्टर को दिखलाना हो तो अकेले जाते । दवाइयाँ लेते और नियमित अपना काम करते । उन्होंने होमियोपैथी के ‘गोल्डन ड्राप्स’ लेने कहा । जर्मन की दवा है । किन्तु अब भारत में भी वे ड्राप्स मिलते हैं । नाम है ‘Tonicard’ टोनीकार्ड । उसके ड्राप्स (बूँदें) पानी में डालकर पीने के लिए कहा । वे ड्राप्स अब तक पी रहा हूँ । एक तो यह डॉक्टर है, जो बीमार से बात करता है और आपकी तकलीफें सुनकर निदान बतलाता है । दूसरे, अस्पताल में ऐसे डॉक्टर हैं जिनके पास बात करने के लिए समय नहीं है । घण्टों से बैठने पर डॉक्टर मिलता है । जाँच करता है । आवश्यक टिप्पणी के रूप में निदान बतला देता है । उसमें डॉ. भागवत (हृदयरोग के विशेषज्ञ) तो ऐसे हैं, जो बहुत कम बोलते हैं । उनकी औरगाबाद में ख्याति है । उनसे मैंने कहा — ‘रात में नीद नहीं आती ।’ उन्होंने नीद लेने की पद्धति समझा दी — कहा — सीधे (गवासन की मुद्रा में) लेट जाओ । आँखें बंद कर लो । नाक सीधी, ऊपर रहनी चाहिए । साँस लेते रहें । चित्त शान्त रहे । चलायमान न होकर

चुपचाप पड़े रहे। नींद आ जाणगी।' मैंने प्रयत्न किया। नींद आने लगी। आरम्भ के दो-तीन महीने (हाउस रेस्ट क महीने) डॉ. भागवत के निर्देशन में गुजरे। बाद में यूनिवर्सिटी जान लगा। किन्तु अब स्कूटर पर नहीं जाता था। बस में जाता था और उसीसे लौटता था। पाँच बजे तक बैठना बन्द कर दिया। दोपहर में दो-ढाई बजे तक घर लौट आता था। दो पीगिएड लेता था। एक घण्टा एम.फिल का और दूसरा घण्टा एम ए (भाषा विज्ञान का) का। ऐसे ही चल रहा था। डॉक्टर भागवत ने मेरा केस डॉक्टर एकबोट को सौंप दिया। शूगर, ब्लड प्रेशर वे देखने लगे। उनके निर्देशन में गोलीयाँ लेने लगा।

□ □

नमिता का विवाह

१९९० से १९९२ ई के लगभग तीन वर्ष के काल में मेरी सब से बड़ी चिन्ता नमिता के लिए वर खोजने की थी। न चाहने पर भी यात्राएँ करनी पड़ी। यद्यपि ये यात्राएँ मैं अकेला नहीं करता था। कोई-न-कोई साथ में रहता था किन्तु यात्राएँ तो यात्राएँ ही थीं। यात्राओं में थक गया था। डॉक्टर कहते आराम करो। किन्तु आराम कैसे करूँ? यूनिवर्सिटी नियमित जाता था। स्कूटर चलाना छोड़ दिया था। बस में जाता और बस से लौटता। घर से नौ बजे निकलता और पुन लौट आने तक दो-ढाई बज जाते। अब सायकल के पाँच बजे तक नहीं बैठता था। विभाग में भी काम चल रहे थे। प्रतिदिन दो घण्टे पढ़ाता ही था। इन दिनों में दो पुस्तकों पर काम चल रहा था। पुस्तकों के प्रकाशन की चिन्ता थी। प्रत्येक पुस्तक के लेखन-प्रकाशन की अपनी कहानी है। साइस इस्टीमेट के प्राध्यापक श्री ओक मेरे पास आए। कहने लगे निपट-निरंजन की बानी पुस्तक सम्पादित कर दो। मैंने अपनी विवशताएँ उनको समझा दी। सारी सामग्री टेबल पर ला दोगे और दौड़ धूप — आवश्यकतानुसार आप करोगे तो मैं काम को हाथ लगाऊँगा। उन्होंने स्वीकार किया। सारी सामग्री मिल गई।

□ □

निपट-निरंजन की बानी

निपट-निरंजन की बानी की जो पाण्डुलिपि थी, वह एक प्रकार से सग्रह की गई थी। लिखनेवाला एक व्यक्ति नहीं था। जैसे सुना और याद आया, वह सब लिख लिया गया था। कागजों के दो बड़े ढण्डल थे। एक लगभग दो सौ माल पुराना हो गया। और दूसरा लगभग — अधिक से अधिक सौ साल

पुराना । इतनी बात सच है कि निपट-निरंजन की बानी का वाचन चलता रहा है । वस्तुतः औरंगजेब के काल की रचना है किन्तु उस काल तक पहुँचनेवाली प्रति नहीं मिलती । डॉ. भालचन्द्र तेलंग ने भी कुछ काम किया था । वे तो अब नहीं थे । किन्तु उनकी पुस्तक औरंगाबाद की हिन्दी सन्त वाणी मुझे मिल गई थी । निपट-निरंजन पर उनकी ३० पृष्ठों की भूमिका — जीवन परिचय और सन्त वाणी से सम्बन्धित है । मैंने उससे सहायता ली है । उन्होंने अन्य सन्तों का परिचय भी और उनकी सन्त वाणी के नामों के साथ दिए हैं । औरंगाबाद में एकनाथ संशोधन शोध सस्थान है । उसके साथ श्री ओक का सम्पर्क था । मैंने उनकी सहायता में पुस्तक छपवाई । श्री ओक तदर्थ दिल्ली गए । वाणी प्रकाशन को अनुदान की राशि दी । उस राशि के बदले ५०० प्रतियाँ उक्त सस्था को मिली । पुस्तक छप गई ।

मैं किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में था, जो निपट-निरंजन की वाणी सुनाता है, जिसे पारम्परिक रूप से वह वाणी याद है । मुझे किसी ने बूढ़े नाई का नाम बतलाया । सद्गुरे उसका नाम था । शाहगज में उसकी दुकान थी । वह तो बूढ़ा हो गया था । उसका पौत्र दुकान देख रहा था । दुकान पर उसके पौत्र से मिला । मैंने कहा — 'मैं तुम्हारे दादा से मिलना चाहता हूँ ।' वह मुझे अपने घर ले गया । जिनसी के पास के चौरस्ते की गली में जाना पड़ा । मिट्टी का घर था । पुरानी पद्धति का मकान था । पत्थर की सीढियों पर से ऊपर ले गया । सद्गुरे मिल गए । मिचमिची आँखें थी । वृद्धावस्था का अपना रूप था । उस समय अस्सी वर्ष से कुछ ऊपर ही होंगे । मैंने कहा — 'मैं निपट बाबा की बानी सुनने आया हूँ ।' बहुत खुश हो गए । उनके कंठ में निपट बाबा की बानी थी । कवित्त-सवैये सुनाए । गाकर, लय में सहज गति से चुटकियाँ बजाते हुए सुनाए । सुनाते समय उनकी प्रसन्न मुद्रा देखते बनती थी । सन्तों की बानी जन-जीवन में फैली हुई है । उसने लोकवाङ्मय का रूप ले लिया है । मेरे सुनने की इच्छा जारी रही । किन्तु कुछ समय बात भी करनी थी । उन्होंने पुरानी पोथियों का सग्रह दिखलाया । मानपुरी की पाण्डुलिपियाँ दिखलाई । अन्य सन्तों की बानियाँ भी उनके पास में थीं । बुढ़ापे में भी उनमें जीवनी शक्ति थी । आत्मबल था । सतो की बानी ने उन्हें प्रसन्न रखा है । मैं लौट आया ।

बाद में मेरी बहुत इच्छा हुई कि विभाग में उन्हें बुलाकर उनके मुख से निपट-निरंजन की बानी सबको सुनाई जाए । मेरी क्षमताएँ उस समय सीमित

हो गई थी। इसीलिए यह आयोजन सभ्य नहीं हुआ। मैं भी दूसरी बार उनसे मिल नहीं सका।

□ □

मुनि मिश्रीलाल की आत्मकथा

विश्वविद्यालय के पीछे गणेश नगर है। विश्वविद्यालय से वेगमपुरा की ओर नाला पार करके आएं तो वेगमपुरा की सड़क मिल जाती है। यह सड़क एक ओर मकई गेट तक जाती है और दूसरी ओर औरगाबाद की गुफाओं तक जाती है। इसी सड़क पर गणेश नगर है, जो ठीक विश्वविद्यालय के मुख्य भवन से पीछे है। विश्वविद्यालय के मुख्य भवन के सामने स्वर्ण महल है। गणेश भवन से लगा हुआ निषट-निरजन का स्थान है। उसके आगे साइस का इस्टीट्यूट है। गणेश नगर विशाल है। इसके निर्माण के लिए मुनि मिश्रीलालजी को विपुल धनराशि लगातार मिलती रही है। नगर से बाहर होने पर भी दर्शनार्थियों का ताता लगा रहता है। बाहर से आनेवालों को कमरे मिल जाते हैं। चौबीस घण्टे चौका लगा हुआ है। भोजन भी मिल जाता है। मुनि श्री ने अपने गुरु — गुरुगणेशलालजी की सगमरमर की मूर्ति बनवाई और उसे चबूतरे पर स्थापित करवाई। उसका विरोध बहुत हुआ किन्तु मुनिजी के सामने गणेश नगर के क्षेत्र में — किसी ने कुछ नहीं कहा। मुनिजी को चाहनेवालों की संख्या अधिक थी। उनकी छत्र-छाया में बैठनेवाले उनसे कुछ नहीं कहते। उनकी जीवनी लिखवाने के प्रयत्न हुए। दान-दाताओं की कमी नहीं थी। एक जीवनी लिखी भी गई और पुण्य-तिथि के अवसर पर उसका विमोचन भी हुआ। बापजी (मुनिश्री को हम लोग बापजी कहते थे) प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने मुझसे कहा। मैंने कहा कि लिखूंगा किन्तु आपको स्वयं बैठकर बतलाना होगा। वे तैयार हो गए। उस समय मैं स्कूटर चलाता था। सबेरे एक घण्टा पहले पहुँच जाता। जो कुछ वे सुनाते, उसे यथावत् उन्हीं के वाक्यों में (प्रथम पुरुष में) लिख लेता था। इस कार्य में डॉ. पारसमल बोरा (पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन विभाग, मराठवाड़ा विश्वविद्यालय) ने मेरा सहयोग दिया है। इस क्रम में लिखने के कारण समय काफी लगा। फुटकल पत्रों पर, कुछ नोट बुक पर लिखता रहा। जब सब कुछ लिख लिया तो मैंने घर बैठकर उसे पुनः और व्यवस्थित आकार देने का प्रयत्न किया। मुझे प्रशस्ति परक कुछ भी लिखना नहीं था। मैंने बापजी के वाक्यों में कोई परिवर्तन नहीं किया। वर्तनी को ठीक कर दिया। वक्ता के कथनों को श्रोता ने लिखा — बस इतना ही। जब पुस्तक पूरी हुई तो मैंने पुस्तक

का नाम रखा मुनि मिश्रालाल की आत्मकथा बीमाराग के दिनों में कुछ काम जोष रहा था । १९९० ई. में मैंने स्कूटर चलाना बन्द कर दिया था । अतः जब आवश्यकता होती चला जाता । काम पूरा हो गया था । सेठ लोग छपवान की व्यवस्था करने के लिए तैयार हो गए । मैंने श्रम से लिखी हुई पुस्तक किसी को नहीं दी । परिवार के लोगों में, कुछ अपनी ओर से धनराशि लगा कर पुस्तक छापने के लिए श्री अशोक महेश्वरी को दी । उस समय श्री अशोक महेश्वरी राधाकृष्ण प्रकाशन में बैठते थे । उन्होंने वॉछित राशि मिलने पर पुस्तक छाप दी । 'भूलोक' प्रकाशन के नाम से छापी । पुस्तक की डमी कापी मिलते ही बापजी को पढ़ने के लिए दी । उन्होंने पूरी पुस्तक अभिरुचि के साथ पढ़ी । उन्हें लगा कि इस पुस्तक में मैं स्वयं हूँ । उन्हीं के शब्दों में होने के कारण — भाषा सरल होने के कारण भी — उन्हें ठीक लगा । १९९२ ई. में उन्हें पुस्तक मिल गई थी । सारी प्रतियाँ आने में समय लगा । पुस्तक में सौन चित्र भी हैं ।

बीमारी की अवस्था में (१९८९, दिसम्बर के बाद) मैं यह सब काम कर रहा था । डाक्टरी चेक-अप जारी था । गोलियाँ शुरू हो गई थी । शूगर, ब्लड प्रेशर की गोलियाँ तो आजीवन आरम्भ हो गई थी । न चाहने पर भी नमिता के लिए घर खोजने के लिए जाता ही पड़ता था । प्रायः सुनिल को और कभी-कभी अनिल को साथ लेकर यात्रा करता । अकेले कभी नहीं गया । तेजमल (भाई) को, केशवचंदजी (भाई) को साथ लेकर यात्राएँ की । पूना और नाशिक में बहुत प्रयत्न किये । बम्बई भी मैं दो-तीन बार गया । यो मैं चिन्तित रहने लगा । रिटायरमेंट के दिवस ममीप थे । बाद में मैंने टाइम्स ऑफ इण्डिया में विज्ञापन दिए । उससे काफी पत्र मिले । लडको का परिचय भी मिला । जाकर देखने की ताकत नहीं रही । टाइम्स ऑफ इण्डिया — के कारण जो पत्र मिलते उनमें उत्सुकता बहुत रहती । इस तारीख को मिलिए — बाद में लडका अमरीका जा रहा है । दूर-दूर के लडके । न जान, न पहचान ? क्या करें ? बम्बई से एक वायोडाल्ट आया । पत्र भी था । बच्चों को दिखलाया । सुनिल से कहा — 'लडका देखकर आओ ।' तैयार नहीं हुआ । अनिल भी तैयार नहीं हुआ । सुनिल अपने व्यवसाय के कार्य में बम्बई जा रहा था । मैंने कहा — 'जा ही रहे हो तो लडका देखकर आओ ।' वह तैयार हो गया । उसने लडके का घर खोज लिया । लडका देखा । परिवार डेखा । उदयपुर के रहनेवाले थे । मुंबई में बस गए थे । लडका C A हो गया था । मामनेवाले ने (लडके के पिता ने) सुनिल की बहुत आभंगत

की। मुनिल को जल्दी में छोड़ा ही नहीं। मुनिल आया तो उसने रिपोर्ट अच्छी दी। किन्तु कहा कि मुख पर जन्म-निशानी है। बात वैसे ही रह गई। पूना में लडका देखा। नागपुर मुनिल गया और हैदराबाद भी गया। बोलागम में लडका था। हमारे प्रयत्न जारी थे। अब तो मैं यात्रा करने की स्थिति में नहीं था। बच्चे ही जाते थे। अनिल के साहू भडारीजी मुंबई में डाक्टर थे। १९९२ ई बम्बई में दंगा हुआ था। आपोजन में व्यस्त रहते थे। कैम्प लगाकर सेवाकार्य करते रहते थे। अनिल साहू के पास मुंबई गया और दोनों मिलकर लडके को देख आए। भडारीजी ने कहा — 'कोई बीमारी नहीं, जन्म निशानी है।' और सब कुछ ठीक था। भण्डारीजी ने लडका पसन्द कर लिया। अनिल को भी सब ठीक लगा। आने के बाद उसने जो कुछ बतलाया, उससे सम्पर्क करने की इच्छा हुई। इस बीच मैंने भाई करारचन्दजी (कलमवाले) के साथ पूना, बारामती की यात्रा की थी। पूना में एक लडका था। पूनावाले तैयार हो गए। मैं लौट आया। मुंबई से सम्पर्क कर लडके के पिता को भी बुलवाया। मुनिल नागपुर तथा सिकंदराबाद जाकर आया। वहाँ पर सिकंदराबादवाले (बोलागम में रहते थे) तैयार हो गए। जो एक साथ तीन-चार जगह सम्पर्क जारी थे। इनमें पूनावाले पहले आए। काग में सारा परिवार आया। उनकी आवभगत में दिन गुजरा। पूनावाले के कोई सम्बन्धी यहाँ बजाज फैक्ट्री के निकट की कालोनी में रहते थे। वे भी प्रयत्न में थे। पूनावाले लगभग तैयार थे। घरवालों को लडका ठीक नहीं लगा। इसीलिए मैंने निश्चित रूप में उत्तर नहीं दिया। वे लोग जब चले गये तो निराश होकर मैं लेट गया। दूसरे ही दिन सबेरे बम्बईवाले पहुँचे। अकेले ही थे। मैंने उनकी विशेष सेवा नहीं की। पहले दिन का थका हुआ था। कुछ नया लाना या मगाना भी नहीं था। वैसे ही आवभगत की। लडकी को बुलवाया। उन्होंने लडकी से विशेष कुछ नहीं पूछा। आवाज सुनने के लिए दो चार सामान्य प्रश्न पूछे। नम्मू ने ठीक उत्तर दिए। उन्हें लडकी पसन्द आ गई। वे तैयारी से ही आए थे। उन्होंने लडके का फोटो दिया। हमें ठीक लगा। मुनिल और अनिल पहले ही देख आए थे। मैं उन्हें गणेशनगर ले गया। बापजी को परिचय दिया और प्रयोजन बतलाया। उनकी मंगलीक लेकर लौट आया। फिर सायंकाल में उनके साथ सिद्धार्थ गार्डन गया। घण्टा वहाँ पर गुजारा। उनसे जो बातचीत हुई — वह मुझे ठीक लगी। फिर भी नये व्यक्ति से परिचय था। और जानकारी लेना था। तदर्थ मुझे स्वयं बम्बई जाना आवश्यक था। वे चले

गये दूसरे दिन सबेरे बम्बई से फोन आया कि लडका देखने के लिए पधारे । हुकूम करो । मैंने कहा — 'घर में पूछकर उत्तर देना हूँ ।' बात की तो पत्नी ने कहा — 'लडके को यहाँ पर बुलवा लो । हम सब देख लेंगे ।' तदनुसार मैंने निवेदन किया । उन्होंने लडका भेजना स्वीकार किया । लडके के साथ तीन कँवारी बहने आईं और चौथी बड़ी बहन उदयपुर से हवाई जहाज से अपने पति के साथ आईं । दिनभर सब हिलामिल कर रहे । नम्मू के साथ दिन भर रहे । हम सब को लडका ठीक लगा । यथासमय वे सब चले गए ।

दूसरे दिन पुन फोन की घण्टी बजी । श्रीमान रोशनलालजी बोल रहे थे । उन्होंने सीधे प्रस्ताव रखा और साफ शब्दों में कहा — 'हुकूम करो' (उदयपुर की दरबारी भाषा) वास्तव में वे उदयपुर के थे । उनका मूल गाँव हल्दीघाटी के पास का गाँव खमनौर था । मेवाड के थे और खास मेवाडी भाषा का व्यवहार करते थे । मुझे उनके 'हुकूम करो' — प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार करना कठिन लगा । मैंने नकारात्मक उत्तर नहीं दिया । कहा कि सब की राय लेकर उत्तर देता हूँ । मेरी ऐसी स्थिति थी कि न हों कह पा रहा था और नकारना तो चाहता नहीं था । किन्तु रोशनलालजी तो मेवाड के रहे हो किन्तु इस समय पूरे बम्बई के थे । वे पीछा करना जानते थे । वे लोग निश्चय कर लेते हैं तो तुरन्त उत्तर चाहते हैं । मैं हों करने से पूर्व दृढ निश्चय के लिए किमी से परामर्श लेना चाहता था । मैं तुरन्त दौड़ा-दौड़ा बापजी (मुनि मिश्रीलालजी) के पास गया । बापजी को पूरा समाचार दिया और बतलाया कि 'हाँ कह दूँ क्या ?' मुझे एक बार तो घर देख लेना चाहिए । बापजी बोले — 'हाँ, कह दो । सब ठीक होगा ।' फिर पूछा — 'मैं देखने के लिए कब जाऊँ ?' बोले — '१८ अगस्त को जाना ।' मैंने पूछा — 'सगाई की तिथि बतलाएँ ?' बोले — '२३ अगस्त १९९२ ई. ।' यह सब मैं ९ या १० अगस्त को पूछ रहा था । बापजी ने बम्बई जाने की तिथि एक सप्ताह बाद की बतलाई । उससे पहले जा भी नहीं सकते । चुपचाप चला आया । बम्बई में पुन रोशनलालजी का फोन आया । निर्णय और तिथि पृष्टी । मैंने सकारात्मक उत्तर दिया और २३ अगस्त १९९२ ई. तिथि बतला दी । पुन. बोले — 'मैंने विले पार्ले में एक फ्लैट खरीद लिया है । उसकी वास्तु-शान्ति (गृहप्रवेश) की तिथि भी बापजी से पूछकर बतलाएँ ?' मैंने सकारात्मक उत्तर दिया । मेरा तो निर्णय, बिना देखे ही हो गया । अब तो औपचारिक रूप में मात्र जाना था । इस बीच सिकंदराबाद से कान्ता का फोन आया । बोली — 'बोलासमवाले आकर

बैठे है। उन्हे क्या उत्तर दूँ ? बम्बई में बात पक्की हो जाने के कारण मैंने उत्तर टाल दिया। न हाँ कहा, न ना कहा। इसी प्रकार के दो-तीन फोन आए। मैंने कोई सकारात्मक उत्तर नहीं दिया। मैं निश्चयपूर्वक यह भी कहने की स्थिति में नहीं था कि बम्बई में सम्बन्ध पक्का हो गया है। पुन बापजी से मिलने गणेश नगर पहुँचा — वास्तुशान्ति का मुहूर्त पूछा। उन्होंने वही तिथि बतलाई — २३ अगस्त १९९२। मैंने फोन द्वारा तिथि की पुष्टि कर दी। और यह भी निर्णय हो गया कि सगाई बम्बई में ही होगी। मैं तैयारी में लग गया। दोनों लडकों के सहयोग से काम होने लगा। पत्रिका छाप दी और सम्बन्धियों को भेज दी। तेजमल को भी समाचार भेज दिया। औरंगाबाद में सगाई होती तो सभबत परिवार के लोग अधिक आते। १८ अगस्त को हम दोनों ही बम्बई गए। घर देख लिया। अब तो रोशनलालजी ब्याही हो गए थे। उनके बड़े भाई मिले। दोनों की दुकाने देखी। व्यवसाय देखा। बड़े भाई के तीनों लडके C.A. थे। और अपना-अपना कार्य कर रहे थे। उन तीन भाइयों को देखकर कैवरसाहब न भी C.A. कर लिया था। कैवरसाहब की दो बहनों का ब्याह उदयपुर में हो गया था। तीन बहनों का ब्याह अभी होना था। सब कुछ देखकर हम लौट आए। २० अगस्त को लौट आए। पुन २१ अगस्त को तैयारी के साथ जाना था। यात्राओं से थक गया था। किन्तु यात्रा पर जाना आवश्यक था। काम तो सब सुनिल और अनिल कर रहे थे। मुझे केवल उपस्थित रहना था। मुंबई में, चेम्बूर में मेरी पत्नी के भाई रहते थे। मदनलालजी मडलेचा थे। अब तो वे नहीं थे किन्तु उनकी पत्नी अपने पुत्र के साथ चेम्बूर में उसी मकान में रहती थी। मैंने नाशिक को समाचार भेज दिया था। चन्दूलालजी (नमिता के मामाजी) बम्बई पहुँच गए थे और अपने भाई के घर पर चेम्बूर में थे। नम्मू के मामीजी भी नाशिक से आए थे। उस समय कलम से नेमीचंदजी (नमिता के मामाजी) भी चेम्बूर में उसी दिन थे। हम सब लोग एक दिन पहले २२ को विले पार्ले पहुँचे। एक फ्लैट में, जो पूरा खाली था। ब्यायजी के बड़े भाई का था — हमें ठहराया गया। मैं वहाँ से भीचे चेम्बूर पहुँचा और दोनों भाइयों से (चन्दूलालजी और नेमीचंदजी) मिला। दोनों भाई भी प्रसन्न थे। उस दिन दोनों लडके सुनिल और अनिल कैवर साहब के साथ बम्बई के मार्किट में घूमते रहे। कैवरसाहब के लिए उनकी पसंद से ड्रेस और आवश्यक सामान खरीदते रहे। दूसरे दिन सबेरे चेम्बूर से मामाओं का परिवार विले पार्ले में था। समय पर पहुँच गया। आने पर दोनों मामाओं ने सारा काम संभाल

लिया तेजमल भा आ गया था । नाशिक से दोनो पति-पत्नी आए थे । यो नम्मू के मामा के घर के सदस्य समय पर उपस्थित थे । नया फ्लैट जहाँ पर कार्यक्रम होना था — वह तीसरी मजिल पर था । फ्लैट तो बढ़िया था । चढ़कर जाना पडा । यथासमय वास्तुशान्ति और सगाई का कार्यक्रम हुआ । कार्यक्रम मे बम्बई के मेवाडी लोग अधिक थे । ब्यायजी के पाँच भाई है । एक भाई खमनौर-उदयपुर मे अपनी माँ के पास मे रहता है । बाकी चारो बम्बई मे ही थे । सब उपस्थित थे । कुछ बुजुर्ग लोग मेवाडी पगडी पहने हुए बैठे थ । कार्यक्रम सफलता से सम्पन्न हुआ । भोजन के लिए पुन फ्लैट से नीचे उतरना पडा । निकट ही दूसरी ओर किसी हाल मे सारी व्यवस्था थी । ब्यायजी की व्यवस्था थी । सब कुछ उत्तम था । हम लोग लौट आए । यो नमिता की सगाई सम्पन्न हो गई ।

□ □

भोपाल जाने का निमंत्रण

सीतामऊ की ओर से इन्ही दिनों में पत्र मिला । महाराजकुमार डॉक्टर रघुबीरसिंह का ग्रथ छपना था । ग्रथ के सम्पादक मण्डल मे मेरा नाम था । सम्पादक मण्डल की बैठक भोपाल मे रविवार, ६ सितम्बर १९९२ ई को रखी गई थी । मै बम्बई से लौटा ही था और डॉ मनोहरसिंह राणावत का पत्र मिला था । उक्त बैठक पोलिस ऑफीसर्स मंस मे आयोजित होनेवाली थी । श्री कृष्णसिंह राठौड भोपाल में पोलिस विभाग में बडे अधिकारी थे । वे महाराजकुमार के ज्येष्ठ पुत्र है । मोचने-विचारने के लिए समय नहीं था । मुझे अकेले ही भोपाल जाना था । मैने टू-टायर ए.सी. का ५ सितम्बर १९९२ ई का आरक्षण कर लिया । तदनुसार सुनिल के साथ यथासमय स्टेशन पहुँचा । सुनिल ने मुझे गाडी मे यथास्थान बैठा दिया । गाडी छूटने में दस मिनट बाकी थे । मुझे अचानक छाती में तकलीफ महसूस हुई । कुछ कॉप गया था । मनमाड सदृश यह दूसरा अनुभव था मुन्नू से (सुनिल से) कहा — 'मुन्नू, मुझे तकलीफ हो रही है । अकेले जाने की हिम्मत नहीं है ।' — मुन्नू ने सारा सामान उतार लिया । मै भी उतर गया । टिकट लौटाकर, जो राशि मिली, ले लिया । घर आ गया । घर पर लौटने के बाद पहले तो डॉ. एकबोटे के पास गया । उन्होंने मात्र शूगर और ब्लड प्रेशर चेकिंग की । वैसे ही लौट आया । हमारे पड़ोसी श्री विजय तावडे (नानासाहब तावडे के पुत्र) ने डॉ. सतीश रोपलेकर से सम्पर्क करने कहा । तदनुसार सुनिल ने फोन किया । बाद में मुझे रोपलेकर ने एडमिट कर लिया । दो-तीन दिन के बाद पुन घर आया ।

घर पर चित्त लगा ही नहीं। पुन रोपलेकर के पास एडमिट हो गया। दो-तीन दिन के बाद पुन घर आया। घर पर चित्त लगा ही नहीं। पुन रोपलेकर के पास एडमिट होना पडा। यो सितम्बर का दूसरा सप्ताह हो गया। रोपलेकर का कहना रहा कि पूना मे रूबी अस्पताल जाना होगा। वहाँ पर पहले एनजिओग्राफी (Angiography) करनी होगी। डॉक्टर ने कहा — 'मै स्वय पूना लेकर जाऊंगा। डॉक्टर स्वय गाडी ड्राइव करते है। उनके साथ हम लोग १८ सितम्बर १९९२ ई. को पूना गए। पत्नी, अनिल और नमिता सब साथ मे थे। रूबी (Ruby Hospital) अस्पताल के पास के होटल मे रात गुजारी। रास्ते में और रात मे भी रोपलेकर का उपचार जारी था। दूसरे दिन सबेरे ही डाक्टर हमे अस्पताल ले गया। स्ट्रेचर भगवाया। उस पर मुझे लिटाया गया। सीधे 'Interactive Unit Centre' मे ले जाया गया। वहाँ पर उपचार शुरू हो गया। औपचारिक कार्य अनिल करता रहा। केस (Case) डॉ. जगदीश हिरेमठ कार्डिओलोजिस्ट के पास थी। उसकी देखरेख में सारे प्राथमिक उपचार होते रहे। १९ सितम्बर को एडमिट हुआ। और तीसरे ही दिन अर्थात् २१ सितम्बर को एनजिओग्राफी हुई। उस दिन मुझे एनजिओग्राफी की फिल्म भी दिखलाई। मैं लेटे-लेटे सब कुछ देख रहा था। गगों मे खून कहाँ रुकता है। कौनसी रग का मार्ग रुक गया है, उसका पूरा चित्र आँखों से सजग अवस्था में देख रहा था। शरीर का उतना ही भाग उन्होंने अचेत कर दिया था, जहाँ पर उन्हे जॉंच करनी थी। रिपोर्ट देखने के बाद डॉ. चटर्जी ने कहा कि आपरेशन शीघ्र करना होगा। तदनुसार २५ सितम्बर १९९२ ई को आपरेशन की तिथि का निर्णय हुआ। आपरेशन स्वय डॉ. चटर्जी करनेवाले थे। वे मुझे समय-समय पर कहते रहते कि धबराना नहीं। आपरेशन मै करूँगा। सब कुछ ठीक होगा। डॉक्टर के मृदुवचन रोगी को बहुत बडा दिलासा देते हैं।

अब तो पूना में ही रहना था। रुपयो की व्यवस्था करनी थी। पूना में भी रहने की व्यवस्था अलग से करनी थी। अस्पताल मे मेरे कमरे में केवल एक व्यक्ति के लिए ही अनुमति थी। देखने के लिए आनेवालों का ताता लगा हुआ था। अनिल का साथ देने के लिए तेजमल का लडका सतीश वहीं पर था। उसी तरह कलमवाले भाई केशरचदजी का लडका प्रदीप भी वही पर था। अनिल को राशि एकत्रित करने हेतु औरगोबाद भेजा गया। मेरे सादू श्री शामलालजी बम्ब की दोनों लड़कियाँ सरोज और निर्मला पूना मे ही थे। आरम्भ मे उनके घर से भोजन आता रहा। किन्तु एक दिन की बात नहीं थी — उसीलिए प्रदीप

ने पूना रेलवे स्टेशन के समीप एक कमरे की व्यवस्था कर दी। उस कमरे में गैस थी और रसोई की अन्य सामग्री (पात्र आदि) भी थी। सब कुछ सामान्य किराये पर उपलब्ध था। और फिर वहाँ से अस्पताल आधा किलोमीटर मात्र था। नम्मू उस कमरे में रहती। रसोई बनाती। अस्पताल ले आती। अनिल बाहर का सारा काम करता। पत्नी मेरे पास रहती। आवश्यकतानुसार वह चली भी जाती तो कोई दूसरा पास में रहता।

आपरेशन की तिथि का समाचार सब जगह दे दिया गया था। कई लोग बाहर से आए। बम्बई से नये ब्याही श्री रोशनलालजी आए। तेजमल आया। तेजमल की बहू आई। काकीजी (फूलचंद काकाजी की पत्नी) आए। उसी तरह और लोग भी आते रहे। अपना चौका था। नम्मू सब देख रही थी। कोई तकलीफ नहीं हुई। सुनिल-अनिल दोनों भाइयों ने सारी व्यवस्था कर दी थी। मुझे कुछ पूछना आवश्यक ही नहीं था। सुनिल औरगाबाद में रहकर घर की व्यवस्था देखता और अनिल मेरे साथ में था। अपनी माँ से सब पूछ लेते थे।

उस अवस्था में कितने लोग आए? मैं कह नहीं सकता। मैं तो डॉक्टरों की देखरेख में था। दाँतो के डाक्टर ने दाँतो की जॉच की और लगभग छ-मात दाँत जड़ से निकाल दिए। इनफेक्शन से बचने के लिए, उन्होंने यह सब किया। हजाम आया। उसने हाथ-पाँव एवं शरीर के अन्य भागों के बाल निकाल दिए। पूरी सफाई हो गई। दिन में चार बार खून निकाला जाता। उसकी जॉच होती। इसी तरह ECG भी चार-पाँच बार देखा जाता। एक दिन पहले भूखा रखा गया। यो भी आवश्यकतानुसार ग्लूकोज दिया जाता था। मेरे दोनों हाथ मूइयों से घिरे हुए थे। इसमें कितने छेद किए गए कहना मुश्किल है। एक इजेक्शन हो तो कोई बात की जाए? एक डॉक्टर आता, फिर दूसरा। क्रम से सब रिपोर्ट देखते। मैं चाहे बोल न पाऊँ? किन्तु सचेत था और सब समझता था। चटर्जी डॉक्टर बीच-बीच में आकर मुझे देख जाते। रिपोर्ट देख जाते। कुछ निर्देशन भी नर्मों को दे देते। यो २३ और २४ सितम्बर आपरेशन की पूर्व तैयारी के दिन थे। २५ सितम्बर १९९२ ई. आपरेशन का दिवस था। मुझे ICU (विशेष कक्ष) से स्ट्रेचर पर लिटाकर आपरेशन थिएटर में ले जाया गया। ले जाते समय मुझे देखने के लिए परिवार के सदस्य, बाहर से आए हुए सम्बन्धी और परिचित परिजन क्रम से खड़े थे। न मैं उनसे बात कर सका और न ही वे मेरे निकट आ सके। उनके सामने से स्ट्रेचर ऑपरेशन थिएटर में चला गया। चटर्जी डॉक्टर

मेरा साहस बढ़ा रहा था । न जाने डाक्टरो के दल को देखकर मेरा आत्मबल बढ़ गया । मैंने डॉक्टरों को अपना शरीर सौंप दिया । आपरेशन के पूर्व मुझे अचेत किया गया । बाद में क्या हुआ ? मुझे कुछ मालूम नहीं । मैं तन्द्रावस्था में था । आवाज सुनता । हलचल का अनुभव होता । यह सब तन्द्रावस्था में स्वप्न में देखने सदृश था । चेतना में मैंने कुछ अनुभव नहीं किया । आपरेशन के अवसर पर खून की बोतले मँगा कर रखी गई थी । मुझे जिस नम्बर का खून आवश्यक था, उस नम्बर का खून कई लोगों ने दिया । घूम-फिर कर लडके आवश्यकता से अधिक खून ले आए थे । किन्तु उनके उपयोग की आवश्यकता नहीं हुई ।

मेरी चेतना लौटी तब मैं दूसरे कक्ष में था । मुझे व्यवस्थित रूप में आराम से लिटाया गया था । मेरे पलंग के पास खिड़की लगी हुई थी । हवा का झोका आता तो अच्छा लगता । मैंने देखा कि और लोग भी (सम रोगी) दूर-दूर लेटे हुए हैं । भूलोक से दूसरे लोक में जाकर फिर से इस लोक में आगमन हो गया था । परिवार के सदस्यों को भी भीतर आने और मिलने की अनुमति नहीं थी । बाहर ही पूछ लिया जाता था । बम्बई से कँवरसाहब आए थे । डॉक्टर से विशेष अनुमति प्राप्त कर उन्हें विशेष वस्त्रों के आवरण में भीतर आने की अनुमति मिली । वे आए । देखकर चले गए । पत्नी, लडके, नम्मू कोई नहीं आया । दूसरे दिन मगठवाडा विश्वविद्यालय के मेरे विभाग के सहयोगी अध्यापक जीप लेकर पहुँचे । कितने थे ? कौन-कौन थे ? मालूम नहीं । अष्टेकर साहब उनमें थे । उन्हें भीतर आने की अनुमति नहीं मिली । वे लोग बाहर की खिड़की के पास मुझे देखने के लिए पहुँचे । खिड़की के पास हलचल देखी । मैंने उस ओर लेटे लेटे ही हाथ हिला दिया । केवल अष्टेकर साहब की आवाज सुनाई दी । सब लोग मेरी चेतना को देखकर चले गए ।

उस कक्ष में मुझे तीन दिन रखा गया । नर्स मुझे बाथरूम तक ले जाती और वहाँ से पुनः पलंग तक लौटा लाती । व्यक्ति के लेटने की भी सीमा होती है । सीमा पार हो जाए तो नई परिस्थिति से समझौता करना पड़ता है । किन्तु शारीरिक पीडा को क्या कहा जाए ? आपरेशन के टॉके वैसे ही थे । इन तीन दिनों में मुझे खाने के लिए कुछ नहीं दिया गया । केवल ग्लूकोज आवश्यकतानुसार दिया जाता था । मैं उठकर बैठ नहीं सकता था । नर्स आती । दवाखाने के कपडे बदल देती । बिस्तर की चादरे बदलती । साफ सफाई होती । शरीर को गीले कपडे में पौछ देती । स्नान नहीं कर सकता था । अपने बिस्तर पर उठकर बैठ

भी नहीं सकता था और फिर बाहर के — परिवार के — सदस्य से मिलने की अनुमति नहीं थी। २५ को आपरेशन हुआ। उसके बाद उतीम सितम्बर को चौथे दिन मुझे उस कक्ष से मुक्ति मिली। मुझे ऊपर का कक्ष मिला। इन्हीं तीन-चार दिनों में स्थानीय और बाह्य से मुझे देखने के लिए बहुत लोग आए। वे सब बाह्य से खिडकी में से ही मुझे देखकर लौट जाते। कौन आया और गया — वह सब पत्नी को मालूम था। उस समय तक स्टेशन के पाम का कमरा पंद्रह दिन के लिए ले लिया गया। मैं जब ऊपर के कक्ष में पहुँचा, उस समय तक व्यवस्था हो गई थी। पत्नी मेरे कक्ष में बैठने लगी। कुछ खाने की अनुमति भी मिली। चेतना पूरी तरह लौट आई थी। लेंटे लेंटे कमर का कुछ भाग रागड जाने के कारण छिल गया था। जख्म हो गया था। मरहम लगावाया गया। अब उठकर बैठ सकता था। डॉक्टर देख कर जाता था। लोग आते तो उनसे बात कर सकता था। लगता अंधेरी गुफा से फिर बाहर आ गया। प्रकाश देखकर प्रसन्नता होती। हवा अच्छी लगती। पूना विश्वविद्यालय से डॉ. सुनेन्द्र बागलिंगे आए। मिलकर गए। अब भी मैं पूरी बात करने की स्थिति में नहीं था। ऊपर आने के बाद धीमे-धीमे क्यों न हो, जो प्रगति हुई, उससे डॉक्टर सतुष्ट थे। आपरेशन के सातवें दिन मैं खड़ा रहने लगा था। मैं नर्स के निर्देशन पर खड़ा हो गया था। नर्स विस्तार बदल रही थी। इतने में डॉक्टर चटर्जी आए। उन्होंने मेरी छाती देखी। वैसे ही खड़े-खड़े अपने हाथ से सब टॉके निकाल दिए। छाती के बाद मे पैरो के टॉके भी निकाल दिये। कहा — 'धीरे धीरे चलने का प्रयत्न करो। अब आप बिल्कुल ठीक हो।' यो मैं ठीक हो रहा था। नम्मू मेरी अभिरुचि की सामग्री ले आती। मैं पूरी तरह खा नहीं सकता था। मुँह में टेस्ट ही नहीं था। खाने की इच्छा नहीं होती। पत्नी खिलाने में मजबूत थी। कुछ खा ही लेता। ग्लूकोज देना बन्द कर दिया गया था। मैं उठकर बाहर गैलरी में कुमसी पर बैठने लगा। बाहर का दृश्य बहुत अच्छा लगता। कमरे में चलने भी लगा था। बाथरूम जाने लगा। लगा — 'जिन्दगी लौट आई है।' खून अब भी तीन चार बार नर्स आकर इजेक्शन से निकाल कर ले जाती। ECG भी उसी तरह लिया जाता। डॉक्टर की दिनचर्या वैसी ही जारी थी। उसी जाँच के आधार पर गोलिएँ दी जाती। मुझे समझाया जाता कि कौनसी गोली कब लेनी है? मुझ पर नर्स विश्वास नहीं करती। अपने हाथों से गोलिएँ समय-समय पर खाने के लिए देती।

इन्हीं दिनों में जो कुछ हुआ — वह सब पत्नी ही अधिक जानती है। वही सबसे मिलकर बात करती थी। मुझे उन सब के नाम भी मालूम नहीं, जो मिलने

आकर गये । पूना जैसे नगर में इतने परिजन हैं जो पारिवारिक सदस्यों सदृश ही हैं और मिलकर गये हैं । प्रदीप के परिवार के लोग मिलकर गए । प्रदीप ने तो मेरी बहुत सेवा की । तेजमल का लडका सतीश भी था और घर के लडके तो थे ही ।

मैं कमरे से बाहर की गैलरी में कुर्सी पर बैठा हुआ देख रहा था । दशहरे की तैयारी में लोग लगे थे । अस्पताल में भी त्यौहार मनाया जाता है । पुष्प ही पुष्प देखे । तोरण मालाएँ देखीं । वाहन मजे हुए देखे । अस्पताल में सदैव रहनेवालों में भी त्यौहार की चेतना को अनुभव किया । गैलरी में कुछ घूमने लगा था ।

शूगर की जाँच करने और खान-पान पर ध्यान रखने के लिए एक महिला डॉक्टर आती थी । उसने एक चार्ट बनाकर दिया था । उस पर खान-पान के पदार्थों के नाम — सकागत्मक (क्या खाए जाएँ) और नकागत्मक (क्या न खाएँ) लिखकर दिये थे । उसके बाद वह मुझसे चलने का अभ्यास करवाने लगी । सीढ़ियों चढ़ने-उतरने के लिए कहती । मैं तदनुसार अभ्यास कर रहा था । दशहरे की रात में मुझे भयावने सपने आए । बबरा गया । उठकर बैठ गया । आवाजे सुनाई दे रही थीं । मेरा मार्ग भटक गया था और परेशान था । पत्नी ने उठकर लाइट का स्विच आन किया । देखा, कुछ नहीं है । नर्स भी आकर गई । मैंने पुनः सोने का प्रयत्न किया । लाइट रहने दी । यो वह रात कुछ परेशानी में बीती । पत्नी को घर से कुछ ममाचार मिले । उसने बतलाया नहीं । चुप रही । मुझसे उतनी ही बात करती, जितनी आवश्यक हो ।

मात या आठ अक्तूबर को डॉक्टर हियेमठ मिले । कहा — 'अब घर जा सकते हो ।' डॉक्टर चटर्जी से भी मिल लो । डॉ. चटर्जी ने कहा — अस्पताल में अधिक रहना ठीक नहीं है । अस्पताल का वातावरण निरोगी को भी गेगी बना देता है । जाने की तैयारी में रहो । इस बीच उन्होंने सारे टेस्ट कर लिए । डॉक्टरी रिपोर्ट लिखनी शेष थी । मैं अब भी इतना कमजोर था कि यात्रा करने की स्थिति में नहीं था । पूना में भी किसी के यहाँ पर ठहरने की इच्छा नहीं थी । डॉक्टर का कहना रहा कि ट्रेन से या बस से जाना उचित नहीं है । प्लेटफॉर्म पर, बस स्टैंड पर इन्फेक्शन का डर रहता है । अच्छा यही है कि कार से जाओ । अस्पताल में ही कार में बैठ जाओ और कार सीधी घर तक ले जाएगी । रास्ते में चाहें तो आधा घण्टे का विश्राम कर सकते हो । यही उत्तम मार्ग था ।

९ अक्तूबर को स्नान किया तो जॉब के भीतर के जखम में पीप हो गया था। उसको डॉक्टर देख नहीं सका था। १० अक्तूबर को लौटना था। डॉक्टर चटर्जी को सूचना दी गई। १० तारीख को सबरे-सबरे वह आया। नर्सों ने उसे ठीक ठीक बतलाया नहीं था। उसने जखम उधाड़ कर देखी। कोई बात नहीं। ठीक हो जाएगी। मैं ड्रेसिंग कर देता हूँ। उसने नर्सों से अपना सारा सामान मगवा लिया। पहले तो उसने सारा पस (पीप) निकाल दिया। बाद में उसे साफ कर दवा लगवा दी और पट्टी ऐसी मजबूत लगवाई कि उसका महज में खुलना संभव नहीं था। फिर कहा — 'इसे खोलना मत। किसी सर्जन से ही पट्टी खुलवाना और नियमित ड्रेसिंग करवाना। ठीक हो जाएगा।' उस डॉक्टर ने नियमित गोलियों लेने के लिए कहा। गोलियों के नाम और समय लिखकर चिट पकड़ा दी। कहा — 'एक महीने के बाद आकर चेकिंग करवाना।' डॉक्टर के निर्देशानुसार उसी दिन हम लोग काग द्वारा औरंगाबाद जाने की तैयारी में थे। सब कुछ समेट लिया गया था। गाड़ी पोर्ट में आ गई थी। मैं गाड़ी के समीप सब के साथ पहुँच गया था। नम्मू थी, पत्नी थी। अनिल सारी व्यवस्था कर रहा था। मुझे हाथ पकड़कर गाड़ी में बैठाया। मैं गाड़ी में बैठ गया। इतने में मैंने देखा, सिकंदराबादवाले व्यायजी (अनिल के स्वसुर श्री भवरीलालजी कोठारी) सामने खड़े हैं। वे मुझे देखने आए। मैंने अभिवादन किया। बैठा रहा। उठकर नीचे नहीं आया। हमारी गाड़ी निकल गई। गस्ते में 'सुपा' के आगमन से पूर्व छोटे संस्टाप पर गाड़ी रोकी गई। नम्मू नीचे उतरी। कुछ दूर गई थी। झाड़ी से कुत्ता दौड़ा-दौड़ा आया और उसने नम्मू को काट लिया। दौंत गड़ गए थे। पैर को काटा था। कुत्ता तो भाग आया। नम्मू चिल्लाते-चिल्लाते आई। आगे 'सुपा' के संस्टाप पर डॉक्टर को देखा गया। इंजेक्शन लेना आवश्यक था। उसने प्राथमिक उपचार किया। वहाँ से बाद में हम लोग अहमदनगर आ गए। निर्मला के घर पर गए। कुन्दन की बहू थी। और लोग भी थे। वहाँ दूध रोटी खाई। आवश्यक गोलियाँ लीं और आधे घण्टे के भीतर ही पुन गाड़ी में बैठ गये। उसके बाद तो सीधे घर पर आ गए।

घर में प्रवेश करते ही, मैं सीधे दीवान पर जाकर बैठा। भीतर से दिशा दौड़े-दौड़े आई। मुझसे लिपट गई। उसने अपने दादा को बहुत दिन बाद पुन देखा था। वह लगभग दो वर्ष की थी। वह मांडी पर लेटना चाहती थी। मांडी

फा जखम-पट्टी थी, इसीलिए मैंने उसे लेटने नहीं दिया । वह रोने लगी । मैंने उसे समझाया कि माड़ी पर जखम है, इसीलिए । चुप हो गई । दूसरी माड़ी पर आई और पूछा — 'यहाँ तो जखम नहीं है ?' मैंने कहा — 'नहीं ।' वह लेंट गई । बच्चों के इस आकर्षण को मैं भूल नहीं सकता । वे रोते हैं और समझ जाए तो तुरन्त चुप भी हो जाते हैं ।

घर पहुँचने पर भी डॉक्टरों से पीछा नहीं छूटा । कालोनी में डॉ. जोगी थे । उनकी बुलाकर जॉघ की जखम दिखलाना चाहा । उन्होंने जखम खोलकर देखी तो घबरा गया । पुनः जैसे ही बन्द कर दिया । कहने लगा — 'जखम तीन इंच लम्बी है और डेढ़ इंच गहरी है । इसे सर्जन को ही दिखलाना चाहिए । डॉ. बोरगांवकर सर्जन सडक के पार, औरंगाबाद होटल से लगी गली में थे । निकट ही थे । किन्तु मैं पैदल जाने की स्थिति में नहीं था । उनके पास वाहन से पहुँचे । डॉक्टर ने ड्रेसिंग की ओर दो दिन के बाद पुनः दिखलाने कहा । मैं लौट आया । फिर शूगर के डॉक्टर इडूरकर को बुलवाया । उन्होंने शूगर की जाँच की और इंसूलिन लेने कहा । इंसूलिन लिए बिना जखम जट्टी ठीक नहीं होगी । डॉक्टर ने इंसूलिन दिया । बाद में उसने अनिल को समझा दिया कि कितना इंसूलिन कब-कब देना है ? अनिल तदनुसार इंसूलिन देता रहा । वह इंजेक्शन देना सीख गया । यह क्रम दो-दो महीने तक चला । दूसरे दिन, कभी तीसरे दिन सर्जन के पास पहुँचता । वह जखम की ड्रेसिंग करता और कहता — 'जखम स्वस्थ है । ठीक हो रहे हो ।' यों बाद में वह एक सप्ताह का अन्तराल देने लगा । बाद में जखम ठीक हो गई । उपचार जारी थे । एक बार पूना जाकर डॉक्टर चटर्जी को दिखलाना आवश्यक था । मैं ठीक एक महीने के बाद तो पूना नहीं जा सका । यहीं पर डॉ. रोपलेकर, डॉ. बोरगांवकर के सम्पर्क में रहा । प्रगति होती रही । इसी बीच, लौट आने के एक सप्ताह के भीतर ही उदयपुर से ब्यायर्जी श्री रोशनलालजी आए । सुनिल को साथ लेकर लातूर जाना चाहते थे । मैं पत्नी से पूछा — 'क्यों क्या बात है ।' तब उसने बतलाया कि तेजमल की लडकी का निधन ठीक दशहरे की रात्रि में हुआ है । समाचार पूना में ही मिल गया था । चूँकि आप बीमार थे । ऑपरेशन से उठकर आए हुए थे । इसीलिए वे उदयपुर से सीधे हवाई जहाज से आए । सुनिल के साथ लातूर जाकर आनेवाले हैं ।

अनिल ने नम्मू को कुन्ने काटने का इंजेक्शन दिलवाया । वह ठीक हो गई । इसी बीच दिल्ली से राजकमल प्रकाशन के श्री अशोक महेश्वरी आए । स्टेशन

से फोन किया निदेशानुसार घर पर पहुंचे । मिले । बात हुई । मैं लेटा हुआ ही था ।

यो स्थानीय लोग, विभाग के सदस्य मिलने आते थे । जल्द ठीक होने तक इस्लामि जारी था । बाद में डॉक्टर डूरकर ने गोलियों दी । शूगर की गोलियों लेने लग । जनवरी में यूनिवर्सिटी जाने लगा था । ४ फरवरी तक काम करना था । उसी दिन सेवा निवृत्त होना था । बम से चला जाता और बम में ही लौटता था ।

बीमारी में उठा तो नम्मू का विवाह सिर पर था । ब्यायजी के फोन की धटी खनखनाते गहती थीं । काम तो सब लडके (मुनिल-अनिल) करते रहते थे । किन्तु बात मुझे करनी पड़ती थी । मेरे यहाँ पहुँचने पर बापजी स्वयं मुझे देखने के लिए घर चले आए । यों मुनिल गणेश नगर गया और बापजी को लेकर आया । वे एकांतरा (एक दिन उपवास — एक दिन पारणा — फिर वही क्रम) करते थे । मेरी बड़ी बहन बयामबाई भी, आज भी अस्सी वर्ष से कुछ ऊपर ही होने पर एकांतरा नियमित करती है । बीच-बीच में बेला-तेला भी कर लेती है । बापजी भी तपस्वी हैं । उनको सिद्धियाँ प्राप्त हैं । उनकी अपनी साधना पद्धति है । रास्ते में भी उनके माला जपने का ममय हो जाए तो रास्ते में ही कहीं बैठकर माला जप लेते हैं । जिस दिन वह घर पर मुँह देखने आए । परिवार के लोग, सब प्रसन्न थे । घर पर ही उन्होंने दीवान पर बैठकर (गद्दी-तकिए सब हटा दिए गए थे) उन्होंने माला का जाप किया । मगलीक दी । बाद में चले गए । उनको पहुँचाने के लिए मुनिल और अनिल दोनों गये थे । पुस्तक की डेढ़ हजार प्रतियाँ उस ममय तक गणेश नगर पहुँचा दी गई थी । श्री अशोक महेश्वरी ने ही छापी थी ।

नम्मू के विवाह कि तिथि का निर्णय बापजी से पूछकर किया गया । उन्होंने सात फरवरी १९९३ ई. की तिथि दी । तदनुसार उसी तिथि को टकमाली में विवाह हुआ । बरात बम्बई से आई । उस विवाह में मेरे गुरु डॉ. विजयपालसिंह, वाराणसी से और हैदराबाद से मेरे सहपाठी मित्र और अध्यापक डॉ. भीमसेनजी निर्मल भी आए थे । वस्तुतः विवाह का सारा काम मुनिल-अनिल ने, दोनों भाइयों ने मिलकर किया है । तेजमल भी आ गया था । लातूर से प्रायः सभी सदस्य आए थे । परिवार के और लोग भी आए । सब के नाम कहाँ लिखूँ ? मैं तो चाहकर भी सबसे मिलकर बात नहीं कर सका हूँ । विभाग से सदस्य और मित्रगण उपस्थित

थे । ब्यायर्जी की योजना से सब काम हुआ । मैं तो डॉक्टर साहब और डॉ भीमसेनजी निर्मल के माथ में था । डॉक्टर साहब वाराणसी आने के पूर्व आए और वाराणसी की विदाई तक उपस्थित रहे । बाद में चले रहे । भीमसेनजी निर्मल भी यथासमय चले गए ।

दो मैं चार फरवरी १९९३ को सेवा निवृत्त हुआ और मात फरवरी १९९३ ई. को नम्मू का विवाह सम्पन्न हुआ । मुझे छुट्टी लेनी ही नहीं थी । अवकाश ही अवकाश था । १९८९ ई से १९९३ ई के ये चार वर्ष बीमारी में और कार्य की व्यस्तता में बीते । पारिवारिक सदस्यों के बीच अधिक गुजरे । यात्राएँ प्रायः नहीं हुई । जो हुई वे नम्मू के खर्च की खोज हेतु हुई और बीमारी के कारण हुई । मुझे इतने लोगों का स्नेह मिला कि उन्हें स्मरण करना कठिन है । उस स्नेह के कारण आज भी जी रहा हूँ । ऑपरेशन को ग्यारह वर्ष हो गए । बारहवों वर्ष चल रहा है । यह मेरा अतिरिक्त जीवन है । इसे ब्रोन्स लाइफ भी कह सकता हूँ । वरदान के रूप में मुझे स्नेहीजन मिले हैं, जिन्होंने मुझे नया जीवन दिया है ।

□ □

बृहत् शोध परियोजना (सोलहवीं शती का भारतीय साहित्य)

सेवानिवृत्त होने के बाद मे मैंने नियमानुसार बी ए मराठवाडा विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को 'बृहत् शोध परियोजना' भेजी। वह वापिस लौट आई क्योंकि जिस प्रोफार्मे पर वह परियोजना भेजी गई, वह प्रोफार्मा बदल गया था। नया प्रोफार्मा UGC ने भिजवाया। उस पर पुनः आवेदन पत्र भिजवाया। वह स्वीकृत हुई। परियोजना स्वीकृत होने की तिथि ३१-५-१९९४ ई. है। उस समय से ३०-५-१९९७ ई तक कार्य पूरा करना था। तीन वर्ष के लिए ही परियोजना स्वीकृत थी। किन्तु कार्य उक्त अवधि में पूरा नहीं हो सका। पुन दो वर्ष कार्य पूरा करने के लिए मिले। मैंने १९९९ ई. में काम पूरा कर दिया। तब पुस्तकें लिखी —

१) भारतीय साहित्य सोलहवीं शताब्दी (सम्पादित)

२) कृष्णदेवराय (सोलहवीं शताब्दी के सम्राट)

३) अकबर (सांस्कृतिक एवं साहित्यिक चिंतन)

ये पुस्तके मैंने विभाग के माध्यम से यूजीसी को भिजवाईं। १९ जून १९९९ ई. को पुस्तके प्रस्तुत कीं। उस समय विभाग के पदेन अध्यक्ष डॉ. नरदकशोर शर्मा थे। उन्हीं के हस्ताक्षर से पुस्तके यथासमय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भेज दी गईं। विश्वविद्यालय की ओर से भी मुझे २५ जून १९९९ ई. का पत्र मिला कि पुस्तके UGC को भेज दी गई है।

□ □

शोध परियोजना का स्वरूप

परियोजना स्वीकृत होने से एक वर्ष पूर्व ही मैंने कार्य आरम्भ कर दिया था। मैंने भारतीय साहित्य पर एक बृहत् निबन्ध लिखा था। दिल्ली गया तो उसे डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी को साहित्य अकादमी के कार्यालय में देकर आया था। चौधरीजी उस समय साहित्य अकादमी में सचिव थे। वे डॉक्टर नगेन्द्र के साथ औरंगाबाद आए थे। हैदराबाद में वे पहले दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की शाखा में हिन्दी के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। उन्होंने मेरा निबन्ध रख लिया। बाद में उसे उन्होंने 'समकालीन भारतीय साहित्य' के सम्पादक गिरधर राठी को दे दिया। उस समय तुरन्त में तो कुछ हुआ नहीं। १९९५ ई. में दिल्ली गया, उस समय राठीजी से मिलना नहीं हुआ था। इतनी बात सच है कि, कि राठीजी ने मेरा लेख गभीरतापूर्वक पढ़ा और विस्तृत पत्र लिखा। मैंने उत्तर दिया। पुनः उनका उत्तर मिला। वह मेरा पत्र व्यवहार मैंने अपने ग्रंथ में (सम्पादित) दिया है। मैं स्वयं भारतीय साहित्य की पहचान के प्रयत्न में था।

भारतीय साहित्य के रूप में केवल संस्कृत साहित्य को विदेशी विद्वानों ने मान्यता दी। भारतीय भाषाओं एवं भारतीय साहित्य को — अन्य आधुनिक भाषाओं के साहित्य को — मान्यता प्राप्त नहीं थी। भारतीय भाषाओं के ब्रिटिश काल में अपनी भाषाएँ और उनके साहित्य को मान्यता प्राप्त करवाने के लिए बहुत जूझना पड़ा है। उसकी लम्बी कहानी है। इसमें उपनिवेशवादी चिन्तन भी है। स्वतंत्र भारत का स्वरूप हर्षवर्द्धन के काल तक का ही प्रायः समझा जाता रहा है। उस समय तक संस्कृत भाषा में जो वाङ्मय लिखा गया है, उसी वाङ्मय की पहचान भारतीय वाङ्मय के रूप में हो रही है। आचार्य शुक्ल स्वयं हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं —

“इस काल खड के बीच हिन्दी लेखकों की तारीफ मे प्राय यही कहा सुना जाता रहा कि वे सस्कृत बहुत अच्छी जानते है, वे अरवी-फारसी के पूरे विद्वान है, वे अँग्रेजी के अच्छे पण्डित है। यह कहन की आवश्यकता नही थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते है।”

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल,
नवा संस्करण, पृ ६८८)

हिन्दी भी जाननेवाले है, इस ओर ध्यान ही नही था। वस्तुतः इस स्थिति मे भारत के स्वतंत्र होने के बाद प्रयत्न हुआ है। भारत की प्राय सभी आधुनिक भाषाओ की स्थिति लगभग यही रही है। भारतीय भाषाओ की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तो भारतीय साहित्य की प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। भारतीय साहित्य मात्र भारत की किसी एक भाषा का साहित्य नही है। इसमे भारत की सभी आधुनिक भाषाओ का समाहार है।

मेरा काम आधुनिक काल का नही है। वह सोलहवीं शताब्दी का है। इससे पहले मैने सत्रहवीं एव अठारहवीं शताब्दी के वीरकाव्यो पर काम किया। सोलहवीं शताब्दी मे और भी पीछे जाना था। मैने सोलहवीं शताब्दी के इतिहास की पुस्तके एकत्रित की। उनमें भी मैने अपना ध्यान अकबर और कृष्णदेवराय पर ध्यान केन्द्रित किया। अकबर का जितना नाम है, उतना कृष्णदेवराय का नही है। कृष्णदेवराय विजयनगर के सम्राट हैं। वे सोलहवीं शताब्दी में भारत के एकमात्र सम्राट थे। उस समय बाबर नया नया आया था। हुमायूँ के समय मे कृष्णदेवराय का निधन हुआ। बाद में अकबर प्रतिष्ठित हुआ। दक्षिण भारत का इतिहास उस रूप में नही लिखा गया, जिस रूप मे मुगलवश का इतिहास लिखा गया है। विदेश से आनेवालो मे पोर्तुगीज पहले आए है। पोर्तुगीजो के आगमन के समय मे विजयनगर मे राजा थे। मुगल बादशाह गोलकोण्डा के आगे दक्षिण मे नही बढ़ सके। विजयनगर के राजाओं पर पोर्तुगीजो ने लिखा है। अँग्रेजी मे जो पुस्तक छपी है, उसका नाम है — 'A Forgotten Empire - by Robert Sevell। फरगटन इम्पायर का तात्पर्य ही यह है कि साम्राज्य के इतिहास को भूला दिया गया है और यह स्थिति आज भी है। हिन्दी मे आज भी विजयनगर के साम्राज्य पर एक भी पुस्तक नही है। मैने 'कृष्णदेवराय' पर इसीलिए परिचयात्मक पुस्तक 'संस्कृति और साहित्य' को केन्द्र मे रखकर लिखी है। इसी तरह अकबर पर भी स्वतंत्र

पुस्तक लिखी। इन पुस्तकों की कुछ सामग्री पत्रिकाओं में छपी है। पुस्तकें अप्रकाशित हैं। मैंने राजनीतिक इतिहास कम और सांस्कृतिक और साहित्यिक इतिहास अधिक लिखा है। यही मेरा विषय रहा है।

□ □

भारत दर्शन

हम यात्रा करते हैं। यात्रा के प्रयोजन अलग-अलग होते हैं। किसी स्थान से गुजरते हुए भी हम उस स्थान को देख नहीं पाते। प्रयोजन से ही व्यक्ति सम्पर्क करता है। उहर कर देखता है। मैंने यात्राएँ बहुत की और अकेले अधिक की किन्तु प्रयोजन के प्रति ध्यान रहने के कारण देkhना-जानना चाहकर भी नहीं देखा। भारत की विभिन्न भाषाओं और उनके साहित्य की ओर ध्यान नहीं था। मैं चाहता तो तेलुगु और तमिल भीख सकता था किन्तु अपने ही कारणों से तिरुपति में लगभग एक दशक रहकर भी तेलुगु तथा तमिल ठीक से भीख नहीं सका। मैं जिस स्ट्रीट में रहता था — वह नाथमुनि स्ट्रीट तमिल भाषियों की थी। प्रायः सभी आच्यार लोग मेरे पड़ोसी थे। चाहता और प्रयत्न करना तो तमिल बोलना सीख सकता था। हाँ, तेलुगु सीख गया। तिरुपति की सामान्य भाषा तेलुगु है। तमिल भाषी भी तेलुगु का व्यवहार करता है। हिन्दी को वहाँ — 'तुरक माटला' 'तुर्कों की भाषा' कहा जाता है। वहाँ के मुस्लिम तेलुगु तथा तमिल का व्यवहार करते हैं। मेरी पत्नी तो तेलुगु का व्यवहार कर लेती है। वह आज भी तेलुगु का व्यवहार कर सकती है। मैं अपनी पत्नी के सदृश भी तेलुगु नहीं सीख पाया। तिरुपति में मैंने अँग्रेजी की पुस्तकें अधिक पढ़ीं। अँग्रेजी का जो भय था, वह दूर हो गया। दूसरे, मैंने संस्कृत भाषा — अध्यापक रखकर सीखी। मराठी तो आती ही थी। हिन्दी पढ़ता-पढ़ाता था। उर्दू कचपन में ही निजाम के शासनकाल में मैट्रिक तक पढ़ी थी। उर्दू माध्यम से ही मैट्रिक उत्तीर्ण हुआ। मैं — उर्दू, हिन्दी, मराठी, अँग्रेजी, संस्कृत तथा तेलुगु भाषाएँ जानता हूँ। तेलुगु भाषा समझ लेता हूँ और व्यावहारिक रूप में बाजार में बोल लेता हूँ। विद्वानों के बीच बैठकर तेलुगु का व्यवहार नहीं कर सकता। तिरुपति में, मैं 'Hindu' हिन्दू समाचार पत्र निश्चित पढ़ता था। वह वहाँ सबेरे-सबेरे घर पर मिल जाता था। जो कुछ मैंने उन वर्षों में जाना है, पढ़ा है, उससे दक्षिण भारत का स्वरूप समझने में सहायता मिली। तिरुपति — रायलसीमा का सब से बड़ा नगर है और तीर्थ स्थान है।

श्री बकटेश्वर वहाँ विराजमान है। शिक्षा सस्थाएँ भी वहाँ पर है। वहाँ Music College है। संस्कृत भाषा का Oriental College है। दर्शन और शास्त्र पढ़ाए जाते हैं। वहाँ की संस्थाओं में संस्कृत माध्यम है। संस्कृत का केन्द्रीय विद्यापीठ अलग है। विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग अलग है। कला और संगीत के आयोजन समय-समय पर होते रहते हैं। उनमें गया हूँ। भाषाओं को श्रवण किया है। भाषा-ज्ञान के अभाव में दर्शक और श्रोता अधिक रहा हूँ। सुब्बू रेडियार, (तमिल विभाग के अध्यक्ष) मेरे अच्छे मित्र रहे हैं। उनके घर पर और विभाग में मिलना होता रहा है। हमारे सवाद की भाषा अँग्रेजी रहती। मैं तमिल बोल सकता था मैं वे हिन्दी बोल सकते थे। मैंने अनुभव किया कि अँग्रेजी बोलने से व्यावहारिक सम्बन्ध तो स्थापित हो जाता है किन्तु वह सम्बन्ध नहीं हो सकता जो भाषाओं को जानने के बाद हो सकता है। भाषा-ज्ञान के लिए पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा लोक-सम्पर्क अधिक आवश्यक है। 'भाषा' सुनना ठीक रहता है। इस नाते मैंने धीरे धीरे भारत की भाषाओं और उनसे सम्बन्धित साहित्य की ओर ध्यान दिया। यों मैं भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में गया हूँ किन्तु केवल हिन्दी विभागों में गया हूँ। अन्य भाषाओं के विभागों में नहीं गया। इसीलिए इस दृष्टि से पुन यात्रा करना आवश्यक समझा और यात्राएँ कीं। १९९४ ई. में योजना स्वीकृत हुई और बाद में १९९५ ई. से यात्राओं के क्रम का आरम्भ हुआ। ये यात्राएँ १९९९ ई. तक — परियोजना की पुस्तकें प्रस्तुत करने तक चलती रही हैं।

१९८९ ई. में पहली बार हार्ट अटैक हुआ। तब से मैंने अकेले यात्रा बन्द कर दी। कहीं भी जाता तो पत्नी साथ में रहती थीं। उसकी सुख-सुविधा तथा अपने प्रयोजन के अनुसार यात्राएँ की हैं। मेरी यात्राएँ एक प्रकार से पारिवारिक स्वरूप की रही हैं। पारिवारिक स्वरूप का ध्यान रखते हुए डाक्टर के नियमों का पालन करते हुए यात्राएँ हुई हैं। जहाँ की यात्रा मैंने पहले अकेले में की है, वहाँ पर पुन गया हूँ। प्रयोजन बदल गया है। दो बातों की ओर विशेष ध्यान दिया। प्रदेश घूम कर देखना। पर्यटक बनकर घूमना। महत्त्वपूर्ण स्थल देखना। विश्वविद्यालयों के भाषाओं के विभाग में जाकर विद्वानों से — प्रोफेसरो से सम्पर्क करना। विश्वविद्यालयों के प्रकाशन विभागों को देखकर अपने विषय की पुस्तकें खरीदना...आदि आदि।

□ □

उदयपुर (१ मई १९९५ ई. से २१ मई १९९५ ई.)

बीमारी के बाद मेरी यह पहली लम्बी यात्रा है। इस यात्रा में पत्नी तो साथ में थी ही। दिशा का पाँचवाँ वर्ष चल रहा था और दिव्या दूसरे वर्ष में थी। लम्बी यात्रा — इसीलिए कि मीटर गेज ट्रेन थी। औरंगाबाद से पूरना और पूरना से फिर चित्तौड़ गढ़ तक मीनाधी एक्सप्रेस से जाना था। आरक्षण जाने-आने का सबका हो गया था। उदयपुर में पहली बार नमिता के घर पर ठहरा। मेरा तो उदयपुर देखा हुआ था। विद्वान मित्रों से मिलना था। किसी को साथ लेकर मैं अपना काम करता रहा। परिवार के लोग घूम फिर कर देख रहे थे। उदयपुर मैंने पहले ही पैदल घूम फिर कर देखा है। आस-पास के प्रदेश देखने का अवसर नहीं मिला। वह अब मिला। नमिता के परिवार में दो विशंग्र कार्यक्रम थे। एक तो उसके पुत्र का (चिराग का) झड़ला (प्रथम बार बाल काटना) था और दूसरा कैवर साहब की दादी जो खमनौर में रहती थी, उसने पौत्र के मुख का दर्शन कर लिया — पड़पोता देख लिया इसीलिए उसे 'मोने की सीढी' को स्पर्श करना था। इस कार्यक्रम में हम सब लोग पहले नाकोडाजी गए। झड़ले का कार्यक्रम नाकोडाजी में था। तदर्थ ब्यायजी ने विशेष बम की व्यवस्था की थी। उदयपुर से नाकोडाजी एक रात की यात्रा थी। नाकोडा जोधपुर के निकट है। जैसलमेर भी वहाँ से निकट ही है। बोसंडा भी निकट है। राजस्थान का रेगिस्तान नाकोडाजी के आसपास है। दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की यात्रा थी, वह। अरावली की घाटियों में से हमारी बस गई। उदयपुर, गुजरात से निकट है। आबू पर्वत अरावली का पर्यटन स्थल है। मैं नहीं गया। किन्तु अरावली की घाटियों से गुजर कर रेगिस्तान में प्रवेश किया है। नाकोडाजी में मन्दिर के आसपास धर्मशालाएँ बनी हुई हैं। दूर-दूर से यात्री आते हैं। वहाँ ठहरते हैं। पूजा करते हैं। दान देते हैं। मन्दिर की ओर से सब को भोजन दिनचर्या के क्रम में दिया जाता है। हमारा भोजन वहीं पर हुआ। चिराग — का झड़ले का कार्यक्रम हुआ। उसीके लिए इतनी लम्बी यात्रा हुई थी। कैवर साहब भी अपने नियम से अवसर निकाल कर नाकोडाजी जाते-आते रहते हैं। परिवार के लोगों की श्रद्धा है। जम्मू भी कैवर साहब के साथ जाते रहती है। नाकोडाजी में रेगिस्तान की गर्मी है। पैदल चलना, धूप में से गुजरना तकलीफदायक है। मन्दिर में जूते पहन कर जा नहीं सकते। पैदल चलकर मन्दिर में पहुँचने के लिए, धूप के चटखों से बचने के लिए पाँवों को बिछाए हुए है। वे पाँवों भी गरम हो जाते हैं। चटखे तो बैठते

ही है मन्दिर का परिसर सुन्दर है मन्दिर में भाड रहती है । ममय-समय पर पूजा होती है । घूम-फिर कर क्षेत्र को देखना चाहते तो देख नहीं सकते । चटखनेवाली गरमी में बाहर निकलना, जैसे ही मुश्किल है । वहाँ में निकट बोरुंदा में मेरी फूफेरी बहम रहती है । वह तो नहीं रही किन्तु उसके लडके रहते हैं । अनिल और सतीश बोरुंदा जाकर आए । गरमी में गए और आए । रेगिस्तान के गाँव की कल्पना नाकोडजी में रहकर की । मन्दिर का क्षेत्र तो ठीक है । आधुनिक सुविधाएँ हैं किन्तु मन्दिर के क्षेत्र से बाहर तो पूरा रेगिस्तान है ।

नाकोडाजी से लौटने समय दिन की यात्रा थी । इसीलिए बस में बैठे-बैठे सब कुछ देखने मिला । यात्रा लम्बी ही थी । रास्ते में कई मन्दिर और पर्यटका के लिए रमणीय स्थल हैं । मन्दिरों में ठहरते हुए और देखते हुए ही हम लौट आए हैं । अरावली की घाटियों के क्षेत्र में पहुँचते ही रेगिस्तान की गरमी से कुछ राहत मिली । ब्यायजी ने खाने-पीने की व्यवस्था सब जगह की थी । उनका हुकूम शब्द अवसर मिलते ही सुनने मिलता । हुकूम करो — का नात्पर्य, फरमाओ, आदेश करो सदृश है । एकदम आदेश (Order) नहीं है । शासकीय आदेश नहीं. अपितु स्नेह का आदेश है । उदयपुर के निकट पहुँचते-पहुँचते हमारी बस चौरास्ते पर रुक गई । सीधे जाओ तो उदयपुर है । दाहिनी और गाँव हैं । यह वहाँ गाँव है, जहाँ महाराणा प्रताप रहे हैं । उनका राज्याभिषेक वही पर हुआ है । बाई ओर जाओ तो हल्दीघाटी है । सामने उदयपुर है । बस से नीचे हम उतरे ही नहीं । वहाँ पर बेसन से बना विशेष पदार्थ नमकीन है । (नाम भूल रहा हूँ) गरम-गरम मिल रहे थे । सब को भूख लगी थी । लोगों ने खूब खाए । वहाँ से हम उदयपुर में पचवटी कालोनी में पहुँच गए । चेतक सर्कल से लगी हुई कालोनी है । बगले ही बगले है । उन्हीं में व्यायजी का निजी बगला है ।

दूसरे दिन परिवार के सदस्यों के साथ 'खमनौर' गए । नाकोडाजी की यात्रा में तेजमल का लड़का सतीश आया था और उसकी बहू भी आई थी । नाकोडाजी से अनिल के साथ में सतीश भी बोरुंदा जाकर आया था । खमनौर की यात्रा में भी हम सब साथ में थे ।

खमनौर से आगे रास्ता नाथद्वारा जाता है । नाथद्वारा से आगे कांकौरली है । कांकौरली रेलवे स्टेशन है । वहाँ पर जोधपुर जानेवाली ट्रेन ठहरती है । खमनौर छोटा सा गाँव होने पर भी वहाँ के मकान अच्छे हैं । दुमजले मकान वहाँ पर

है। बाजार है। मकानों की बनावट पुराने ढंग की है। जिस मकान में कँवर माहब की दादी रहती थी। उस मकान को ब्यायजी ने ठीक करवाया था। पत्थर की सीढियाँ ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए बनी थी। दो सीढियों की एक सीढी थी। चढ़ना मुश्किल था किन्तु मैंने देखा कि कँवर साहब की दादी कमर में घड़ा भर पानी लेकर सहज में सीढियाँ चढ़ जाती थी। दाल-बाटी की रसोई थी, चूमे के लड्डू थे। जीमने के लिए ऊपर जाना पड़ा। हम लोग पास के दूसरे मकान में ठहरे हुए थे।

ब्यायजी को सोने की सीढी का कार्यक्रम करना था। अपनी माँ को लेकर ब्यायजी पुन उदयपुर लौटे। हम सब भी लौट आए। उदयपुर लौट आते समय हल्दी घाटी से गुजरना पड़ा। सड़क घाटी में से थी। दोनों ओर पहाड़ी थी। मुझे इतिहास याद आ गया। यो मार्ग में हमने चेतक का स्थान देखा। सड़क की दूसरी ओर प्रदर्शनी थी। महाराणा प्रताप का स्मृति-स्थल था। घूम-फिर कर चित्र आदि देखे। पर्यटकों के लिए आवश्यक जानकारी उपलब्ध थी। महाराणा प्रताप पर छपी हुई पुस्तकें भी थी। मैंने एक छोटी पुस्तक खरीदी। हम लोग उदयपुर आ गये।

सोने की सीढी का कार्यक्रम आयोजित था। उस ओर का दायित्व पत्नी सभाल रही थी। अनिल और मनीश दोनों भाग-दौड़ करनेवाले थे। मैं तो साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ गया। वहाँ पर पहले डॉ. देवीलाल पालीवाल निदेशक थे। उस समय डॉ. देव कोठारी निदेशक थे। वे मद्रास गए थे। दूसरे, जो वहाँ उपस्थित थे, उनसे मिला। डॉ. पालीवालजी का पता पूछा। मिल गया। उस समय डॉ. भोलाशंकर व्यास मिल गए। उनके साथ बात हुई। वाराणसी में हिन्दी के प्रोफेसर थे। सेवानिवृत्त थे। उन्होंने प्राकृत-पैंगलम का सम्पादन दो भागों में किया। उनकी और भी पुस्तकें हैं। इस भेट के बाद में वे वाराणसी में भी लका की सड़क पर मिले। मुझे उन्होंने उस समय रोका। हम दोनों थे। काफी पिलाई। बाद में घर का पता दिया। सकटमोचन के निकट उनका बगला है। मैंने उन्हें डॉक्टर साहब के साथ BHU के कैम्पस में घूमते हुए भी देखा है। मभवत वे उस समय किसी कार्य से उदयपुर आए हों। मिलना हो गया उसी समय मैं डॉ. देवीलाल पालीवाल से मिलने गया। सरदारपुग में उनका मकान मिला। आयु में वे मुझ से बड़े हैं। उन्होंने इतिहास पर और विशेष रूप से मेवाड़ के इतिहास पर काफी पुस्तकें लिखीं। डिगल भाषा में महाराणा प्रताप पर कवियों ने जो काव्य

लिखे है या फुटकल रचनाएँ लिखी है, उनका सकल उनहोंने किया है। पुस्तक का नाम है — 'डिंगल में वीरस'। उन्होने और भी कई पुस्तकें लिखी है। सगतरासो का सपादन उन्होने किया है। मैं उनकी पुस्तके पढी है। वे उस समय भी काम कर रहे थे। शक्तिसिंह पर स्वतंत्र पुस्तक भी लिखी जो बाद मे उन्होने भेजी। मैं अपनी शोध-परियोजना मे उनका आलेख डिंगल (भाषा से सम्बन्धित आलेख) सम्मिलित किया है। डिंगल काव्य के गिने-चुने विद्वानों मे से वे है। उन्हें मैं आयोजित कार्यक्रम मे निमंत्रित किया। वे आए। उनके साथ ऐतिहासिक विषयो पर चर्चा हुई।

उदयपुर में मैं डॉ. ब्रजमोहन जावलिया मे भी मिलने गया। राजमहल के निकट आर्यसमाज की गली है। उसी मे देलबाडा हाउस मे वे रहते है। सेवानिवृत्त हो गए थे। नरोत्तम स्वामीजी के शिष्य है। राजस्थान के कृपकों के औजारों की शब्दावली का कोष उन्होने सचित्र तैयार किया है। ग्रामीण व्यवहार की भाषा से वे खूब परिचित हैं। उनका प्रबन्ध विशाल है। किसी प्रकाशक ने नही छपा। अंततः वह साहित्य अकादमी, दिल्ली से छपा है। विलम्ब से छपा किन्तु अच्छी जगह से छपा। जावलियाजी ने सृजनात्मक रचनाएँ भी राजस्थानी मे लिखी है। राजस्थान का पोथीखाना उनकी देखभाल मे था। बाद में जयपुर के राजमहल के पुस्तकालय मे काम करते रहे। वे अपने अनुभव सुनाते रहे। उनके पत्र अब भी मिलते रहते है।

उदयपुर विश्वविद्यालय के आलमशाह खान से मिलना नही हुआ। डॉ. रामगोपाल शर्मा, दिनेश और डॉ. नवलकिशोर से मिलना हुआ। डॉ. नवलकिशोर हिरण मगरी मे रहते है।

सोने की सीढी का कार्यक्रम हुआ। ब्यायजी का सारा परिवार एकत्रित था। सतीश और अनिल परिवार तथा बच्चों को लेकर उदयपुर धूम-फिर कर देख रहे थे। केशरियाजी जाने का निर्णय हुआ। परिवार के सदस्यों के साथ केशरियाजी जाकर आया। बचपन में फूफाजी के साथ केशरियाजी गया था। स्मृति धुंधली हो गई थी। पुनः देखा तो सब याद आ गया। लौटने का आरक्षण चित्तौड़ से मीनाक्षी एक्सप्रेस मे था। उदयपुर से चित्तौड़ बस द्वारा गये। ब्यायजी बस में बैठाने आए थे। यथासमय हमें ट्रेन मिल गई। २१ मई १९९५ ई. को हम लोग औरंगाबाद पहुँच गये।

□ □

हैदराबाद-बैंगलौर-मैसूर की यात्रा

(६ सितम्बर १९९५ से २१ सितम्बर १९९५ ई.)

इस यात्रा का प्रयोजन 'कृष्णदेवगय' पुस्तक के लिए सामग्री एकत्रित करना था। दूसरा प्रयोजन दक्षिण भारत के इतिहास की — विशेष रूप से सोलहवीं शताब्दी के इतिहास की — पुस्तकों की खोज करना था। विद्वानों से मिलना था। पहले हम लोग सिकंदराबाद गये। ८ सितम्बर १९९५ ई. को सबेरे-सबेरे डॉ. वैजनाथ चतुर्वेदीजी से मिला। बंगला भाषा और साहित्य पर उनसे बात हुई। कलकत्ता के कई अनुभव और चुटकुले उन्होंने सुनाए। बाद में 'बंगला साहित्य का इतिहास' — पुस्तक उन्होंने मुझे दी। कहा — 'ले जाओ, पढ़कर लौटा देना।' मैं पुस्तक ले आया। कल्याणी दासगुप्ता की वह पुस्तक थी। इलाहाबाद के प्रकाशक ने उसे छापी थी। मैंने तुरन्त उस पुस्तक का आदेश भेज दिया। यथासमय वह पुस्तक औरंगाबाद में वी.पी.पी. से आ गई। मैंने चतुर्वेदीजी की पुस्तक रजिस्टर्ड डाक से भेज दी। उन्होंने एक दो पुस्तकों के नाम और बतलाए। वे मुझे नहीं मिली।

हैदराबाद में डॉ. भीमसेनजी निर्मल से मिलने गया। उनसे मैंने तेलुगु भाषा और साहित्य पर चर्चा की। उस साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकें तेलुगु में थी। बाद में उन्होंने तेलुगु में ही सोलहवीं शताब्दी के तेलुगु साहित्य में सम्बन्धित कुछ पुस्तकें भेज दीं। बैंगलौर तथा मैसूर विश्वविद्यालयों के विद्वानों के नाम और पते दिए। उन्होंने मुझ से अधिक दक्षिण भारत की यात्राएँ की हैं और वे दक्षिण भारत की भाषाओं से परिचित भी हैं। हैदराबाद में ही डॉ. चक्रवर्ती और श्री मुनीन्द्रजी से भी मिलने गया। दो दिन हैदराबाद में रहने के बाद १२ सितम्बर को सबेरे बैंगलौर पहुँच गया। बैंगलौर में मेरी फूफेरी बहन शोपाद्रिपुरम् में रहती है। उसके घर पर ही हम ठहरे। वह पत्नी को 'मासीजी' कहती है और मुझे भाई। सिकंदराबाद में मैं उनके घर में ही पड़ोसी की तरह रहता था। यो कहने के लिए अलग थें। पत्नी तो अपनी बहन (मेरी भूवा) के पास ही रहती। बैंगलौर में मैं इसीलिए निश्चिन्त था। मैं अकेले ही घूम कर अपना काम करता था। पत्नी को साथ में ले जाने की आवश्यकता नहीं थी। बैंगलौर में डॉ. नागप्पा से मिलने गया। उनका पता में गुरु डॉ. रामनिरञ्जन पाण्डेय ने मुझे दिया था। डॉ. नागप्पाजी ८/१०, बुल टेम्पल रोड, शंकरपुरम्, बैंगलौर-४ में रहते थे। वे उस समय ८३ वर्ष के थे। उनके घर का सामने का प्राणण बहुत बड़ा था। बंगला ही था, वह। धर्माचद (सुशीला का — बहन का लडका) मुझे छाड़ने आया था। मैं बैठा रहा।

मैंने अपने विषय की बात की वे उस विषय के ज्ञाता थे। उन्होंने कुछ विद्वानों के नाम और पते दिए। उनकी पुस्तकों के नाम दिये। धारवाड़ विश्वविद्यालय के मेवाविवृत इतिहास विभाग के प्रोफेसर एच. अर्घ्यक्ष डॉ. जी. एस. दीक्षित, उस समय मल्लेश्वरम् में रहते थे। उनका पता दिया। मैं सुशीला के टाडके को लेकर मल्लेश्वरम् गया। ऊपर की मजिल पर गया। मिला। बात की। बातचीत का माध्यम अंग्रेजी ही था। वे काफी वृद्ध हो गए थे। किन्तु आगमकुर्सी पर बैठकर काम कर रहे थे। कुर्सी पर उन्होंने बोर्ड रख लिया था। लिखा जा सकता था। उनको काम करते हुए देखकर ही लौट आया। उन्होंने मुझे Mythical Society Library का पता दिया और कहा — राजगोखर से मिलो। नृपतुंग रोड पर वह पुस्तकालय है। मैं नृपतुंग रोड पर उस पुस्तकालय में गया। वस्तुतः नृपतुंग का नाम अमोघवर्ष (प्रथम) था। वह राष्ट्रकूट नरेश गोविंद तृतीय का पुत्र था। राष्ट्रकूट नरेशों में अमोघवर्ष का शासन काल (८१५ ई. से ८७८ ई. तक) लगभग ६३ वर्ष तक रहा है। इसी नरेश को नृपतुंग भी कहा गया है। उसी के नाम से बेंगलौर में 'नृपतुंग गेड' है। वह कन्नड भाषा प्रेमी नरेश था। 'कविराज मार्ग' — कन्नड भाषा का छंद अलंकार शास्त्रीय ग्रंथ उसी का रचा गया है। ऐसी मान्यता है। कुछ विद्वान उसके आश्रय में रहनेवाले किसी अन्य विद्वान का रचा हुआ बतलाते हैं। जो भी हो। इतनी बात सच है कि 'कविराज मार्ग' को कन्नड में वही मान्यता प्राप्त है जो तमिल में 'तोलकाप्पियम्' को प्राप्त है। वह कन्नड का आदिग्रंथ भी है। नौवीं शताब्दी में कन्नड भाषा में यह ग्रंथ रचा गया। राष्ट्रकूट-नरेशों में नृपतुंग का शासनकाल सबसे अधिक काल तक रहा है। नृपतुंग का नाम अमोघवर्ष (प्रथम) या किन्तु उसकी प्रशस्ति में जिन उपाधियों का उल्लेख होता है, वे हैं — 'नृपतुंग, शर्ववर्म, अतिशय-धवल, महाराज शण्ड, वीरनारायण, श्रीवल्लभ, वल्लभराय' आदि हैं। उसकी विरुदावली लम्बी है। सब से अधिक ख्याति 'नृपतुंग' नाम को मिली है। मिथिल सोसाइटी के ग्रंथालय से परिचित होने में, खोजकर पुस्तकें देखने में, मेरा वह दिन बीत गया। लौटते समय मैंने यह निर्णय किया कि यहाँ पर पुनः आऊँगा और अध्ययन करूँगा।

दूसरे दिन सबेरे मैसूर जाना था। मैसूर के मार्ग पर मडिया (जिला) है। वहाँ पर साध्वी शान्ति सुघाजी का चातुर्मास था। पत्नी उनका दर्शन करना चाहती थी। इसीलिए हम लोग सबेरे ट्रेन से पहले मडिया गये। धर्मचंद हमें पहुँचाने स्टेशन पर आया। नाश्ते के लिए गरम-गरम इडली और बोंड ले आया। हम

लोग यथासमय मडिया पहुँच गये । वहाँ पर जनार्दन स्वामी टेम्पल रोड पर जैन स्थानक था । साध्वी शांति सुधाजी हमें वहाँ देखकर बहुत प्रसन्न हुईं । उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि हम भी वहाँ पर पहुँच सकते हैं । पत्नी को मैंने वहाँ पर छोड़ दिया । अकेले ही मैसूर गया । मैसूर वहाँ से निकट ही था । मैसूर में सबसे पहले यूनिवर्सिटी गया । विभाग में डॉ. तिप्पेस्वामी मिल गये । उन्होंने मेरे व्याख्यान का आयोजन किया । एक व्याख्यान दिया । विभाग में और भी लोग थे । सब से परिचय हुआ । लौटते समय डॉ. एम. एम. कृष्णमूर्ति से मिलने उनके निवासस्थान पर गया । वे 16th मेन, ७१८, मरुस्वतीपुरम् में रहते थे । मरुस्वतीपुरम् यूनिवर्सिटी के निकट की कालोनी है । वे मिल गये । सेवानिवृत्त हो चुके थे । सिकदगबाद में उनका सम्मान हुआ था । जैन स्थानक में उन्हें 'आनन्द ऋषि पुरस्कार' प्रदान किया गया । हिन्दी में उन्होंने उपन्यास भी लिखा है । ऐतिहासिक उपन्यास है । कन्नड भाषा के साहित्य और भाषा का परिचय देनेवाली शोधपरक निबन्धों की पुस्तक समाराधन (१९८१ ई. में प्रकाशित) पुस्तक भी उन्होंने लिखी है । उसमें तीन शोध निबन्ध हैं — १) बसव और कबीर २) अपभ्रंश साहित्य की कर्नाटक को देन और ३) हिन्दी में द्राविड शब्द । इस पुस्तक की भूमिका डॉ. नागप्पाजी ने लिखी है । उस समय कृष्णमूर्तिजी से मिलकर ही मैं लौट आया । क्योंकि मुझे मडिया लौटना था । मडिया में रात गुजारी । दूसरे दिन साध्वी शांति सुधाजी से मंगलीक लेकर हम दोनों मैसूर गए । पहले एम. एम. कृष्णमूर्ति के पास गए । बाद में वे हमें विजयनगर साम्राज्य का इतिहास जानने हेतु डॉ. बी. आर. गोपाल (इतिहास के विद्वान) के घर ले गए । वे उसी कालोनी में 4th मेन, ३८ नम्बर के बंगले में रहते थे । हमारा परिचय करवाने के बाद डॉ. एम. एम. कृष्णमूर्ति चले गए । उस समय डॉ. बी. आर. गोपाल की बेटी वहाँ आई हुई थी । दामाद भी उपस्थित थे । उसमें वे कुछ देर व्यस्त रहे । उनके चले जाने के बाद मैं हम लोगों ने बात की । श्रीमती गोपाल ने हमारा स्वागत किया । मैं उनके अध्ययन का कक्ष देखना चाहता था । वे मुझ ऊपर के कक्ष में ले गए । पुस्तकें ही पुस्तकें थीं । टेबल कुर्सी लगी थी । कुछ काम चल रहा था । विशेष बात यह कि उन्होंने विजयनगर साम्राज्य का इतिहास लिखनेवाले लेखक एम. एम. शर्मा का परिचय दिया । उन्होंने बड़े परिश्रम से वह इतिहास लिखा है । उक्त लेखक से डॉ. बी. आर. गोपाल परिचित थे । पारिवारिक सम्बन्ध था । मैंने उक्त पुस्तक का नाम लिख लिया । औरंगाबाद आने के बाद मैंने उन पुस्तकों का आदेश भेजा ।

VPP स मुझे दोनो वाल्यूम मिल गए । पुस्तक का नाम है — History of the Vijayanagar Empire Part I & II - by M M Sharma । पुस्तके मुझे मुंबई से प्रकाशक ने भेजी । यों मै विजयनगर के राजाओ के इतिहास पर पुस्तके एकत्रित करता रहा ।

उसी दिन हम लोग मैसूर से बैंगलौर आ गए । बैंगलौर मे पुन कहीं नहीं गया । वो दिन तक बैठकर नृपतुंग रोड के पुस्तकालय मे काम करता रहा । जो सामग्री मिली, उन्हें नोट करता गया । उसके बाद सिकंदराबाद होता हुआ पुन औरंगाबाद लौट आया ।

□ □

अहमदाबाद (७-१०-१९९५ से १६-१०-१९९५)

रानीवाल मेरे पूर्वजो का गाँव है । वहाँ पर अन्त तक रहनेवालों मे नेमीचंदजी बोरा थे । वे रानीवाल में रहे किन्तु उनके तीनों लडके अहमदाबाद में आकर बस गये । उन तीनों लडकों मे धर्मीचंदजी बोरा सब से बडे थे । उनसे मेरी भेट चेन्नई मे १९९१ ई मे हुई थी । नम्मू के लिए लडके की खोज में चेन्नई गया था । बाद में धर्मीचंदजी बोरा औरंगाबाद भी आए । यो मेरा उस परिवार से परिचय हो गया था । मै चाहकर भी, और जोधपुर तक जाकर भी, रानीवाल नहीं जा सका और अब तो रानीवाल मे कोई नहीं था । मेरे अहमदाबाद पहुँचने से पूर्व ही नेमीचंदजी बोरा का निधन हो गया था । हम लोग जब अहमदाबाद पहुँचे तब उस बात को कुछ सम्राह ही बीते थे । तीनों भाइयो की माताजी वही पर थीं । वे मिलीं । उनके तीन पुत्रों में धर्मीचंदजी तथा गौतमचंदजी साथ-साथ रहते थे । मिट्टालालजी अलग रहते थे । माताजी धर्मीचंदजी के साथ रहती थी । अहमदाबाद पहुँचने के लिए पहले मुंबई गया । नम्मू के पास दिन भग था । अहमदाबाद की ट्रेन बाम्बे सेंट्रल से सायंकाल मे थी । कैंबरसाहब ने हमें ट्रेन में बैठा दिया । धर्मीचंदजी का फोन नम्बर था । सबेरे सबेरे पाँच बजे हम लोग अहमदाबाद स्टेशन पहुँच गये । अंधेरा था । घर का पता मालूम नहीं था । मैंने फोन किया । गौतमचंदजी ने घर का पता दिया और मार्गदर्शन किया । तदनुसार हम सिविल अस्पताल के पीछे के मार्ग पर पहुँच गए । शाही बाग उस क्षेत्र का नाम है । अलक नन्दा मदाकिनी सोसाइटी के गेट पर पहुँच गए । भीतर सब फ्लैट थे । F-61 में धर्मीचंदजी गौतमचंदजी दोनों भाई रहते थे । उस स्थान पर हमें कोई कठिनाई नहीं हुई । वही पर एक सप्ताह ठहर गये । पत्नी को साथ लेकर घूमने की आवश्यकता नहीं

थी। मैं अकेले नहीं विश्वविद्यालय गया। विभाग में गया। डॉ. रघुवीर चौधरी से मिला। वे उस समय हिन्दी विभाग के प्राफेसर एव अध्यक्ष थे। डॉ. रजना अग्गडे से मिला। वे हिन्दी विभाग में थीं। औरंगाबाद आकर गईं थीं। घर पर भी आई थीं। रजना अग्गडे ने शमशेरसिंह कवि पर पुस्तक दी। अशोक वाजपेयी द्वारा सम्पादित शमशेर जहादुरसिंह की चुनी हुई कविताओं पर वह पुस्तक थी। नाम था 'टूटी हुई विखरी हुई'। ११-१०-१९९५ को मैं विभाग में था। वह दिन विश्वविद्यालय में ही गया। मुझे डॉ. भोलाभाई पटेल को मिलना था। उनका पता लेकर लौटा। मैं उसी दिन वहाँ के प्राकृत विभाग में गया। उस विभाग में श्री के. आर. चन्द्र अध्यक्ष रहे हैं। उनसे तो मिलना नहीं हुआ किन्तु विभाग के और सदस्य रहे हैं। उनसे ज्ञात हुआ कि श्री एच. सी. भायाणी से मिलना चाहिए। उनके घर का पता लिख लिया। गुजरात विश्वविद्यालय के सामने एल. डी. इस्टीट्यूट ऑफ इंडोलोजी — अलग शोध संस्थान है। उसका पता प्राकृत विभागवालों ने दिया। पूछते-पूछते मैं उक्त शोध-संस्थान में गया। वहाँ पर श्री एच. सी. भायाणी नहीं मिले। वे घर पर ही मिलेंगे, ऐसा मालूम हुआ। मैंने शोध-संस्थान के प्रकाशन विभाग से प्राकृत भाषा सम्बन्धी पुस्तकें खरीदीं। अपभ्रंश की रचनाएँ खरीदीं। प्राचीन गुर्जर भाषा के काव्यों का संचय खरीदा। पुस्तकें खरीदने के बाद सीधे घर पर लौट आया।

दूसरे दिन पुनः विश्वविद्यालय गया। पत्नी साथ में थी। पूछते-पूछते प्रोफेसर भोलाभाई पटेल के घर पर गया। पत्नी भी साथ में थी। भोलाभाई पटेल मिले। मोलहवी शताब्दी के साहित्य पर उनसे चर्चा हुई। गुजराती भाषा के विशेष कवियों का परिचय उन्होंने दिया। कुछ प्रमुख कवियों पर उनके पास पुस्तकें थीं। उनमें से मेरे काम की दो-तीन पुस्तकें दीं। रतनपोल के निकट पुस्तकें मिल जाँगी। मैंने सब पते लिख लिए। मैं गुजराती पुस्तकें पढ़ सकता था और समझ भी लेता था। लिखने और बोलने का अभ्यास नहीं था। उस समय भोलाभाई पटेल बिडला फाउण्डेशन की शोध-परियोजना पर काम कर रहे थे। प्रेमचंद के उपन्यासों के समकालीन गुजराती उपन्यासों पर उनका काम जारी था। उक्त शोध परियोजना पूर्ण हुई और पुस्तक भी छपी। वह पुस्तक उन्होंने मुझे भेजी भी।

प्रोफेसर भोलाभाई पटेल के बाद हम लोग सीधे एच. सी. भायाणी के घर पर गए। उस समय तक तीन बज गए थे। स्वतंत्र बंगला था। खुला आगन था। खुले आगन से लगा हुआ जराण्डा था। उसमें झूला लगा था। हमें देखकर उठ खड़े हुए। भीतर अध्ययन कक्ष में ले गए। लगता कि निरन्तर कार्य जारी

हं । प्रो. भायाणीजी न प्राचीन ग्रंथों का सम्पादन किया है और वे प्रायः एल. डी. इस्टीट्यूट, ऑफ इंडोलोजी संस्थान से छपी है । सनत्कुमार चरिय (नेमिनाथ चरिय का एक अंश) का सम्पादन उन्होंने किया है । वह अपभ्रंश कान्य है । इसी तरह प्राचीन गुर्जर काव्य का सम्पादन भी उन्होंने किया है । उनकी और भी पुस्तकें हैं । सब से परिचित होना एक दिन में संभव नहीं था । उनकी साधना और तपस्या को देखकर मैं नतमस्तक हो गया । प्राकृत भाषा के प्रति मेरी अभिरूचि को देखकर उन्होंने मुझे प्राकृत विद्या का एक अंक (वर्ष ७, अंक ३, अक्टूबर-दिसम्बर १९९५ ई.) दिया । उक्त त्रैमासिक दिल्ली में छपता है । इसी तरह उन्होंने हेमचन्द्राचार्य की नवम जन्मशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित (उसी वर्ष १९९५ ई.) 'अनुसंधान' का विशेषांक दिया । इसका सम्पादन स्वयं हरिवल्लभ भायाणीजीने किया है ।

वस्तुतः अहमदाबाद के एल. डी. इस्टीट्यूट से कई पुस्तकें खरीदी हैं । उनमें से भर्तृहरि का वाक्यपदीय (गुजराती टीका सहित) / विमलसूरि का पउम चरियम भाग १, भाग २ / डॉ. भोलाशंकर व्यास द्वारा सम्पादित 'प्राकृत प्रैंगलम्' के दोनों भाग प्रमुख हैं । बाद में मैंने आचार्य हेमचन्द्र की उपलब्ध पुस्तकें भी खरीदीं । मुझे प्राकृत भाषा पर काम करना था, इसीलिए पुस्तकें खरीदता रहा ।

प्राकृत भाषा के विद्वानों में मैं एकमात्र भायाणीजी से ही मिला । उनके सान्निध्य में रहकर प्राकृत भाषा और साहित्य सीखना चाहा । उनके दर्शन ही हुए । उनकी साधना और तपस्या देखी । अहमदाबाद से लौटने के बाद उनसे पत्र-व्यवहार किया । किन्तु उनसे मिलने नहीं जा सका । औरंगाबाद में मेरे मित्र श्री धर्मेन्द्र मास्तर ने बतलाया कि भायाणीजी अब नहीं रहे ।

जो मेरे दो-दिन विश्वविद्यालय और उस परिसर के शोध-संस्थान देखने में बीत गए । अहमदाबाद घूमकर देखना था । तदर्थ पत्नी को अहमदाबाद नगर घूमकर दिखलाने बस के दो टिकट लिए । पर्यटकों के साथ पर्यटक बनकर पूरा दिन अहमदाबाद के विशेष विशेष स्थल देखे । मन्दिर देखे । म्यूजियम देखे । पुरानी इमारतें देखीं । उनमें एक विशेष बावली देखी । पानी बहुत नीचे था । चारों ओर दो-तीन मजिल की सीढियाँ हैं । वहाँ के उद्यान देखे । विशेष रूप से सावरमती नदी के तट पर महात्मा गांधी का आश्रम देखा । लगता है, आश्रम जैसा का तैसा है, मात्र गांधीजी नहीं हैं । उनका कक्ष, उनके बैठने की जगह, प्रार्थना की जगह सब कुछ है । आनेवालों की वहाँ व्यवस्था भी रही है । गांधीजी याद आ जाते हैं ।

मेरे भाई सिकंदराबाद की बड़ी भूवा के सब से छोटे पुत्र रोशनलालजी कोटारी, वही शाही बाग में रहते हैं। पता पूछकर मैं मिलने गया। धर्मीचंदजी साथ में आए। आदेश्वर अपार्टमेंट्स में ऊपर सातवीं मंजिल पर उनका फ्लैट था। इसमें पूर्व में बेगमपेट हैदराबाद में थे और उससे पहले वुलोर्टिन बगला में थे। कुछ वर्ष सिकंदराबाद में नेहरूनगर पूर्व (मारडपल्ली पूर्व) में किराये से रहते थे। उनकी सब से छोटी बेटी का ब्याह अहमदाबाद में हुआ। इसीलिए वे वहाँ रहने लगे थे। हम लोग गये तो ऊपर नहीं जा सके। बिजली नहीं थी। लिफ्ट काम नहीं कर रही थी। बिजली आने पर हम ऊपर मिलने गए। भौजाई साहब मिले। उनसे बात हुई। रोशन भाईसाहब से मिलने दूसरी बार गया। उस समय वे मिल गये। बहुत प्रसन्न हुए। दूसरी बार हम दोनों गए थे। वे जिस फ्लैट में रहते थे, वह उम बिल्डिंग के सब से ऊपर का माला था। तीन वेड रूम, बैठक, रसोई घर और भोजन कक्ष उस फ्लैट में थे। उन दोनों के लिए वह बहुत बड़ा फ्लैट था। उसके बाद में अहमदाबाद जाना-आना नहीं हुआ।

धर्मीचंदजी से छोटे भाई मिट्टालालजी अलग रहते थे। वे शाही बाग में ही दूसरे मकान में रहते थे। उनके घर भी गया। इसी तरह साबरमती नदी के किनारे की कालोनी में मदनलालजी बोरा रहते थे। ये बोरा परिवार के चार घर अहमदाबाद में थे। एक दिन मदनलालजी बोरा सायंकाल में आए। अपनी गाड़ी में हमें अपने घर ले गए। आधुनिक और सम्पन्न परिवार है। उनके घर से आज भी पत्र-व्यवहार जारी है। रानीवाल के कस्तूरचंदजी के परिवार का वह विस्तार था। हमारे परिवार का दो-सौ वर्षों का इतिहास ज्ञात है। हम लोग अलग-अलग प्रदेशों में रहते हैं किन्तु जब भी मिले और एक दूसरे के घर पर रहने का अवसर मिला तो मुझे परिवार की मूल भाषा में विशेष अन्तर नहीं दिखलाई दिया। प्रदेश भेद को पहचाना जा सकता था। धर्मीचंद की वृद्धा माताजी से बात करो तो मुझे मेरे दादाजी याद आ गए। अहमदाबाद में प्रायः सभी भाइयों का व्यवसाय Finance फायनांस (लेन-देन) का था।

लौटने से पहले एक दिन हम लोग गांधी नगर गए। अक्षयधाम मन्दिर देखने गए। उस समय अहमदाबाद की पर्यटक सेवा की बस अक्षयधाम नहीं जाती थी। इसका कारण अक्षयधाम मन्दिर देखने के बाद मालूम हुआ। वह स्वामी नारायण का मन्दिर था। उस मन्दिर को एक घण्टे में देखना संभव नहीं था। उसको देखने में पूरा एक दिन तो कम-से-कम चाहिए। मन्दिर का प्राणण विशाल

है। केंद्र में मन्दिर की ऊँची पीठिका है। नीचे चारों ओर अलग अलग प्रदर्शन के कक्ष हैं। हर कक्ष में इतिहास-पुराण को किसी-न-किसी माध्यम से साक्षात् रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हें समझाने और बतलाने के लिए प्रत्येक कक्ष में कोई-न-कोई गाइड है। वह क्रमशः आनेवालों को समझाता है। पक्किबद्ध सबको एक कक्ष से दूसरे कक्ष में छोड़ा जाता है। प्रवेश मार्ग अलग है और बाहर निकलने का मार्ग अलग है। दर्शकों को अनुशासन-बद्ध होकर चलना पड़ता है। आध्यात्मिक चिंतन के कक्ष उसमें हैं। ग्रह-नक्षत्रों को समझानेवाले प्रात्यक्षिक कक्ष भी उसमें हैं। उसमें प्रकाश और छाया के माध्यम से ब्रह्माण्ड का बोध सबको हो सकता है। ब्रह्माण्ड की गतिविधियाँ बतलाई जाती हैं। इसीलिए मन्दिर में यह सब देखने के लिए प्रवेश शुल्क है। छोटे-बच्चों के साथ वह सब देखना संभव नहीं है। समय भी बहुत लग जाता है। अक्षयधाम देखने में चार-पाँच घण्टे लग जाते हैं। पूरी परिक्रमा होती है।

अहमदाबाद और गांधीनगर के बीच साबरमती नदी है। नदी दोनों नगरों को अलग करती है। गांधीनगर, नया बसा हुआ नगर है। सभी सरकारी कार्यालय और इमारतें गांधीनगर में हैं। विधान सभा वहीं पर है। गांधीनगर, नया अहमदाबाद है।

अक्षयधाम देखने में हम थक गए। बाहर आकर प्रांगण में बैठकर कुछ आराम किया। कुछ पेट-पूजा हुई। वहाँ से लौटकर हमने यथासमय मुंबई की ट्रेन पकड़ी नम्मू के घर पर पहुँच गए। मुंबई लौट आने के बाद दिन भर आराम किया। सायंकाल में कंकरसाहब ने हमें औरंगाबाद की ट्रेन में — देवगिरि एक्सप्रेस — बैठा दिया। हम लोग यथासमय घर लौट गए।

□ □

दिल्ली (३१-१०-१९९५ से ११-११-९५)

हम दोनों नई दिल्ली स्टेशन से सीधे करौल बाग गये। वहाँ अजमलखॉाँ पार्क है। पार्क के पीछे की ओर प्रेमभवन स्थानक है। सीधे वही गये। हमें रहने के लिए कमरा मिल गया। २३ अक्तूबर १९९५ ई को दीपावली थी। दीपावली के ठीक एक सप्ताह बाद हमने यह यात्रा की। चातुर्मास समाप्त नहीं हुआ था। एक सप्ताह शेष था। इसीलिए चातुर्मास की पूरी व्यवस्था 'प्रेमभवन' में थी। जैन साध्वियों में कृपाश्रीजी और निधिश्रीजी से मेरा परिचय हो गया था। जब से पत्नी के साथ यात्रा करने लगा, तब से दिल्ली में जैन स्थानकों में ठहरने लगा।

पत्नी दिनभर स्थानक में रह सकती थी। मैं अकेले ही अपने काम पर जाता और मायकाल में पुनः करौल बाग लौट आता। १९९५ ई. की इम यात्रा का प्रयोजन शोध-परियोजना के लिए सामग्री सकलन था। आवश्यक पुस्तकें खरीदना था। उस यात्रा में दिल्ली के दो वयोवृद्ध विद्वान् और साहित्य-सृजन में लगे हुए चिन्तकों से मिलना बहुत लाभप्रद रहा। वे हैं — डॉ. रामविलास शर्मा और दूसरे हैं श्री विष्णु प्रभाकर।

डॉ. रामविलास शर्मा : दिल्ली के श्री (डॉक्टर) सुधीन्द्रकुमार औरंगाबाद में घर पर आए थे। उनके कारण डॉ. हरिवंश अनेजा का परिचय हुआ। कादम्बरी प्रकाशन उनका अपना है। जवाहर नगर में उनकी पुस्तकें की दुकान है। उन्होंने मेरी पुस्तक 'हिन्दी आलोचना की पहचान' (१९९४ ई.) छपी है। जवाहर नगर उनकी दुकान पर गया था। वही पर डॉ. सुधीन्द्रकुमार मिल गए। सुधीन्द्रजी जनकपुरी में रहते हैं। जनकपुरी से विकासनगर नजदीक है। मैंने कहा — कल मैं विकासनगर जाऊंगा। ग्यारह माह-ग्यारह तक डॉ. रामविलास के घर पहुँच जाऊँगा। वहाँ पर दोपहर में एक वजे तक आ जाँएँ तो मैं जनकपुरी आपके साथ आऊँगा। योजना बन गई। दिल्ली में तो प्रकाशकों और लेखकों से परिचय हो जाएँ तो वे मेहरबान हो जाते हैं और आवागमन में सहायक रहते हैं। यथासमय ५ नवम्बर १९९५ ई. को डॉक्टर रामविलास शर्मा के घर पहुँच गया। वे बहुत प्रसन्न हुए। उनसे मैंने भाषा विज्ञान और सोलहवीं शती के भारतीय साहित्य विषय पर बात की। उस समय उनसे दिनचर्या पूछी तो उन्होंने बतलाई। जब आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रतिष्ठान की पत्रिका के लिए श्रीमती कुसुम चतुर्वेदी ने (डॉ. रामविलास शर्मा विशेषांक के लिए) लेख मांगा तो मैंने इस साक्षात्कार के विवरण के साथ मैंने दिनचर्या भी भेजी। उक्त अंक में उसका प्रकाशन हुआ है। दिनचर्या तो मैंने जैसे वे कहते गए, वैसे मैं लिखता गया किन्तु जो चर्चा हुई तथा अन्य-अन्य विषयों पर बात हुई। वह मैंने उसी दिन प्रमथवन में रात में बैठकर लिख ली। डॉ. रामविलास शर्मा का कहना रहा कि सोलहवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य का परिचय भाषाओं पर स्वतंत्र अध्याय बनाकर देना चाहिए। उनकी बात को मैंने ध्यान में रखकर ही सोलहवीं शताब्दी की भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण पर एक अध्याय लिखा। उस समय की बीस भाषाओं पर अध्याय लिखे। उक्त चर्चा के आधार पर योजनाएँ तो बहुत बनाई किन्तु समय-सीमा को ध्यान में रखते हुए काम पूरा करना पड़ा। लेखन के केन्द्र में डॉ. रामविलास शर्मा रहे हैं। उनके साथ बात करने से मुझे

उनकी अध्ययन और लेखन-पद्धति का बोध हुआ। विचारों से मस्तिष्क घिरा रहता है, तब तक ही लिखकर विचारों को मुक्त अभिव्यक्ति देना उचित रहता है। किसी विषय पर योजना बनाकर काम करना हो तो, दूसरे विषय की पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिए। पढ़ना, मनन करना, सामग्री को पचाना आवश्यक है। एक क्रम में विचार धारा चलेगी तो लेखन में सुविधा होगी। पढ़ी हुई और उपयोगी सामग्री हस्तामलक होनी चाहिए। उस स्थिति में ही यथासमय उनका उपयोग संभव है। दूसरा लेखन नहीं करना चाहिए। बीच में कुछ दूसरा लिखने लग जाएं तो विचारों का क्रम टूट जाता है और उन विचारों को पट्टी पर लाने में समय लगता है। डॉ. रामविलास शर्मा फुटकल लेखन के पक्ष में नहीं। इसीलिए बाद में मैंने फुटकल लेखन बन्द कर दिया। जिन विषयों पर काम करता था, उससे सम्बन्धित जो लिख लिया जाता उन्हें ही पत्रिकाओं को भेजता था। छप जाए तो ठीक और न छपे तो कोई चिन्ता नहीं। इस पर भी मैंने काफी लेख विलम्ब से क्यों न हो, छपे हैं। मैं पत्रिकाओं को भेजकर भूल जाता था। बाद में अचानक वह लेख छपा हुआ देखता।

सच तो यह है कि उनके साथ बात करने में काफी समय हो गया। मैंने डॉक्टर साहब से कहा कि मुझे डॉ. सुधीन्द्रकुमार से बात करना है। मैंने फोन किया और कहा कि मैं यहाँ पर आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। जनकपुरी में वे तुरन्त स्कूटर पर आ गए। उनके आने के बाद डॉक्टर साहब से बिदा लेकर मैं लौट गया।

डॉक्टर सुधीन्द्रकुमार के घर पर बैठकर, उनके पिताजी से परिचय हुआ। परिवार के और लोग भी थे। भोजन हुआ। सुधीन्द्रकुमार विशेष रूप से ऐतिहासिक साहित्य के विद्वान हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को पत्रों के माध्यम से चलानेवाले विभाग में काम करते हैं। 'कारस्पोंडस कोर्स' का काम करते हैं। तदर्थ उन्होंने मुझसे भी कवि भूषण, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हम्मीर काव्य पर कुछ लिखवाए हैं। उनके नियमानुसार मैंने पाठ लिखकर भेजे हैं। ये वे सृजनात्मक लेखन भी करते हैं। उपन्यास लिखते हैं। नाटक लिखते हैं। उनकी पुस्तकें कादम्बरी प्रकाशन ने छपी हैं। हिन्दी अकादमी, दिल्ली से भी उनका सम्पर्क है। वे उन दिनों गीतिकाव्य की किसी योजना को पूर्ण करने में व्यस्त थे। वे औरंगाबाद आने की योजना बना रहे थे। आ नहीं सके। जनकपुरी में मैं सीधे करौल बाग लौट आया और अपना कार्य कन्ता रहा।

श्री विष्णु प्रभाकर उन दिनों में श्री विष्णु प्रभाकर कुण्डेवालान गली में रहते थे। वह गली अजमेरी गेट में भोतर जाओ तो सीधे हाथ की ओर है। गली लम्बी है। दो-तीन माइ में मुड़कर जाने पर सामने ही प्रवेशद्वार है। भीतर खुला आगन है। मीठी ओर सीढियाँ चढ़कर ऊपर जाने पर पहला ही बड़ा कमरा श्री विष्णु प्रभाकर का है। वही पर उनकी बैठक है। सान नवम्बर १९९५ को उनके पास पहुँचा था। मिल गया। मैं उस दिन लम्बी बातचीत की योजना में पहुँचा था। उस बातचीत में कुछ व्यक्तिगत बातचीत भी थी। बोलने में अधिक उन्मुक्त और सहज है। उन्होंने अपनी दिनचर्या बतलाई। उसकी टिप्पणियाँ लिख लीं। १९८० ई में उनकी पत्नी का देहावसान हो गया था। उसके बाद उनका सबेरे का घूमना बन्द हो गया। पहले अजमेरी गेट से राजघाट तक सबेरे पाँच बजे तक नियमित जाते थे। उनके पास पुस्तकें बहुत रही हैं। लगभग बीस हजार पुस्तकें उन्होंने अलग-अलग ग्रंथालयों को दे दी हैं। दो लडके हैं। लडकियाँ हैं। दामाद प्रिंसिपल है। महाराणा प्रताप एन्क्लेव वाला बंगला है किन्तु किराये में दिया हुआ है। किरायेदार पर छोड़ता नहीं है। प्रयत्न जारी है। उस समय की परेशानी बतला रहे थे। कोई तो का विस्तार (Extention) अर्द्धनारीश्वर है। 'अर्द्धनारीश्वर' की प्रति उन्होंने मुझे दी है। आगवा मसीहा के बाद में इस रचना को विशेष ख्याति मिली। उस उपन्यास का तेलुगु अनुवाद मेरी छात्रा डॉ सी वसन्ता ने किया है। उक्त अनुवाद साहित्य एकेडेमी दिल्ली से छप गया है। बतलाया कि कर्ण-कुन्ती को आधार बनाकर नाटक लिख रहे हैं। उनका एक लडका नागपुर में रहता है। आत्मकथा लिखने की योजना है। १९८० ई. तक का वृत्त लिख लिया है। उर्मी में १,००० (एक हजार) पृष्ठ हो गए। काम कुछ आगे नहीं बढ़ा है। सभवत अब पूर्ण हो। उनके विचार से शंकराचार्य के बाद में कोई मौलिक चिन्तक नहीं हुआ। प्राचीन वाङ्मय में गहरी आस्था व्यक्त करते हैं। सोलहवीं शती पर कुछ बात हुई। उनके पास व्यावहारिक सूचनाओं का भण्डार है। पूरे मसिजीवी है। दो-तीन लडकियाँ आती थीं। साढ़े-पाँच बजे से १ बजे तक पढ़ना-लिखना जारी रहना है। अब चार घण्टे के लिए एक लडकी आती है। स्नान दोपहर में करते हैं। उसके बाद भोजन होता है। डाक बाद में देखते हैं। ५ बजे काफी हाउस जाते हैं। ८ बजे तक लौटते हैं। दैनिक हिसाब लिखते हैं। समाचार सुनते हैं। ग्यारह बजे तक सो जाते हैं। उसके बाद भी उनसे मिला हूँ। अब तो वे महाराणा प्रताप एन्क्लेव के बंगले में चले गये। अजमेरी गेट के पास की गली छोड़ दी। उम बंगले पर भी मिलने गया किन्तु उस तरह की

उन्मुक्त बातचीत का अवसर मुझे नहीं मिला । पत्र-व्यवहार जारी ह । उनके पत्र नियमित मिलते रहते हैं ।

साध्वी कृपाश्रीजी . करौल बाग के 'प्रेमभवन' में उस समय साध्वी कृपाश्रीजी का चातुर्मास था । प्रतिदिन सबेरे साढ़े आठ बजे व्याख्यान होता और साढ़े नौ बजे तक चलता था । जाड़े का मौसम था । ठण्ड में हम सबेरे उठ जाते और तैयार होकर यथासमय व्याख्यान में बैठ जाते थे । कृपाश्रीजी का व्याख्यान सुनते और उसके बाद मैं तो दस-साढ़े दस बजे तक अपने काम से निकल जाता और सायंकाल में लौटता । पत्नी वहीं रह जाती । कृपाश्रीजी के साथ साध्वी निधिश्रीजी भी व्याख्यान देती थी । उनके गुरु साध्वी केसरकँवरजी ने उन्हें प्रशिक्षण दिया था । वे अब वृद्ध हो गई थी । पहले जब गुडमण्डी के वीरनगर में ठहरे थे तो उस समय केसरकँवरजी के व्याख्यान मैंने सुने हैं । इस समय वे घण्टा घर के कोल्हापुर हाउस के स्थानक में थी । हम लोग जब भी चले आते तो उनके दर्शन करने अवश्य जाते । कृपाश्रीजी के समूह में इस समय विमलाश्रीजी और उज्ज्वलाश्रीजी थे । १९९५ ई में कृपाश्रीजी को दीक्षा लिए हुए १३ वर्ष पूरे हो गए थे । वह मेरी बड़ी बहन बदामबाई (मौसेरी बहन) की बेटी हैं । जालना के निकट दाभाडी गाँव की हैं । उस समय बड़ी बहन समूह के साथ अपने पौत्र चदन और तीन बेटियों, दो दामादों के साथ कृपाश्रीजी के दर्शन हेतु प्रेमभवन पहुँच गई थी । तपस्वी बहन से मिलना हुआ । तपस्वी इसीलिए कह रहा हूँ कि वह एकान्तरा करती हैं । अर्थात् एक दिन उपवास दूसरे दिन पारणा । पुन उपवास और फिर पारणा । यह क्रम निरन्तर चलता रहता है । तपस्या ने उनका शरीर क्षीण कर दिया है किन्तु तप का तेज दिखलाई देता है । चेहरे पर चमक है । आज भी अस्सी से कुछ ऊपर होने पर भी उनकी साधना जारी है और वर्ष में एक बार सपरिवार बेटी से मिलने चली आती हैं । उस समय पानीपत में आचार्य देवेन्द्र मुनि का चातुर्मास था । बड़ी बहन के साथ जो समूह आया उनकी इच्छा हुई कि पानीपत जाकर आचार्यश्री के दर्शन करें । सब लोग पानीपत गए । मुझे भी चलने कहा । अपने काम के कारण मैं तो नहीं गया । किन्तु पत्नी गई । पानीपत देख आई और आचार्यश्री के दर्शन भी हो गए ।

कृपाश्रीजी बड़ी बहन की आठवी और अन्तिम बेटी हैं । सातों के विवाह हो गए । आठवी ने विवाह नहीं किया । बैंगलौर में केसरकँवरजी के पास दीक्षा ली । सारा परिवार बैंगलौर गया था । आठ बहनों में एक भाई हैं — बसन्तीलाल गोलेच्छा । मैंने सारे परिवार को एकत्रित रूप में देखा नहीं । बसन्तीलाल के पुत्र

चन्दन के ब्याह मे गया था, उस समय सातों बहने और सातो दामाद एक साथ उपस्थित थे । सब को क्रम से देखा । फिर भी पूरी पहचान कहाँ हुई ? नाम भी याद नहीं है । एक बेटी औरंगाबाद मे है । नाम है — सरिता । वह और दामाद घर पर आते हैं । उनसे अच्छा परिचय है । बड़ी बहन का विवाह १९४१ ई मे हुआ । १९४२ ई. मे मेरे मासाजी का देहावसान हो गया । मै उस समय नौ-दस वर्ष का था । आज जब भी बहन से मिलता हूँ, बचपन याद आ जाता है । उनके बहाने मासीजी और नानीजी का स्मरण भी हो जाता है ।

कृपाश्रीजी का मै मामा हूँ । उनसे अलग बैठकर बात होती रही है । वे योजनाबद्ध पुस्तके लिखती रही है और उनका प्रकाशन भी हुआ है । उनकी प्रस्तावनाएँ मैने लिखी है । मैने उन्हे कुछ मेरी पुस्तके दी है । रजनीश की पुस्तके वे खूब पढती रही है । उनके व्याख्यानो मे रजनीश का प्रभाव दिखलाई देता था । विषय उनका अपना होता है किन्तु विश्लेषण और विवेचन की पद्धति रजनीश की है । रजनीश ने उन्हे वक्ता बना दिया । धाराप्रवाह और सहज रूप मे कुशल वक्ता के रूप मे बोलती है । इसीलिए दिल्ली में उनका नाम हो गया है । रजनीश के व्याख्यान तो मैने सुने नहीं किन्तु साध्वी कृपाश्रीजी के व्याख्यान सुनकर रजनीश के व्याख्यानो की कल्पना कर सकता हूँ ।

मैं सब से पहले कृपाश्रीजी से जयपुर मे मिला था । उस समय केसरकँवरजी का चातुर्मास जयपुर में था । उस समय उनके साथ मे कितनी साध्वियाँ थी, स्मरण नहीं किन्तु साध्वी सरोजश्रीजी वहाँ थी और कृपाश्रीजी, निधिश्रीजी भी वही पर थी । बात यह है कि साध्वी सरोजश्रीजी की Ph.D की मौखिकी लेने मुझे बम्बई विश्वविद्यालय सं पत्र मिल गया था । मै परीक्षक था । उनके गाइड डॉ विनोद गोदरे थे । यथासमय हम दोनो जयपुर पहुँच गए थे । जिस दिन सबेरे जयपुर पहुँचे तो स्टेशन पर ही मालूम हुआ कि शहर मे दगा हो गया है । कोई ऑटो रिक्शा अजमेरी गेट की सडक से और पुराने चौपडो के शहर मे जाने के लिए तैयार नहीं थे । मैने कहा — अब तो आ गए है, लौटगे नहीं । विश्वविद्यालय शहर से बाहर था । इसीलिए ऑटोद्वारा ही हम लोग विश्वविद्यालय पहुँच गये । गेस्ट हाउस मे सामान रखवाया । डॉ नरेन्द्र भानावत से सम्पर्क किया । उनके कहने पर गेस्ट हाउस मे हमें कमरा मिल गया । डॉ नरेन्द्र भानावत भी मिले । वे उस समय हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे । बाद मे हम लोग स्थानक गये । केसरकँवरजी के दर्शन किये । डॉ विनोद गोदरे आए नहीं । उन्हें जयपुर के समाचार मिल गए थे । वे बम्बई से आए नहीं । ऐसी स्थिति मे मौखिकी की चिन्ता थी ।

स्थानक में मौखिकी लेना उचित नहीं था। दूसरे दिन रविवार था। विश्वविद्यालय को छुट्टी थी। फिर भी डॉ. नरेन्द्र भानावत के सहयोग से विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में मौखिकी की व्यवस्था हो गई। साध्वी सरोजश्रीजी को विश्वविद्यालय में पहुँचाने के लिए कहा गया। हिन्दी विभाग में पाँच छ. प्राध्यापक भी पहुँच गये। डॉ. रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ उनमें थे। डॉ. सत्येन्द्रजी के परिवार के थे। यथासमय साध्वीजी पहुँच गई। विभाग में और लोगों के सामने मौखिकी सम्पन्न हुई। रिपोर्ट लिख दी गई और वह मैंने डॉ. नरेन्द्र भानावतजी को दे दी। उन्होंने विभाग की ओर से उक्त रिपोर्ट वम्बई विश्वविद्यालय को भेज दी। यथासमय सरोजश्रीजी को पी-एच डी की उपाधि मिल गई। इस तरह की मौखिकी का यह मेग पहला अनुभव था। डॉ. विनोद गोदरे की अनुपस्थिति में मौखिकी हुई। उस समय जयपुर में हम कहीं नहीं गए। हम दोनों का एअर टिकट (जयपुर से औरंगाबाद) बुक हो गया था। हम दोनों यथासमय औरंगाबाद लौट आए। डॉ. नरेन्द्र भानावत के सहयोग और स्नेह को मैं भूल नहीं सकता। जयपुर में जब हम स्टेशन से गेस्ट हाउस में ठहरने के बाद केसरकँवरजी से मिलने स्थानक पर गए तो मालूम हुआ है कि बहन और बहनोई दोनों आए थे जिस गाड़ी से हम लांग आए थे। उसके बाद की गाड़ी से वे लौट गए। मिलना नहीं हुआ। उस समय बहनोई साहब थे। किन्तु अब तो प्रेमभवन में पुन मिलना ही नहीं हुआ बल्कि चार-पाँच दिन का साहचर्य भी मिला। बहन से बात करता हूँ तो भाव-विह्वल हो जाता हूँ। वह मुझे अपना छोटा भाई समझकर प्यार से बात करती है। मुझसे बड़ा अब परिवार में कोई नहीं है, जो मुझे प्यार से सम्बोधित करे।

डॉ. नगेन्द्र : डॉ. नगेन्द्र से मिलने के लिए मैं ३ नवम्बर को ही पहुँचा था। वे पहले माडल टाउनवाले मकान में रहते थे। इस समय वे पीतमपुरा में अपने निजी आवास में रहने लगे थे। उनका पता था— १३४, वैशाली पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४। उनका नया आवास मुझे इससे पूर्व जब दिल्ली आया था तो डॉ. शशिभूषण सिंहल ने मुझे बतलाया था। सिंहल साहब मुख्य सड़क के इस पार रहते हैं। और डॉ. नगेन्द्र उस पार रहते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा से मिलने में, बातचीत में, प्रश्न पूछने में भय नहीं लगता था। हमारी बातचीत में वे उतने उन्मुक्त नहीं थे। कब, क्या कह दे ? मैं उनके क्रोध को माडल टाउन में देख चुका हूँ। वे जितनी जल्दी गरम हो जाते, उतनी ही जल्दी शांत हो जाते और पुन महज रूप में बातचीत करने लगते। डॉ. विजयपालसिंह अभिनदन ग्रंथ के अवसर पर तो नियमित उनसे मिलना हुआ है। उनकी कार्यपद्धति, अध्ययन पद्धति को मैंने बहुत ध्यान से देखा।

बात करने से कम और उनके साहचर्य में रहने से अधिक मैंने सीखा है। जब भी जाओ अध्ययन में तल्लीन मिलते रहे हैं। उनके घर पर उस दिन पहुँचना उनके पास अन्तिम बार मिलना हुआ। घर पहुँचा तो बाहर कुर्सी डाले बैठे हुए मिले। मैंने अपनी बात कही। सोलहवीं शताब्दी की परियोजना की चर्चा की। सुन लिया। बोले क्या चाहते हो ? मैंने कहा — 'मुझे आपकी ओर से प्रमाण-पत्र चाहिए।' उठ गए। भीतर गए। खड़े रह गए। ऊँचा टेबल था। बाहर से मैं देख सकता था। खड़े-खड़े लिख रहे थे। बाहर आए और प्रमाण-पत्र दे दिया। उस समय उनकी अवस्था ८० वर्ष की थी। उस अवस्था में भी वे अपना काम कर रहे थे। अधिक देर न कर उनका आशीर्वाद लेकर लौट आया। उनका आशीर्वाद मुझे सदैव मिला है। बाद में मैंने उन्हें पुनः एक बार देखा। १९९८ ई. में नेशनल पब्लिशिंग हाउस के कार्यालय में। उस समय सुरेन्द्रजी को उन्होंने बुलवाया। मैं भी चला आया। गाड़ी में बैठे बैठे सुरेन्द्रजी से बात की। मैंने चरण छू लिए और चला आया। अपनी साधना में अन्त तक लगे रहे।

दिल्ली तो मैं कई बार गया किन्तु हर बार प्रयोजन अलग-अलग रहता। पहले से सोचकर निकलता कि इस बार किन-किन से मिलना है और किन-किन से क्या बात करनी है। प्रकाशको से मिलता रहता था। दरियागज जाता और मलिक साहब, सुरेन्द्र मलिक से ही नहीं अपितु अशोक माहेश्वरी, अरुण माहेश्वरी से मिलता। कश्मीरी गेट जाता और विश्वनाथजी से मिलता। सयोग से प्रकाशको से मिलनेवाले अन्य लेखको से भेट हो जाती। उनसे बात होती। प्रकाशक क्या छापना चाहते हैं ? हमें क्या लिखना चाहिए ? यह सब मालूम होता। पत्र-व्यवहार करने में सुविधा होती। दिल्ली जितनी बार गया हूँ, उतनी बार किसी दूसरे नगर में नहीं गया। फिर भी वह महानगर मेरी पकड़ में नहीं आया। प. काशीराम शर्मा के पास शाहदरा में ठहरता तो पैदल घूमता था। उनके पास रहते हुए, उनके साहचर्य में बहुत सीखा। हार्ट का आपरेशन होने से पूर्व तो पैदल घूमता ही था और अकेले ही जाता था किन्तु बाद में भी पत्नी के साथ जाने लगा तो जैन स्थानको में रहने लगा। इसीमें कृपाश्रीजी और अन्य माधवियों से परिचय हुआ। कृपाश्रीजी दिल्ली से बाहर निकलती ही नहीं। गुडमण्डी का स्थानक छोड़ दे तो सदर बाजार के स्थानक में चली जाती। दिल्ली में लगभग सौ स्थानक होंगे। कुछ ऊपर भी होंगे। सत-साध्वी यदि सब स्थानको में चातुर्मास हेतु क्रम में जाएँ तो उसे दिल्ली महानगर से बाहर आने की आवश्यकता नहीं। मैंने दस-बारह स्थानक देखे हैं। उनमें, वीरनगर, गुडमण्डी, घण्टा घर के पास कोल्हापुर हाउस

के निकट. सदर बाजार, डेवाला का स्थानक, अशोक विहार का स्थानक, पश्चिम विहार का स्थानक, चौदनी चौक का स्थानक, करौल बाग का प्रेमभवन, जमना पार का स्थानक, गुजरात अपार्टमेंट का स्थानक, इनमें से कुछ स्थानको मे बार-बार जाता रहा हूँ। इस नाते कुछ पढ़ता भी रहा हूँ। स्थानको के आकर्षण से ही पत्नी दिल्ली आने के लिए तैयार होती थी। उक्त यात्रा को समाप्त कर हम लोग ११ नवम्बर १९९५ को औरंगाबाद पहुँच गए।

□ □

पूना यात्रा (२८-५-१९९६ से ३०-५-९६)

दिल्ली से लौटने के बाद कुछ काम करता रहा। मुझे दक्षिण भारत की यात्रा करनी थी। विशेष रूप से मद्रास जाना था। किन्तु बीच में ही यू.जी.सी. UGC की ओर से पत्र मिला कि पुणे विश्वविद्यालय में परीक्षा हेतु पहुँचना है। इंटरविव होगा। किन्तु काम हो गया है? दिखलाना आवश्यक था। पूना गया। गेस्ट हाउस के सारे कमरे बुक हो गए थे। एक मज्जन के लिए जो कमरा आरक्षित था, उसमें वे आए नहीं थे। वह कमरा मुझे मिल गया। बाद में मैंने देखा कि मेरे ही कमरे में डॉ. कर्णसिंह चौहान आए। उन्हें कोई कमरा मिला नहीं। विवश होकर उन्हें मेरे कमरे में भेजा गया। मैं डॉ. कर्णसिंह चौहान को पहचानता था। वे दिल्ली में आए थे। टैगोर टाउन (माडल टाउन के समीप) में रहते थे। डॉ. नगेन्द्र के पास पहुँचता तो उनसे मिलने चला जाता। इन्द्रनाथ चौधुरी भी टैगोर टाउन में रहते थे। डॉ. कर्णसिंह चौहान से पहली बार मिलना जयपुर में १९७६ ई. में (आपतकालीन सगोष्ठी में) हुआ। दो सप्ताह का शिविर डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने आयोजित किया था। उस समय की सगोष्ठियों में बहुत लोग उपस्थित थे। मुझे सब याद आ गया। डॉ. कर्णसिंह चौहान भी मेरी तरह इंटरविव के लिए आए थे। इस बीच वे कहीं विदेश चले गए हैं। इससे पुनः सम्पर्क नहीं हो सका। उनमें मिलकर प्रसन्नता हुई। रात हो गई थी। बहुत बातें नहीं हुईं। सबेरे उठकर यथासमय हिन्दी विभाग में पहुँचना था। हम लोग पहुँच गए। दो विद्वान् परीक्षक के रूप में पहुँच गए थे। दिल्ली से डॉ. नित्यानन्द शर्मा और हैदराबाद से डॉ. भीमसेनजी निर्मल। दोनों से विषय पर बातचीत हो गई। अपने कार्य का विवरण प्रस्तुत किया। आगामी कार्य की योजना भी बतलाई। औरों के इंटरविव हुए। हिन्दी के लगभग आठ-दस लोग थे। सब को जानता नहीं था। कुछ परिचित नाम थे किन्तु कभी सम्पर्क नहीं हुआ। वहाँ से बाहर आते ही मैं तो लौट गया नगर में कहीं नहीं गया। उस समय अकेले ही यात्रा की थी।

□ □

मथुरा, नई दिल्ली तथा चूरू (३-८-१९९६ से १७-८-९६)

प काशीरामजी गर्मा ने दिल्ली छोड़ दी थी। वे अब सपरिवार चूरू चले गये थे। उनका लडका जो पहले दिल्ली में चाँदनी चौक के स्टुडिओ में काम करता था, वह भी चूरू पहुँच गया था। उनके साहचर्य में रहकर काम करने की इच्छा थी। व्याकरण ओग प्राचीन वाङ्मय में उनकी गति रही है। उनके साथ में रहना आवश्यक समझ कर चूरू जाने की योजना बनाई। तदर्थ दिल्ली में चूरू को जाना था। दूसरी बात यह कि मैंने मथुरा टीक से देखा नहीं था। डॉ चन्द्रभान रावत के पत्र निरन्तर मिलते रहते थे। वे औरगाबाद भी आए हैं और हैदराबाद में भी मिलते रहे हैं। सच तो यह है कि तिरुपति में मेरे लेखन कार्य में मुझे उनसे महयोग मिलता रहा है। उनसे मिलना आवश्यक था। नई दिल्ली का आरक्षण कर लिया। उस समय प्रायः कर्नाटक एक्सप्रेस से दिल्ली जाता था। तदर्थ मनमाड जाना पड़ता था। नई दिल्ली का आरक्षण ३ अगस्त १९९६ ई को हो गया। विचार था कि नई दिल्ली से पहले मथुरा में ब्रेकजर्नी करेंगे और दूसरे दिन पुन दिल्ली चले जाएंगे। उस हिसाब में मैंने रावतजी को आममन् की तिथि और गाड़ी का नाम और समय लिख दिया। बाद में मुझे मालूम हुआ कि गाड़ी मथुरा में ठहरती नहीं। इसीलिए हम लोग आगरा केट ही उतर गये। और वहाँ से दूसरी गाड़ी द्वारा मथुरा पहुँचे। स्टेशन पर कोई नहीं मिला। रावतजी ही नहीं उनकी पत्नी (चाची) भी हमसे मिलने के लिए उत्सुक थी। विशेष कारण यह था कि मेरे साथ में पत्नी भी थी। दोनों आपस में मिलना चाहते थे। कलकत्ता में १९८९ ई. में हम लोग मिले थे। उसके बाद तो मात्र पत्र-व्यवहार ही होता रहा। मिलना नहीं हुआ। फिर मुझे लोहवन देखना था। रावतजी की बैठक देखनी थी। उनका पुस्तकालय देखना था। बैठकर चर्चा करनी थी। उन्मुक्त भाव से घर पर मिलना था। रावतजी स्टेशन पर पहुँचे थे। उन्होंने मथुरा में हमारे लिए किसी होटल में कमरा भी बुक किया था। किन्तु जब हम नहीं पहुँचे तो निराश होकर लौट गये। उनकी पत्नी भी निराश हो गई। घर पर लौटे नहीं। हम लोग जमना पार कर लोहवन में उनके आवास पर पहुँच गए। ताला लगा था। पड़ोस के लडके ने आकर ताला खोला और हमें बैठाया। दो घण्टे बाद रावतजी और उनकी पत्नी आई। मिलकर सब प्रसन्न हुए। कहने लगे, मथुरा में व्यवस्था कर रखी है। मैंने कहा — 'मैं तो घर पर रहने आया हूँ। यहाँ सब आराम है।' चाची अस्वस्थ थी। आँखें ठीक नहीं थीं। रमोई घर में काम करने की स्थिति में नहीं थी। जैसे-तैसे जीवन चल रहा था। बैठक से लगा हुआ

रावतजी का अध्ययन कक्ष था। उस कक्ष से लगा और एक बड़ा कक्ष था। पुस्तके ही पुस्तके थीं। नौकर-चाकर कोई नहीं था। पुस्तको पर धूल हो गई थी। रावतजी भी क्या करे। उस समय उनकी अवस्था ७२ वर्ष की थी। पहले जैसा उत्साह नहीं था। उनकी दिनचर्या गाँव जैसी ही थी। विषय पर ठीक से बात नहीं हो सकी। ब्रजभाषा — के मुख्य गाँव में था और ब्रजभूमि को जानना था। उस दृष्टि से मथुरा की यह यात्रा लाभप्रद रही। मैं अकेले तो मथुरा घूम कर देख नहीं सका। उनका साथ रहने से मथुरा-वृन्दावन-गोकुल के दर्शन हो गए। उस दिन तो हम उनके आवास पर ही रहे। दूसरे दिन हम लोग रावतजी के साथ मथुरा गये। होली गेट के पास दूध-जलेबी का सेवन किया। मथुरा के मन्दिर देखे। द्वाका मन्दिर भी गए। जमना किनारे नहीं जा सके। लौटकर पुन उनके साथ ही बस से वृन्दावन गए। वृन्दावन में श्रीरंगजी के महन्त सताणमजी ने वृन्दावन में हमें कमरा दे दिया और भोजन की व्यवस्था कर दी। दिन भर घूम कर वृन्दावन के मन्दिर देखे। शिक्षा संस्थाएँ देखीं। वहाँ शोध का कार्य भी होता है। मथुरा में वृन्दावन कुछ नया और अधिक साफ है। भक्तों की भीड़ है। भजन-कीर्तन होता रहता है। रावतजी जहाँ-जहाँ ले गए, वहाँ-वहाँ हम गए। रात में वृन्दावन में ही सो गए। दूसरे दिन मथुरा लौट आए। पुन गोकुल गए। गोकुल जाते समय जमना पार करना पड़ा, लोहबन से आगे जाना पड़ा। वृन्दावन और गोकुल में बहुत दूरी है। गोकुल में यशोदा थी। कृष्ण वही पर बड़े हुए। कृष्णजी का झूला है। शिशु रूप वही का है। हमारे पीछे पण्डे पड़ गए थे किन्तु रावतजी साथ में होने के कारण हमें कोई कष्ट नहीं हुआ। गोकुल में बाल्यावस्था के प्रसंगों के स्मृति-स्थल हैं। गोकुल वृन्दावन की अपेक्षा प्राचीन है। वृन्दावन वस्तुतः चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध है और गोकुल वल्लभ सम्प्रदाय का केन्द्र है। गोकुल में वल्लभ सम्प्रदाय का मन्दिर है। आरती के समय हम पहुँच गये थे। रावतजी को वहाँ के पूजारी पहचानते हैं। उनके कारण प्रसाद मिला। कुछ प्रसाद हम खरीद कर ले आए। लौटते समय वे हमें पूजारी के घर पर भी ले गए। उन्हें वहाँ अतिरिक्त प्रसाद मिल गया।

यो हम लोग ४ अगस्त से ७ अगस्त १९९६ तक मथुरा में थे। रावतजी के साहचर्य के कारण सब कुछ देखना मात्र हुआ। शोध-संस्थान का ग्रंथालय मात्र देखा। बैठकर कुछ देखना नहीं हुआ। सताणमजी का मन्दिर दक्षिण के मन्दिरों के सदृश विशाल है। उतना बड़ा मन्दिर वृन्दावन में दूसरा नहीं है। उस मन्दिर को देखकर तिरुपति याद आ गया।

चुरू (पंडित काशीराम शर्मा) :

७ अगस्त को मथुरा से प्रस्थान कर हम लोग दिल्ली पहुँचे । आठ और नौ दो दिन दिल्ली में रहे । वहाँ से सगय दिल्ली स्टेशन से चुरू गए । १० अगस्त को प्रस्थान कर सबेरे सबेरे ११ अगस्त को चुरू पहुँच गए । चुरू में पं. काशीरामजी के घर पर ठहर गए । स्टेशन से घर बहुत दूर नहीं था । वहाँ पर हम दो दिन घर पर ही रहे । सबेरे घूमने निकल जाते । सायंकाल में शहर में ले गए । वहाँ की शिक्षा-संस्था में ले गए । वहाँ के अधिकारी से परिचय करवाया । पुरानी पद्धति की बैठक है । प्रथ-सम्पदा है । नगर का स्वरूप देखा । मुझे तो बैठकर बात करनी थी । घर पर चर्चा होती गती । उम समय उनकी पुस्तक 'हिन्दी व्याकरण मीमांसा' छप कर आ गई थी । उसकी प्रति मुझे औरंगाबाद में ही मिल गई थी । अशोक महेश्वरी ने मुझे भेज दी थी । व्याकरण-मीमांसा तो हो गई । अब व्याकरण लिखना था । वे व्याकरण को ग्रामर से अलग मानते हैं । कामताप्रसाद ने जो कुछ लिखा, वह ग्रामर है — नाम भले ही 'हिन्दी व्याकरण' हो किन्तु वे उसे 'हिन्दी ग्रामर' ही कहते रहे हैं । प. किशोरीदास वाजपेयी ने अपना पुस्तक का नाम 'शब्दानुशासन' रखा, वह अधिक ठीक है । इस दृष्टि से देखे तो पंडितजी ने पाणिनि की अष्टाध्यायी सदृश हिन्दी अष्टाध्यायी की योजना बनाई । लिखना आरम्भ कर दिया था । पहले अध्याय के जो पृष्ठ लिख लिए थे, उसे उन्होंने सुनाया भी । मैं तुल्य में ठीक से समझ नहीं पाया । मैं जो कुछ समझ सका उसका संक्षेप इतना है कि पाणिनि का व्याकरण भाषा विज्ञान और ग्रामर एक है । और वह एक होना चाहिए । वस्तुतः उन्होंने 'हिन्दी व्याकरण मीमांसा' में हिन्दी में लिखे गए तीन व्याकरण-ग्रंथों की तुलनात्मक मीमांसा की है । वस्तुतः अब उन्हें सकारात्मक रूप में — स्थापनाओं के रूप में — लिखना था । हिन्दी भाषा की प्रकृति को पहचानकर उसके मानक स्वरूप को उजागर करना था । इसी प्रयास में उन्होंने लिखना आरम्भ कर दिया था । वह क्रम नियमित बना नहीं रहा । उनके पास ग्रंथालय नहीं था । 'हिन्दी व्याकरण मीमांसा' के लिए भी उन्हें पुस्तकें भेजनी पड़ी । स्वयं अशोक महेश्वरी ने वाञ्छित पुस्तकें उन्हें भेजी । पहले वह पुस्तक 'प्रक' में छपी और बाद में गद्याकृष्ण प्रकाशन से पुस्तक रूप में छपी । अशोक महेश्वरी ने तो प. किशोरीदास वाजपेयी से भी पुस्तकें माँग कर छपीं । प. काशीराम शर्मा भी इसी तरह पुरानी परम्परा के संस्कृत के विद्वानों में से हैं ।

जब तक उनको पहचाननेवाला न मिले उनके कार्य को गति कौन दिलाएगा ? यदि प्रकाशक उनके द्वार पर खड़ा हो तो वे खूब काम कर सकते हैं। उन्होंने जो पुस्तके लिखी, उनकी छपाई वे अपनी पद्धति से छपवाना चाहते हैं। उनके 'रतनरासो' की भूमिका तो छप गई किन्तु 'पाठ' नहीं छपा। वे 'पाठ' में विशेष ध्वनि चिह्न चाहते थे, उसकी व्यवस्था प्रकाशक नहीं कर सका और काम रुका पड़ा है। खिडिया जगा की वचनिका का पाठ छप गया और उसका प्रकाशन राजकमल प्रकाशन से बहुत पहले हुआ था। उनकी 'रामचरित्र' पुस्तक भी इसी तरह राजकमल से ही छपी है। उनके प्रकाशन में महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह थे। महाराजकुमार पंडितजी के गुणों को और उनकी कार्य पद्धति को जानते थे। उन्होंने उनसे पुस्तके लिखवाई और छपवाई भी हैं। नटनागर शोध-संस्थान की स्थापना हो जाने के बाद सीतामऊ की सगोष्ठी में उन्हें आमंत्रित किया और उनका सम्मान भी किया है। यों पंडितजी को बहुत काम करना है। हिन्दी व्याकरण पर काम उस समय आरम्भ तो हो गया था किन्तु पूरा नहीं हुआ। कार्य जारी है। इस सम्बन्ध में मैं उन्हें लिखता रहा हूँ। मैं इतना मानता हूँ कि व्याकरण पर उनका मौलिक चिन्तन है। पंडितजी के साथ संस्कृत वाङ्मय पर, डिगल पर, अधिक बातें हुई हैं। डिगल-पिगल को वे खूब जानते हैं। डिगल भाषा पर उनका लेख अपनी परियोजनावाले ग्रंथ (सोलहवीं शती का भारतीय साहित्य) में मैंने सम्मिलित किया है। छंदों के अनुशासन को वे पहचान लेते हैं और छंदों का पाठ उसी अनुशासन से वाचन करते हैं। अनुशासन की त्रुटियों को जानते हैं। पाण्डुलिपि की अशुद्धियों को, नकल करनेवालों की भूले वतलाते हैं। बहुत-सी पाण्डुलिपियों में नकल करनेवालों की भूले रह ही जाती है। कहीं अक्षरों का दोष है, तो कहीं मात्राओं का दोष है। वे अशुद्ध पाठ को पढ़कर शुद्ध उच्चारण कर लेते हैं। उनके कारण, उनके पास बैठकर धारणोजवाली — (पृथ्वीराजरासो की) प्रति का ठीक पाठ लिखने का प्रयत्न किया है। किन्तु वे तो अपने पाठ पर उच्चारण के विशेष चिह्न जैसे ही लगवाना चाहते रहे हैं, जैसे वेदों के उच्चारण के लिए स्वराघात, बलाघात और समाहार के चिह्न लगे रहते हैं। भाषाओं के अनुशासन में वे उच्चारण को अधिक महत्त्व देते हैं। पृथ्वीराजरासो — के तीनों भाग अभी प्रेस में हैं। छप रहे हैं। पहला भाग तो तीन-चार महीनों में (इस पुस्तक के छपने से पूर्व ही) आ जाएगा। तदर्थ पंडितजी के पत्र नियमित मिलते रहते हैं। उनसे कुछ सीखना हो तो उनके साहचर्य में रहना आवश्यक है। दिल्ली

मे जब तक रहते थे, वे अधिक सुलभ थे। अब तो उन्हें मिलने के लिए विशेष यात्रा आवश्यक है। इसी प्रयोजन से जैसे जम्मू गया वैसे ही चूरू पहुँचा था। चूरू से पुन दिल्ली आये। और दिल्ली में अपना काम किया। नियमानुसार हम लोग १७ अगस्त १९९६ को औरगाबाद पहुँच गये। १५ अगस्त को दिल्ली में थे। उस दिन छुट्टी रहती है। दिल्ली में मार्केट बन्द था। कुछ काम नहीं हुआ। १६ अगस्त को दोपहर में गाड़ी थी। मभवत उस दिन कुछ विशेष कार्यक्रम था। आवागमन की कठिनाई थी। किसी तरह वीरनगर में हम लोग नई दिल्ली स्टेशन पहुँच गए थे। और फिर गाड़ी मिल गई।

□ □

मद्रास (चेन्नई) एवं तिरुपति (२८-९-९६ से १६-१०-९६)

मद्रास इससे पूर्व कई बार गया हूँ। तिरुपति जाने से पूर्व इंटरविव के लिए सब से पहले १९५९ ई में मद्रास गया था। किन्तु इस बार शोध कार्य के लिए जाना था। मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा है, वह त्यागराजनगर में है। सीधे मद्रास ही गए। सिकदराबाद में डॉ. निर्मलजी से मिलकर मैंने मद्रास के विद्वानों के पते लिख लिए थे। इसीलिए सम्पर्क करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सिकदराबाद से मद्रास पहुँचते ही हम लोग दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा गए। वहाँ डॉ. रामानायडू नहीं मिला। डॉ. जैन और डॉ. एस वसन्ता दोनों ही नहीं थे। जैनजी का पता मेरे पास में था। जैसे-तैसे हमें एक कमरा मिल गया। कोई व्यवस्था नहीं थी। डॉ. रामानायडू का पता मिल गया था। वह माबलम में रहता था। मेरे पास भाई प्यारेलालजी बोरा का पता था। उनका आवास पल्लारम में था। वह मीनाबकम् (एअर पोर्ट) से और आगे है। मद्रास सेन्ट्रल स्टेशन के सामने लोकल ट्रेन का स्टेशन अलग है। वहाँ से लोकल द्वारा हम लोग पल्लारम पहुँच गए। पल्लारम में खोजने पर मसजिद गली में प्यारेलालजी का घर मिल गया। हमें मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उनके तीन लड़के हैं — उत्तम, महावीर और आनन्द। स्वयं प्यारेलालजी सपरिवार औरगाबाद हमारे घर पर आए थे। यों तो पहली बार तो मैं १९९१ ई में सुनिल के साथ उनकी लड़की के ब्याह में गया था। उस दिन मद्रास में राजीव गांधी की हत्या के कारण शोक था। महानगर बन्द था। बड़ी कठिनाई से पल्लारम पहुँचा था। मेरा भाई तेजमल भी लातूर से सपरिवार आया था। विवाह में बाजे नहीं बजे। सड़क लाधकर सामने के मकान में बरात पहुँची और विवाह हो गया। उस समय रानीबालवाले

धर्माचदजी भी मिल । वे गनीवाल छोड़कर अहमदाबाद में रहने लगे थे । सब से परिचय हो गया । उस समय कहीं जाना-आना नहीं हुआ । विवाह मम्पन्न होते ही मैं और सुनिल सीधे बैंगलौर लौट गए । वहाँ से सिकदराबाद होते हुए पुन औरंगाबाद आए । वस्तुतः मैं अपनी लडकी नमिता के लिए वर की खोज में था । सुनिल, मेरे साथ उसीलिए आया था । किन्तु अब तो मैं यह निर्णय करके आया था कि मद्रास यूनिवर्सिटी जाऊँगा और विद्वानों से मिलूँगा । महावीर भेरे साथ त्यागराजनगर आया । मारा सामान लेकर पट्टावरम् में ठहर गए । मद्रास में स्थिर होने में हमारा एक दिन निकल गया ।

योजनानुसार मैं दूसरे दिन से काम करने के लिए तैयार हो गया । परिचय में और स्थिर होने में समय निकल गया । रात में उत्तम मुझे अपने आवास पर ले गया । वह अपनी पत्नी के साथ दूसरे मकान में रहता है । यों सब एक ही हैं । भोजन के लिए उत्तम पिताजी के घर पर पहुँचता है । महावीर का भी विवाह हो गया है । वह मूल घर पर ही रहता है । भाई प्यारेलालजी की माताजी भी हैं । यों परिवार के मर्भ सदस्यों में मेल है । उत्तम मूल दुकान पर बैठता है । महावीर की दुकान अलग है । आनन्द भाइयों की सहायता करता है । पट्टावरम् की दुकानों के साथ-साथ सावकार पेट में भी (Mini Street) उनकी दुकान है । सावकार पेट मद्रास सेंट्रल स्टेशन से लगा हुआ मार्किट है । उसका पुराना नाम मिंट स्ट्रीट है । मिंट स्ट्रीट का प्रयोग कम हो गया है सावकार पेट का प्रचलन अधिक है । सावकार पेट से लगा हुआ चायना बाजार है । बहुत प्रसिद्ध है । ये सब मद्रास सेंट्रल के पास में है । सबसे पहले जब मद्रास पहुँचा था । तब भवरलालजी सेठिया के पास ही ठहरा था । वे सावकार पेट में ही रहने हैं । उनके साथ घूमकर चायना बाजार देखा तथा इटरविव के लिए यूनिवर्सिटी गया था । सायंकाल में मरीना बीच भी गया था । इस समय वे नहीं थे । उनके पुत्र का भी निधन हो गया था । पत्र-व्यवहार जारी था ।

मेरा सम्पर्क फोन द्वारा डॉ. रामानायडू से हो गया था । डॉ. रामानायडू ने कहा कि ईस्ट मांबलम् पर लोकल द्वारा पहुँच जाओ । वह वहाँ प्रतीक्षा करेगा । मेरे साथ भाई प्यारेलालजी आए । मांबलम् (ईस्ट) स्टेशन पर रामानायडू मिल गये । उस दिन प्यारेलालजी दिन भर मेरे साथ में थे । रामानायडू भी उस दिन मेरे साथ में था । हम लोग सब से पहले यूनिवर्सिटी गए ।

यूनिवर्सिटी में हिन्दी विभाग में गए। वहाँ पर न डॉ शंकरराजू नायडू थे और न ही डॉ गणेशन् थे। डॉ शंकरराजू नायडू थे। उनका आवास यूनिवर्सिटी में निकट ही था। जाना नहीं हुआ। हिन्दी विभाग में तिरुपति विश्वविद्यालय का छात्र पहुँच गया था। वही अध्यक्ष था। उससे बात हुई। किसी दूसरे सदस्य से मिलना नहीं हुआ। वहाँ से हम लोग तमिल विभाग में गए। वहाँ पर डॉ. पोन् कोदंडागमन् (Dr. Pon Kothandaman) मिल गए। उनसे भाषा विज्ञान पर खूब बातें हुईं। वे तमिल भाषा और साहित्य दोनों के विद्वान् हैं। हमसे बहुत देर तक बातें करते रहे। उन्होंने अपनी एक पुस्तक भी दी। 'A Comparative Study of Tamil and Japanese' — पुस्तक का नाम है। उन्होंने शब्दसमूह तथा व्याकरणिक रूपों का तुलनात्मक अध्ययन उक्त पुस्तक में किया है। भाषाओं के मूल स्रोतों को पहचानने का प्रयत्न पुस्तक में है। वस्तुतः तमिल भाषा पूर्व के देशों में दूर-दूर तक पहुँची है। और पूर्व के देशों की भाषाओं का प्रभाव तमिल पर है। जापानी भाषा, पूर्व की भाषा है। पुस्तक में ऐतिहासिक खोज नहीं है। भाषाओं के मूल उत्स तक पहुँचने का प्रयत्न है। यदि हम पाँच-दस मिनट बातें में पहुँचते तो हमारी भेंट नहीं होती। वहाँ से हम लोग सीधे प्रकाशन विभाग में गए। वहाँ पर डॉ शंकरराजू नायडू तथा डॉ. गणेशन् की उपलब्ध पुस्तकों के साथ-साथ तमिल भाषा पर लिखी इंग्लिश पुस्तकें भी खरीदीं। पुस्तकों का ढेर लेकर हम चले। यूनिवर्सिटी से बाहर आने पर सड़क लांघ जाओ तब अन्नादुरै का स्मृति-स्थल है। बहुत सुन्दर है। शिल्प उत्तम है। आसपास का क्षेत्र गार्डन सद्गुण है। बैटने को जी चाहता है और उसके सामने तो समुद्र है। मरीना बीच वही से शुरू हो जाता है और उस बीच के सामने मुख्य सड़क है। वहाँ से मुझे कै. एम. रामनाथन् के पास जाना था। रामानायडू के साथ ही हम जा सकते थे। वह बीमार था। इसीलिए उसके साथ जाना आवश्यक था। उसके घर जाने से पूर्व रामानायडू हमें अपने घर ले गया। वह ईस्ट माबलम् में केनाल बैंक रोड, CIT नगर में रहता है। वहाँ पर उसने पकान बना लिया था। हम उसके घर गए। पकान अच्छा था। बगले सद्गुण था। सब सुविधाएँ थीं। उसका एक पुत्र है। कहीं बाहर गया हुआ था। उसने अपना प्रकाशित शोध-प्रबन्ध दिया। वहाँ से हम लोग डॉ बालशौरि रेड्डी के घर पर गए। वड्डिवेलपुरम् में २७ नम्बर का उनका आवास है। रेड्डी साहब घर पर मिल गए। उनसे तिरुपति में पहले मिलना हुआ है। उनके साथ पत्र-व्यवहार जारी रहा है। तेलुगु साहित्य पर उनकी

लिखी पुस्तकें, उनसे खरीद ली। वे उपन्यासकार हैं। चन्द्रामामा (हिन्दी में) के सम्पादक रह चुके हैं। उनका काफी नाम है। उनकी साधना जारी है। इसमें ही हमारा काफी समय हो गया। फिर तो हम सीधे रामानायडू के साथ अन्नानगर गए। रामनाथन् केन्द्रीय विद्यालय का प्रिंसिपल था और क्वार्टर में रहना था। बीमार था। मिल गया। चाहकर भी उस अवस्था में अधिक बातें नहीं हुईं। मात्र मिलना हुआ। जो कुछ जाना, वह रामानायडू ने ही बतलाया था। वहाँ से हम सीधे पल्लारम् पहुँचे। अन्नानगर से पल्लारम् पहुँचने में एक घण्टा लग गया। रामानायडू भी माबलाम् अपने घर चला गया। उम दिन प्यारेलालजी दिन-भर मेरे साथ थे।

दूसरे दिन मैं अकेले ही गया। मुझे तीन विद्वानों से मिलना था। डॉ. शेषन, डॉ. शौरिराजन और श्री पी. के. बालसुब्रह्मण्यम्। तीनों के पते ठीक से मालूम कर लिए थे। डॉ. शेषन औरंगाबाद आय थे। उनसे परिचय था और उनकी पुस्तक 'तमिल साहित्य एक झॉकी' मैंने खरीद ली थी। उनका आवास के के नगर (वेस्ट) में, ११ रामस्वामी रोड पर था। मकान का नाम गुरुकृपा था। सब से पहले के के नगर (वेस्ट) में गया। वहाँ पर गली खोज ली और घर पर पहुँच गया। डॉ. शेषन मिल गये। बहुत प्रसन्न हुए। दक्षिण के हिन्दी विद्वानों के रूप में उनकी ख्याति है। दक्षिण समाचार हैदराबाद में उनकी लेखमाला 'तमिल भक्ति साहित्य' पर छपती रहती है। उनसे काफी देर तक बातें होती रहीं। उनको कोई अच्छा प्रकाशक नहीं मिला। फिर भी उनके लेख पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। 'तमिल साहित्य एक झॉकी' पुस्तक उन्होंने स्वयं छपी है। उत्तर भारत के विद्वानों से उनका सम्पर्क बना हुआ है। मैंने उनसे मोलहवी शर्मा के तमिल साहित्य पर लेख लिखवाया है। उसे अपनी परियोजना के ग्रंथ में सम्मिलित किया है। इसी तरह बालशौरि रेड्डी से भी तेलुगु साहित्य (१६वीं शताब्दी) पर लेख लिखवाया और उसे भी ग्रंथ में सम्मिलित किया है।

श्री शौरिराजन पद्माशेषाद्रिपुर स्कूल के सामने की स्ट्रीट में २९३ नम्बर के मकान में रहते हैं और उस स्थान पर पैदल जा सकते हैं। डॉ. शेषन ने कैसे जाना बतला दिया। तदनुसार मैं श्री शौरिराजन के आवास पर पहुँचा। अध्ययन में लगे हुए मिले। उठकर आए और भीतर अपने अध्ययन कक्ष में ले गए। समकालीन भारतीय साहित्य के अको का ढेर सामने ही था। साहित्य अकादमी से उनके द्वारा अनुदित पुस्तकें छपी हैं। उत्साही हैं। उस परिचय के बाद मैं उनसे पत्र-व्यवहार जारी रहा है। मुझे तोल्काप्पियम् की आवश्यकता थी। तमिल

वे मैं पढ़ नहीं सकता था। उसका अंग्रेजी अनुवाद पढ़ना चाहता था। उसका पत्र लगाकर लिखने के लिए कहा था। तोल्काप्पियम् अंग्रेजी में उपलब्ध है। उसकी सूचना उन्होंने बाद में मुझे भेजी। Tholkappiyam - By Dr S Ilakkuvanar डॉ एस इलक्कुवनार ने उक्त पुस्तक में सम्पादन और अनुवाद का काम किया है। इसके साथ साथ अपनी टिप्पणियाँ भी लिखी हैं। उक्त पुस्तक श्री शौरिराजन ने प्राप्त कर मुझे भेज दी। उसका मूल्य पाँच सौ रुपये था। वह सब मैंने उन्हे भेज दिया। उसकी सूचना मैंने पं काशीरामजी शर्मा को भेजी थी। इस सम्बन्ध में जो पत्र मुझे उनसे मिले है, वे मैंने 'भारत के भाषा परिवार' में छापे हैं। मेरे लिखने के बाद उन्होंने अपने तमिल गुरु को पत्र लिखकर पुस्तक के अन्य मस्करण की प्रति प्राप्त कर ली। उसका अनुवाद उन्होंने पूरा कर लिया है। अस्सी पार कर चुके हैं किन्तु उनका उत्साह देखिए। उनका १७ दिसम्बर २००३ का पत्र कल २२ दिसम्बर २००३ को मिला है। पत्र उद्धृत कर रहा हूँ—

C-२२, नाबाई विहार,
सेंट जेवियर्स कालेज कॉर्नर,
एलिस ब्रिज, अहमदाबाद ३८०००६
दि १४-१२-२००३

बधुवर,

७-४ को चूरू से यहाँ पहुँच कर दूसरे ही दिन उन सब मित्रों को पत्र लिखे थे जिनको यहाँ आ जाने की सूचना देना आवश्यक था। आपको भी लिखा था। अस्तु ;

आपके एक पत्र से विदित हुआ कि भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण वाली आपकी पुस्तक छप गई है और नये वर्ष में प्रकाशित होगी। प्रसन्नता की बात है। आपकी सभी पुस्तकें प्रकाशित देखने की सदा इच्छा रहती है। तोल्काप्पियम् के विषय में पहले विचार किया था कि तीनो अधिकारों का अनुवाद साथ ही प्रकाशित करें। इलक्कुवनारजी के अंग्रेजी अनुवाद की पुस्तक प्राप्त करने के लिए दिल्ली के कुछ मित्रों को लिखा था परन्तु नहीं मिल पाई। अतः अब निर्णय कर लिया है कि दो अधिकारों और पैतीस-चालीस पृष्ठ के साथ प्रकाशित करवा दें। अतः कम्प्यूटर टाइप के लिए सामग्री दे दी है। टाइप हो चुकने पर तीन फोटों प्रतियाँ बनाकर

भाई ब्रजकिशोरजी को भेज दूंगा । जीवनकाल में छपी देख लू तो अच्छा लगेगा । रतनरासो का मूल भाग जोधपुर महाराज की सस्था को भेज दिया था । पहले जल्दी कहा करते थे । अब कुछ नहीं कर रहे । मैंने तो उनकी आशा छोड़ दी है ।

आशा है पूर्ण स्वस्थ है । मैं ठीक हूँ । फरवरी तक यहीं रहूँगा ।

भवदीय

काशीराम

इन पक्तियों के लिखते-लिखते पत्र मिला है । इसीलिए उद्धृत कर दिया । अहमदाबाद में वे अपने पुत्र के पास रहते हैं ।

शौरिराजन से परिचय का लाभ मुझे मिला है । उनकी उदारता कहिए कि पुस्तक सीधे भेज दी । रुपये मैंने बाद में भेजे । वी पी पी नहीं की । भारत के भाषा परिवार पुस्तक में तोलकाप्पियम् पर एक अध्याय है और प काशीरामजी शर्मा के इस सम्बन्ध में लिखे पत्र भी हैं ।

शौरिराजन के बाद में श्री पी के बालसुब्रह्मण्यम् के घर पर गया । उनका आवास वहाँ से निकट ६९वीं स्ट्रीट में था । शौरिराजन ने साहित्य अकादमी से प्रकाशित तमिल उपन्यास की हिन्दी में अनूदित पुस्तक दी । उन्होंने श्री पी के बालसुब्रह्मण्यम् के घर पर कैसे पहुँचे, यह भी बतला दिया । घर पर मिल गये । तमिल भाषा और साहित्य के विद्वान् हैं और 'समकालीन भारतीय साहित्य' में उनकी अनूदित रचनाएँ छपती रही हैं । वे वृद्ध हो गए थे । उनसे बात की । काफी समय हो गया था । दूसरी ओर जाने की योजना भी नहीं थी । मैं लौट आया ।

मद्रास विश्वविद्यालय में खरीदी हुई पुस्तकें अधिक थी । उन्हें यात्रा में साथ रखना कठिन था । इसीलिए प्यरेलालजी भाईसाहब के घर पर बैठकर मैंने पैकिंग कर दी । तीन या चार बण्डल हो गए । रजिस्टर्ड डाक से मैंने पल्लावरम् के डाकघर से पुस्तकें घर पर भेज दी ।

डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन का आवास पल्लावरम् में ही था । उनसे मिलने हम दोनों को जाना था । महावीर हमें उनके घर ले गया । १३ नम्बर का मकान, शक्तिनगर में था । रेलवे स्टेशन के यो रेल की पटरियों के समानान्तर के बगले

बन हुए थे । हम लोग आम्हानी से पहुँच गये । महावीर के पास आँटो था । वह चलाना जानता था । इमीलिए ले आया ।

जैनजी मिले । श्रीमती जैन मिली । उन्हे तीन लडके हैं । तीनों का ब्याह कर दिया है किन्तु घर पर उनके साथ कोई नहीं रहता । जैनजी १९२५ ई. के है । उस समय (१९१६ ई. में) वे ७१ वर्ष के थे । बहुत स्पष्ट वक्ता है, स्वाभियानी है और कवि भी है । रामानाथद्व उनके चुटकुले सुनाता था । विभाग में उनकी मैत्री किसमे रही हो, मैं नहीं जानता । उन्होंने कविता संग्रह छोपे है । मुझे दिए और डाक द्वारा भिजवाए है । जैन धर्म पर कुछ पुस्तकें भेजी । मैं पुस्तकें भेजता रहा हूँ । प्राप्ति सूचना तो भेजते ही किन्तु अपनी प्रतिक्रिया भी लिखकर भेजते रहे हैं । पत्रों के द्वारा आज भी सम्पर्क बना हुआ है । जैनजी की पत्नी बीमार रहती है । उस समय ठीक थी । वे उस समय सक्रिय थे और अपनी योजना से कुछ लिख रहे थे । हम लोग लौट आए ।

संभवतः उसी दिन प्यारेलालजी हमें परिवार के भाइयों को मिलाने ले गए । रानीवाल के बोरा परिवार के दम-ग्यारह घर वहाँ पर हैं । दूर-दूर रहते हैं । पल्लवगम् तो अन्तिम सिरे पर है । दूसरे भाई लोग महानगर के विभिन्न मुहल्लों में रहते हैं । सब से मिलना चाहो तो पूरा एक दिन लग जाएगा । प्यारेलालजी ने इसीलिए हम लोगो के लिए स्वतंत्र आँटो दिनभर के लिए मँगवा लिया । मेरा किसी से भी परिचय नहीं था । एक लम्बी परिक्रमा कर के हम लोग सायकल में लौट आए । कस्तूरचंदजी (कोलचंदजी) के परिवार का वह विस्तार था । वहाँ पर रहने के कारण वे लोग आपस में एक दूसरे को जानते थे और सम्बन्ध बना हुआ था । मैंने आत्मकथा के पहले भाग में आरम्भ में पूर्वजो का जो विवरण दिया है, वह सब प्यारेलालजी से प्राप्त सामग्री के आधार पर दिया है । मेरी इच्छा रानीवाल जाने की थी किन्तु जैतारण के निकट से जांधपुर तक तो तीन-चार बार चला गया । किन्तु ठहर कर जैतारण और रानीवाल नहीं गया । मैं तो अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर काम करता था । घूमने-फिरने के लिए समय कहाँ था । अब इच्छा हुई तो जाने की स्थिति में नहीं रहा । रानीवाल के परिवार के अन्त तक रहनेवालो में श्री नेमीचंदजी और उनके तीन पुत्र रहे हैं और वे अब अहमदाबाद में रहते हैं । नेमीचंदजी तो नहीं रहे । उनके तीनों पुत्र अहमदाबाद में हैं । अहमदाबाद में उनके घर पर भी एक सप्ताह रहकर आया हूँ । अहमदाबादवाले

धर्माचद और मद्राम से प्यारेत्वालजी दोनों ही औरंगाबाद आकर गए है । उनके साथ पत्र-व्यवहार भी जारी है ।

मद्रास महानगर घूम कर देखने की इच्छा थी । तदर्थ महानगर भ्रमण की बस मद्रास सेट्रल स्टेशन के पास से जाती है । उसके दो टिकट हमने आरक्षित कर लिए । दूसरे दिन यथासमय हम लोग सबेरे-सबेरे मद्रास सेट्रल लोकल ट्रेन द्वारा पहुँच गए । पर्यटकों के साथ पर्यटक बनकर हम भी यात्रा करने निकले । हमारी यह यात्रा सुखद थी । हमारी बस शीघ्र ही माउण्ड रोड पार करते हुए मद्रास बीच के पास पहुँच गई । समुद्र के किनारे-किनारे की समानान्तर सड़क से गुजरने लगी । लगता है दिखानेवाले सभी प्रमुख स्थल समुद्र के किनारे पर है । सड़क के पार की झाड़ियों के बीच समुद्र का बीच — मैदान की तरह फैला हुआ साफ दिखलाई देता था । मद्रास जो पहुँचता है वह बीच अवश्य देखता है । मरीना बीच तो प्रसिद्ध है ही । इसी तरह यूनिवर्सिटी के सामने अन्नादुरै का स्मृतिस्थल सुन्दर है । हम तो मरीना बीच से आगे दक्षिण की ओर दौड़ रहे थे । समुद्र के किनारे-किनारे चल रहे थे । हमारी बस कहाँ-कहाँ ठहरी और हमने क्या-क्या देखा ? सब कुछ ठीक से याद नहीं है । महाबलीपुरम् गए । प्राचीन शिल्प देखा । साँपो का स्थल देखा । मिट्टी के घड़ों में साँप रखे हुए है । उनके अनेक रूप है । देखने के लिए गेट पर काऊटर लगा है । टिकट लेकर भीतर जाना पड़ता है । आगे पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र गोल्डन बीच है । वहाँ पर पिकचर की शूटिंग चलती रहती है । विस्तृत क्षेत्र है । समुद्र के किनारे पहुँच कर लौटने में एक घण्टा लग जाता है । और बसवाले ने उम स्थल पर एक घण्टा ही दिया था । दौड़ते-दौड़ते समुद्र किनारे गए । काफी पी और लौट गए । हम तो समय पर पहुँच गए । एक दम्पति पीछे रह गया । समय पर न पहुँच पाने के कारण प्रतीक्षा की । समय अधिक हो गया । बस निकल गई । बाद में दो-तीन स्टाप गुजरने के बाद पीछे से आनेवाली बस में बैठकर आए और पुन सम्मिलित हो गए । दोपहर तक हम लोग पक्षी तीर्थ पहुँच गए । हम लोग सीढियाँ चढ़कर ऊपर नहीं गए । एक घण्टे का समय दिया था । हमने भोजन वही पर किया । जानेवाले सीढियाँ चढ़कर ऊपर गए । पक्षियों का वह विरामस्थल है । गाइड सब कथाएँ सुना रहा था । कुछ समझ में आया, कुछ देखकर अनुमान करते रहे । पक्षी तीर्थ के और आगे हम नहीं गए । वही से दूसरे मार्ग से लौटने लगे । इस समय हम सीधे काँची जा रहे थे । काँची में शिवकाँची और वैष्णवकाँची दो विशाल मन्दिर

ह । दोनों के प्राणण और मन्दिरो के रूप अलग-अलग है । दक्षिण में कोंची तीर्थ बहुत प्रसिद्ध है । हम तो गाइड के पीछे-पीछे दौड़ रहे थे । न जाने चलने ओर कुछ-कुछ दौड़ने की शक्ति कैसे मिली ? ध्यान गाइड पर था और जो वह दिखा रहा था, हम देख रहे थे । पर्यटको को समझ में आए, अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में बोले जा रहा था । सब कुछ देखने के बाद चार बजे के आस पास साड़ियों के बाजार गए । खरीदी के लिए बस ने समय दिया । पर्यटको ने मनपसन्द साड़ियाँ खरीदी । पत्नी ने एक साड़ी खरीदी । उसे वह आज भी पहनती है । उसे दोनों बहुओ के लिए साड़ियाँ खरीदनी थी । इतन रुपये पास में नहीं थे । हम लोग लौट गए । वहाँ से हम सीधे सायंकाल के ६ बजे तक राजीव गांधी के स्मृति-स्थल पर पेराम्बूर पहुँचे । राजीव गांधी की हत्या उसी स्थल पर हुई थी । आज वह पर्यटको के देखने का स्थल हो गया है । मद्रास महानगर से बाहर ही वह स्थान है । मद्रास के दक्षिणी छोर पर उसे कह सकते हैं । वहाँ से हम पुन अपने स्थल मद्रास सेंट्रल के बस अड्डे पर पहुँचे और लोकल द्वारा पल्लावरम् घर पर पहुँच गए । सबेरे नौ बजे से सायंकाल में सात बजे तक हम लोग पर्यटकों की बस में घूमते रहे । काफी थक गए थे ।

तिरुपति

मद्रास में हमें तिरुपति जाना था । पत्नी ने कहा — 'कोंची में दो साड़ियाँ ओर खरीदनी है ।' अतः दूसरे दिन पत्नी उत्तम के साथ पुन कोंची गई और वाञ्छित साड़ियाँ ले आई । उसके बाद में दूसरे दिन उत्तम ही हमें मद्रास सेंट्रल ले गया । तिरुपति की सप्तगिरि ट्रेन में बैठा दिया । टिकट भी ले आया । सब कुछ यथासमय हुआ । बीच में जो खाली समय मिला, उसमें महावीर हमें मरीना बीच लेकर गया । दो घण्टे बीच पर गुजारे । चौपाटी जैमी भीड मरीना बीच पर रहती है । पल्लावरम् में महावीर मुझे अपनी दुकान पर भी ले गया । वह भी अलग से व्यवसाय करता है । महावीर औरंगाबाद पत्नी के साथ आया था ।

सप्तगिरि एक्सप्रेस मद्रास और तिरुपति के बीच चलती है । सुविधाजनक है । सीटिंग की व्यवस्था है । उसमें बर्थ नहीं है । वह दिन में चलती है । चार-पाँच घण्टों की यात्रा है । हम लोग तिरुपति पहुँच गए ।

तिरुपति में हम सीधे डा. रामबाबू शर्मा के निवास स्थान पर गये । उन्होंने अपना निजी बगला बनवा लिया था । यूनिवर्सिटी से चन्द्रगिरि मार्ग पर रेलवे गेट से बाहर एक ओर विद्यानगर है और दूसरी ओर ठीक उसके सामने की सोसाइटी

म जो कालोनी है उसमे ग्यारह नम्बर का बगला शर्माजी का है . शहर से बहुत बाहर है । कालोनी खुले मे है । और काफी बगले उस ओर बन गये है । घर पर मिल गये । वही पर ठहर गया । ऊपर की मंजिल पर गेस्ट के लिए कमरा बना हुआ है । उसीमे ठहर गये । दूसरे दिन पहले तो पहाड पर श्री वेकटेश्वर के दर्शन हेतु गए । गए और दर्शन करने के बाद लौट आए । पहले की अपेक्षा भीड काफी थी । अक्तूबर मास था । इस महीने मे भीड अपेक्षाकृत अधिक रहती है । पूरा एक दिन गया । सोचकर आया था कि यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग मे जाऊंगा तथा ग्रथालय मे प्रकाशन विभाग मे पुस्तके देखूंगा । दूसरे दिन हिन्दी विभाग मे पहले गया । पुराने छात्र सभी प्राध्यापक, प्रोफेसर हो गए थे । उनमे डॉ दस्तगिरि रेड्डी, डॉ. टी. आर. शर्मा और डॉ शिवराम रेड्डी के नाम याद हे । सभी मिले उनमे से डॉ शिवराम रेड्डी को साथ लेकर ग्रथालय गया । प्रकाशन विभाग, ग्रथालय मे था । भाषा विज्ञान से सम्बन्धित तथा तेलुगु भाषा और साहित्य से सम्बन्धित पुस्तके खरीदी । उनमे श्री पंडित सी. पी ब्राउन की उपलब्ध सभी पुस्तके खरीद ली । उनकी Literary Biography विशेष पुस्तक थी । उक्त पुस्तक मे काल्डवेल द्वारा सी पी ब्राउन पर लिखा हुआ सस्मरण भी छपा है । वास्तव मे डॉ जी एन रेड्डी (तेलुगु विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष) वाइस चांसलर हो गए थे । उन्होने सी. पी ब्राउन के कार्य को महत्त्वपूर्ण माना ओर सभी का प्रकाशन किया । बाद मे मैंने इन पुस्तको का उपयोग किया । जो लिखा है, वह पहले पत्रिकाओं में और बाद में पुस्तक में भी छपा है । एक पुस्तक — 'Historical Grammar of Telugu With Special Reference to Old Telugu 200 B C to 1000 A D' विशेष थी । इसके लेखक का नाम Konda Mahadev Shastri था । तेलुगु भाषा का परिचय देनेवाली और पुस्तके भी खरीदी । वहाँ से संस्कृत विभाग मे गया । पूरा स्टाफ बदल गया था । संस्कृत भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाली एक पुस्तक खरीदी । संस्कृत विभाग से बाद में मैं केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में पहुँचा । वहाँ पर किसी से विशेष परिचय नहीं था । सब लोग नये थे । वहाँ के ग्रथालय में अपने विषय की पुस्तके देखता रहा । जो अच्छी लगी, उनके नाम, पते लिख लिए । उपलब्ध पुस्तके बाद मे खरीद ली । दिनभर काम करने के बाद वहाँ से सीधे नगर में आ गए । हमें सिकदराबाद लौटना था । आरक्षण हो गया था । नगर मे श्री शान्तिलालजी जैन के घर पर गए । वही पर भोजन किया । उन्होने हमें स्टेशन पहुँचाने की व्यवस्था कर दी । हम लोग दूसरे दिन सबेरे सिकदराबाद पहुँच गये ।

सिकदराबाद

सिकदराबाद तो बहुत बाग गया हूँ। वहाँ पर रहा भी हूँ। किन्तु उस्मानिया विश्वविद्यालय बहुत दिनों के बाद में गया। हिन्दी विभाग में उस समय डॉ. लीला ज्योति थीं। डॉ. टी. मोहनमिंह आर्ट्स कालेज के प्रिंसिपल हो गये थे। विभाग के सदस्यों से मिलकर डॉ. रामकृष्ण रेड्डी से मिलने भाषा विज्ञान विभाग में गया। डॉ. रेड्डी उस समय तेलुगु विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार हो गए थे। उनकी पत्नी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थी। विभाग में एक मात्र मद्रस्य अरुणकुमार शर्मा मिले। उनसे बात करने से मालूम हुआ कि वे कल्पना के प्रधान सम्पादक और संस्कृत विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डॉ. आर्येन्द्र शर्मा के पुत्र हैं। मैं डॉ. आर्येन्द्र शर्मा का कुछ विशेष परिचय चाहता था। बतलाया कि उनका निधन १९८८ ई. में हुआ। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक का नाम 'A Basic Grammar of Modern Hindi' है। उसके दो संस्करण छप गए हैं। प्रथम संस्करण १९५८ ई. में छपा। पुनः १९७२ ई. में दूसरा संस्करण छपा। पुस्तक का प्रकाशन Ministry of Education, Govt of India New Delhi से हुआ है। लौटकर फिर डॉ. चक्रवर्ती, डॉ. भीमसेनजी निर्मल, डॉ. बैजनाथ चतुर्वेदी से मिला हूँ। डॉ. बैजनाथ चतुर्वेदी तो मेरे गुरु रहे हैं। किन्तु उनसे मैं उन्मुक्त रूप में बात करता रहा हूँ। वे औरंगाबाद भी आए और विभाग में मिलकर जाते थे। वृद्ध हो गए थे। पत्नी के साथ यात्रा करने लगे थे। संकल्प पत्रिका के सम्पादक थे। वे हैदराबाद हिन्दी अकादमी के अध्यक्ष थे।

डॉ. अरुणकुमार शर्मा से मिलना तो हुआ किन्तु भाषा विज्ञान पर उनसे विशेष चर्चा नहीं हुई। बाद में १ अक्टूबर १९९९ ई. को उनसे बात करने के लिए गया तो विभाग में मिले नहीं। मालूम हुआ कि कुछ दिन पूर्व अगस्त १९९९ ई. में उनका निधन हो गया। घर का फोन नम्बर उन्होंने दिया था। फोन पर श्रीमतीजी से बात हुई। उन्होंने ही समाचार की पुष्टि की।

तिरुपति में डॉ. जनार्दनराव चेल्ले मिले नहीं थे। वे हैदराबाद में रहने लगे थे। उस समय वे मलकपेट के एस बी एच कालोनी में रहने लगे थे।

सिकंदराबाद से हम लोग १७ अक्टूबर १९९६ ई. को सबरे औरंगाबाद पहुँच गए।

□ □

गोवा, धारवाड, हम्पी (२६-१-१९९७ से ६-२-१९९७ ई.)

गोवा कभी गया नहीं था। डॉ. रोहिताश्व से हैदराबाद में परिचय हो गया था। वह औरंगाबाद भी आकर गया। वह उस समय गोवा विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष था। उसे मैंने पत्र लिख दिया था। वह डॉ. श्रीराम शर्मा का शिष्य है। १८ जनवरी १९९७ का उसका पत्र मिला। उसमें कैसे पहुँचना, वह सब लिख दिया था। तदनुसार मैंने २६ जनवरी का आरक्षण किया। गोवा एक्सप्रेस नई दिल्ली से मनमाड, अहमदनगर होते हुए गोवा की ओर जाती है। तदनुसार हम दोनों बस द्वारा अहमदनगर पहुँच गए। वहाँ पर यथासमय गोवा एक्सप्रेस मिल गई। पूरा दिन ट्रेन में ही गुजरा। रात्रि में दो-ढाई बजे हम लोग लोढा उतरे। पूरी गाडी वहाँ पर खाली होती है। धारवाड, हुबली के लिए दूसरी ट्रेन लोढा पर उभी समय मिल जाती है। बहुत से यात्री उस ट्रेन से निकल गये। जाड़े के दिन थे। ठंड बहुत थी। कॉप रहे थे। रेलवे स्टेशन में कुली की सहायता से बस स्टाप पर पहुँच गए। पणजी की बस वही पर मिल सकती थी। वहाँ पर यात्रियों के लिए कोई सुविधा नहीं थी। सामान्य स्टाप था। वही पर शेड के नीचे बैठ गए। सबेरे ६ बजे बस मिलनेवाली थी। दिल्ली से सैलानी आए हुए थे। वे भी वहाँ पर बस की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। गत का अन्तिम प्रहर टिटुरते हुए बीता। सबेरे बस मिली। ढाई-तीन घण्टे बस की यात्रा थी। बस घने जंगल से गुजरती हुई ९ बजे तक पणजी के मुख्य बस अड्डे पर पहुँच गई। वहाँ पर यूनिवर्सिटी की बस की प्रतीक्षा करता रहा। यूनिवर्सिटी की पुलिस के पास हम लोग उतर गये। वहाँ पर यूनिवर्सिटी के एक सज्जन मिले। उन्हें बतलाया कि विभाग में डॉ. रोहिताश्व हाँ तो भिजवाएँ। मैं यहाँ प्रतीक्षा कर रहा हूँ। डॉ. रोहिताश्व आ गए। वहाँ से हम लोग गेस्ट हाउस गए। वहाँ पर कमरा मिल गया। २७ जनवरी को २ बजे हम लोगों को कमरा मिला। तैयार होकर हम लोग विभाग में पहुँचे। विभाग के सदस्यों के नाम याद नहीं हैं। मैंने डॉ. रोहिताश्व से कहा कि South Goa Town बस के दो टिकट मिल जाएँ तो हम एक दिन गोवा देख लेंगे। टिकट २८ को दूसरे दिन मिल सकता था। अंत-यात्रा का आरक्षण २९ जनवरी का किया। २७ जनवरी को सायंकाल में हम लोग डोनपावले देखने गये। डोनपावले समुद्र के किनारे पर है। पानी गहरा है। बीच नहीं है। ऊँची पहाड़ी है। पहाड़ी से समुद्र का पानी टकराते रहता है। धूमने-फिरने का स्थल है। समुद्र के किनारे तक सड़क बनी हुई है। बैठने के

लिए स्थान बन हुए ह। एक ओर ऊंची पहाड़ी की चढ़ाने और दूसरी ओर अथाह सागर है। सागर की लहरे चढ़ानों को टकराती रहनी है। उसे हम देख सकते हैं। इसी डोनपावले की एक पहाड़ी पर डॉ. रोहिताश्व का आवास है। डॉ. रोहिताश्व के निर्देशानुसार हम लोग डोनपावले पहुँचे थे। डोनपावले से लौटकर डॉ. रोहिताश्व के घर पर जाना था। अधेरा होने लगा था। हम लोग पैदल ही मुख्य सड़क पर आ गए। उस मार्ग से कुछ दूरी पर डोनपावले के मार्ग के सयानान्तर दूसरा मार्ग था। डोनपावले का मार्ग ऊँचाई पर नहीं था। मुख्य सड़क के नीचे उतरनेवाले मार्ग पर डोनपावले था। डॉ. रोहिताश्व का घर ऊँचाई पर था। हमें सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर जाना पड़ा। ऊपर चढ़ने में मैं थक गया। फिर धीरे धीरे ढलान पर उतरना पड़ा। डॉ. रोहिताश्व घर पर अकेला ही था। मिल गया। अकेला ही रहता था। पत्नी हैदराबाद में थी। बच्चे भी हैदराबाद में थे। पत्नी हैदराबाद में अध्यापिका थी। नौकरी — छोड़कर आ नहीं सकती थी। उस समय डॉ. रोहिताश्व अपनी लड़की के लिए वग की खोज में थे। उनसे बात हुई। वहाँ से हम लोग ढलान से पुनः ऊपर चढ़े और बाद में सीढ़ियों से उतरकर मुख्य सड़क पर पहुँच गए। अधेरा हो गया था। बस स्टैण्ड पर बस की प्रतीक्षा में थे। बहुत देर के बाद बस आई। अंधेरे में पैरो के पाम का पन्थर दिखलाई नहीं दिया। एकदम नीचे गिर गया। बाँए घुटने में चोट लगी। खून बहने लगा। वैसे ही बसवालों ने मेरी सहायता की और मुझे बस में बैठा दिया। हम लोग गेस्ट हाउस के निकट उतर गए। गेस्ट हाउस के कुछ और सदस्य भी उतर गये। मुझसे कहा कि गेस्ट हाउस में डॉक्टर है। डॉक्टर मिल गया। उसने जखम की ट्रेसिंग की। रक्त का बहना बन्द हो गया। जखम पर पावडर डाला और पाउडर की छोटी बोतल मुझे दे दी और कहा कि इससे जखम ठीक हो जाएगी। और सचमुच दूसरे ही दिन ठीक हो गई।

२८ जनवरी को विभाग में गया। गोवा-दर्शन के दो टिकट मुझे मिल गये। डॉ. रोहिताश्व को उसी दिन यात्रा पर निकलना था। अपने समय से वे चले गये। हिन्दी विभाग में उस समय डॉ. रोहिताश्व के सहयोगी सदस्य डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र थे। उन्होंने ही गोवा-दर्शन का टिकट दिया था। उन्होंने बस कहाँ मिलेगी, यह बतला दिया था। विभाग से हम लोग पहले मराठी विभाग में गये। वहाँ पर श्रीधर रंगनाथ कुलकर्णी मिले। विभाग बड़ा था। वहाँ पर देर तक मराठी भाषा और साहित्य पर चर्चा हुई। उस विभाग में मैंने कुछ पुस्तकों के नाम लिख

लिए । १. मराठी भाषा और गायतक बोली — अ का प्रियोळकर (पुणे विद्यापीठ प्रकाशन) / २ Formation of Kokni Languages - By Dr S M Kaure । अ का. प्रियोळकर की एक और पुस्तक का नाम बतलाया — हिन्दुस्तानचे टॉन दरवाजे । उक्त पुस्तक के मन्वन्ध मे कहा गया कि मलयालम लिपि, कन्नड लिपि और देवनागरी लिपि की जानकारी है । पुस्तक में पूर्वाग्रह अधिक है । विदेशी विचारधारा का समर्थन करनेवाली पुस्तक है । डॉ. ग ब ग्रामोपाध्ये की पुस्तक भाषा विचार आणि मराठी भाषा (व्हीनस प्रकाशन, पुणे) का नाम भी बतलाया । ग्रामोपाध्ये की पुस्तक उपलब्ध थी । औरंगाबाद लौटने पर मैंने ग्रामोपाध्ये की उक्त पुस्तक खरीद ली । प्रतिमा प्रकाशन, पुणे ने मुझे पुस्तक भेज दी । उस समय वहाँ पर वयोवृद्ध विद्वान् भारद्वाज थे । कहा कि उनसे मिलना ठीक होगा । वे उस समय ८६ वर्ष के थे । उनका पता बतलाया — डॉ. पांडुरंग पिसुर्लेकर रोड, कुडईकर नगर, पणजी, गोवा ४०३००१ । सभी पुस्तकों के नाम मिले । उन पुस्तकों पर चर्चा भी हुई ।

मराठी विभाग के बाद मे हम लोग कोंकणी विभाग मे गए । कोंकणी का स्वतंत्र विभाग गोवा विश्वविद्यालय मे था । उस समय उक्त विभाग मे प्रोफेसर (डॉ.) ओलिवीञ्चु गोमिश् (Professor (Dr) Olivinho Gomes) अध्यक्ष थे । विभाग मे मिल गये । उन्होंने कोंकणी भाषा मे पुस्तकें भी लिखी है । उनमे मैंने दो पुस्तकें खरीद ली । वे हैं — कोंकणी सरस्पतिचो इतिहास और दूसरी पुस्तक का नाम है कोंकणी रामायण । प्रथम पुस्तक कोंकणी साहित्य का इतिहास है । कोंकणी रामायण के रचयिता का नाम अज्ञात है । वह लोक मे प्रचलित श्रुति के माध्यम से प्रचलित रहा है । उसका लेखन सर्वप्रथम पोर्तुगीज लिपि मे हुआ । लिखनेवालो ने मूल पाण्डुलिपि मे लिखा है — अनामिक (कृष्णदास शामा आणि सांगाती ?) । इसका सपादन डॉ. गोमिश् ने किया है । सोलहवीं शती से पूर्व की रामायण है । सोलहवीं शती मे उसे सर्वप्रथम पोर्तुगीज लिपि मे लिखा गया है । उक्त मूल प्रति लिम्बन में है । डॉ. गोमिश् ने पोर्तुगीज लिपि को देवनागरी लिपि मे सपादित किया और स्वयं प्रकाशित करवाया । लिप्यंतरण के लिए गोमिश् लिम्बन गये थे । गोवा विश्वविद्यालय को कोंकणी मे गोंय विद्यापीठ कहा जाता है । पता है — ताळगाव तळपार, गोंय । कोंकणी भाषा महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश (पश्चिमी समुद्र तट) की भाषा है और गोवा कोंकण प्रदेश का अन्तिम छोर है । गोवा से दक्षिण में मैंगलोर है, जो कन्नड प्रदेश है । और दक्षिण मे कालिकट

और उससे आगे केरल प्रदेश है, वहाँ पर मलयालम भाषा है। मलयालम तमिल से जिन प्रकार जुड़ी है, वैसे ही कोकणी से मराठी जुड़ी है। कोकणी सीधी कन्नड से भी जुड़ी है। विशेष बात यह है कि पोर्तुगीजों ने कोकणी भाषा सीखी और उसे अपनी लिपि में लिखना शुरू कर दिया। देवनागरी में बाद में लिप्यंतरण हुआ है। भारत में प्रेस का आगमन गोवा से होता है और कोकणी की पुस्तकें भारत की अन्य भाषाओं से पहले प्रकाशित हुई हैं। और कोकणी में पुस्तकें लिखनेवाले पहले सब क्रिश्चन रहे हैं। उनकी भाषाओं के उच्चारण में कोकणी भाषा के उच्चारण को प्रभावित किया है। कोकणी के माध्यम से द्रविड और आर्य भाषाओं के मिश्रण तथा अलगाव को पहचाना जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से गोवा पोर्तुगीजों का रहा है, इसीलिए अंग्रेजी भाषा वहाँ पोर्तुगीज़ भाषा के बाद में पहुँची है। ये गोवा की संस्कृति कोकणी भाषा से जुड़ी हुई है। मराठी का भौगोलिक प्रसार गोवा में होने पर भी उसे महाराष्ट्र से जोड़ने में राजनीतिक दृष्टि से सफलता नहीं मिली। महाराष्ट्र के नक्शे में गोवा को दिखलाया जाता है। मुंबई, नागपुर, पुणे और औरंगाबाद के साथ पणजी का उल्लेख इसी नाते किया जाता है और स्वयं गोवा विश्वविद्यालय में मराठी का समृद्ध विभाग है। दूसरे दिन हम लोग २९ जनवरी को सबेरे सबेरे यथासमय बस अड्डे पर पहुँच गए। बस में गाइड था। वह हमें सब समझा रहा था। क्रम में हमने कौन-कौन से स्थल देखे, अब याद नहीं है। कहीं पर स्थिरता से बैठकर या ठहर कर देखना नहीं हुआ। मन्दिर दिखलाए। चर्च दिखलाए। चर्चों की संख्या अधिक थी। मन्दिर भी उनसे कम नहीं होंगे किन्तु उनको सम्मिलित न किया गया हो। हम तो भारत भूमि का दर्शन कर रहे थे। पश्चिमी तट के दक्षिणी भाग को देख रहे थे। गोवा की ग्रामीण संस्कृति को समझाने के लिए एक कृत्रिम ग्राम तैयार किया गया था — 'Village Goa' कहा गया। उस में उस प्रदेश के विविध व्यवसाय करनेवाले मूर्त सजीव-सदृश्य प्रतीति करानेवाले व्यक्ति दिखलाए गए। पुरुष भी और स्त्रियाँ दिखलाए गए। गाँवों के मार्ग, पहाड़ी प्रभाव, सब कुछ देखा। पौधे भी दिखलाए। सब कुछ सुन्दर था। यो जंगल से गुजरना, पहाड़ी देखना — अपने आप में आकर्षण के स्थल है। बस में बैठकर देखने से ही मनोरंजन हो जाता है। प्रकृति की गोद से दूर रहने के कारण नगरवासी इनका आनन्द नहीं ले सकते। गोवा — प्रकृति के भण्डार से भरपूर है। देखने में इतने तल्लीन रहे कि गाइड की बातें सुनने की इच्छा नहीं रही। बात सुनने से तो अच्छा देखना रहा है। देखते

देखते हम लोगों ने समुद्र का तट दूर से देखा । मरीना बीच जैसा बीच नहीं था किन्तु बीच ही था । वहाँ से सीधे पणजी पहुँच गए और गेस्ट हाउस लौट आए । थक गए थे ।

गेस्ट हाउस से बाहर सबेरे शाम घूम फिर कर देखा है । गेस्ट हाउस के पीछे समुद्र है किन्तु गेस्ट हाउस पहाड़ी पर ऊँचा होने के कारण समुद्र दिखलाई नहीं देता । गेस्ट हाउस के पीछे घना जंगल है । झाड़ी है । भीतर से समुद्र के किनारे तक कोई मार्ग नहीं है । गेस्ट हाउस के समानान्तर और कई बंगले बने हुए हैं । सड़क समुद्र के समानान्तर ढलान पर चलती है । बंगले पहाड़ी पर हैं । आगे बढ़ो तो समुद्र के किनारे डोनपावलेवाला मार्ग मिलता है । गोवा का वही आकर्षक स्थल है । डोनपावले से आगे भी समुद्र है । बस अड्डे से पहले-पहले जहाँ टूरिस्ट की होटले हैं, उन होटलो के सामने फिर समुद्र दिखलाई देने लगता है । समुद्र दूर ही है किन्तु ढलान पर पहुँचने पर दिखलाई देता है । उतर कर घूमना चाहा किन्तु समय कहाँ ? ३० जनवरी को हमें लौटना था । तैयारी में थे । वहाँ से धारवाड जाना था ।

धारवाड

पणजी से बस द्वारा हम सीधे धारवाड गये । धारवाड में हम लोग सीधे यूनिवर्सिटी गेस्ट हाउस में गए । यूनिवर्सिटी को पहले ही गेस्ट हाउस में कमरे के आरक्षण के लिए लिख दिया था । इसीलिए हमें एक कमरा मिल गया । वहाँ पर विभाग में डॉ. टी. आर. भट्ट, डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ, और डॉ. वन्दना थे । तीनों से अच्छा परिचय था । पहले डॉ. चन्दूलाल दुबेजी थे । वे सेवानिवृत्त हो गए थे । बाद में वहीं पर धारवाड में ही दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास की कर्नाटक शाखा में काम करने लगे थे । वे मिले नहीं । इससे पहले आया था तब मिले थे । धारवाड, हुबली से निकट है । हुबली नगर धारवाड से बड़ा है । रेलवे का जक्शन भी हुबली है । हुबली और धारवाड दोनों के बीच स्थानीय बस सेवा उपलब्ध है । यूनिवर्सिटी में हुबली से भी छात्र बस द्वारा आते हैं । हुबली-धारवाड वस्तुतः हैदराबाद-सिकदराबाद की तरह एक ही है । धारवाड में भी यूनिवर्सिटी नगर से बाहर है । आसपास खुला क्षेत्र है । यूनिवर्सिटी गेस्ट हाउस और प्रोफेसरो के बंगले पहाड़ी पर बने हुए हैं । चढ़ाई है । नीचे उतरने पर यूनिवर्सिटी की सड़कें हैं । आर्ट्स बिल्डिंग अलग है । उसीमें हिन्दी विभाग है । कन्नड भाषा और साहित्य के लिए स्वतंत्र बिल्डिंग है । विभाग में

गया। डॉ. टी. आर. भट्ट के सहयोग से यूनिवर्सिटी के प्रकाशन विभाग से कुछ पुस्तकें खरीदीं। मुझे इतिहास विभाग के प्रोफेसर से मिलना था। विजयनगर साम्राज्य का इतिहास जानना चाहता था। तदर्थ सामग्री एकत्रित कर रहा था। डॉ. श्रीनिवास रिती इतिहास विभाग में रहे हैं। उस समय सेवानिवृत्त हो गए। उनके बगले पर गया। पुस्तकों के नाम लिख लिए। विशेष पुस्तक जो देखने में आई वह A Forgotten Empire थी। वह विजयनगर के इतिहास से सम्बन्धित पुस्तक थी। Robert Sewell की लिखी हुई थी। उसका नाम पता मगव लिख लिखा। बाद में मैंने उक्त पुस्तक दिल्ली से मगवा ली। डॉ. बी. आर. गोपाल के पास बहुत सामग्री थी। वह मैंने मैसूर में देखी थी। डॉ. श्रीनिवास रिती के ग्रन्थालय में कृष्णदेवराय पर स्वतंत्र पुस्तक थी। इसी तरह Source of Vijayanagar History - एस कृष्णास्वामी अयंगर की पुस्तक थी। मैंने दो पुस्तकों का चयन किया और उनको उसी समय जीराक्स करवा लिया। सामग्री मिल गई। औरंगाबाद में इंग्लिश विभाग में डॉ. अमूर थे। उनमें अच्छा परिचय था। सेवानिवृत्त होने के बाद धारवाड में रहने लगे थे। डॉ. श्रीनिवास रिती के पड़ोस में रहते थे। उस समय वे बैंगलौर गए हुए थे। उनका सड़का बैंगलौर में रहने लगा था। डॉ. बी. आर. गोपाल (मैसूर में) और डॉ. श्रीनिवास रिती (धारवाड में) — दोनों ने विजयनगर के इतिहास पर काफी जानकारी दी। वहीं पर मालूम हुआ कि भार्गवी शिवय्या ने कृष्णदेवराय पर स्वतंत्र कार्य किया है। Ph.D. का शोध-प्रबन्ध लिखा है। हैदराबाद के एक विद्वान् का परिचय धारवाड में ही मिला। पता है — प्रो. बी. रामास्वामी, १६-२-७०१/७, आनन्द नगर, निव मलकपेट हैदराबाद ५०००३६ है। यह पता डॉ. जी. एस. दीक्षित ने दिया था।

धारवाड में डॉ. टी. आर. भट्ट और डॉ. शरेशचन्द्र दोनों ने अपने बगले बना लिए थे। दोनों के घर पर गया। उनके यहाँ भोजन भी हुआ। दूसरे दिन कन्नड भवन में गया। Linguistic और Literature — भाषा और साहित्य दोनों से सम्बन्धित भवन था। कृष्णदेवराय के साहित्यिक व्यक्तित्व और उनके लेखन से परिचय मिला। कृष्णदेवराय ने कन्नड और तेलुगु दोनों भाषाओं को प्रोत्साहन दिया है। तेलुगु में स्वयं लिखते थे। दम्बार में दोनों भाषाओं के विद्वान् और कवि थे। कृष्णदेवराय बाबर के समकालीन थे। बाबर जब भारत आया था तो उसे इस बात का ज्ञान था कि उसके समय में दो राजा बलवान हैं। दक्षिण भारत में प्रथम क्रमांक पर, कृष्णदेवराय हैं और दूसरा नाम उत्तर भारत में राणा स्यामसिंह

(राणा सागा) है। विजयनगर साम्राज्य ने मुगलों को दक्षिण में आने से रोकने हेतु औरंगजेब गोलकोंडा तक ही पहुँचा था। बीजापुर और गोलकोंडा से आगे मुगल बादशाह गए ही नहीं और बाद में विदेशी आ गए। विजयनगर साम्राज्य पर हिन्दी में पुस्तकें नहीं हैं। मैंने सामग्री तो एकत्रित की किन्तु राजनीतिक इतिहास लिख नहीं सका। भाषा और साहित्य पर आवश्यकतानुसार लिखा है। एक बार हमपी गया था किन्तु उससे पूरी जानकारी नहीं मिली। धारवाड के बाद में हमपी जाने की योजना थी। हमारा आरक्षण हुबली से सिकंदराबाद हो गया था। २ फरवरी १९९७ का आरक्षण था। हमें उसी गाड़ी से जाना था। इसीलिए विभाग से किसी को भेजकर सूचना दे दी थी कि बोर्डिंग होसपेट से करेंगे। टिकट पर लिखवा लिया। दो दिन तक धारवाड में रहने के बाद १ फरवरी १९९७ को हम लोग होसपेट चले गए। रात में होसपेट में होटल सुदर्शन में ठहरे। दूसरे दिन २ फरवरी १९९७ को रात में दस बजे हमारी गाड़ी थी। सुदर्शन होटल के पास ही बड़ा टूरिस्ट होटल था। वहाँ पर रेस्टारट था। सबेरे तैयार होकर होटल में पहुँचे और दो टिकट टूरिस्ट बस के हमपी के लिए खरीद लिए। वहाँ पर कई विदेशी पर्यटक ठहरे हुए थे। उस टूरिस्ट होटल में विदेशी महिला के साथ भारतीय पुरुष दिखलाई दिया। पृष्ठने पर पता चला कि डॉ. इन्दुप्रकाश पाण्डेय हैं। वे वहाँ पर अपनी जर्मन पत्नी के साथ में थे। फ्राकफुर्ट के पास खालवाख में रहते थे। अब भारत में, गंगादर्शन अपार्टमेंटम्, डॉ. साधुवेल हरिद्वार २४९ २१० में रहते हैं। लौटकर पुनः हरिद्वार जानेवाले हैं। ऐसे कई लोग उस बस में थे। बूढ़े लोगों की संख्या अधिक थी।

होसपेट का अर्थ नया नगर है। कन्नड में होस का अर्थ नया ही है। मैंने अनुभव किया कि कन्नड भाषा में हकार (ह) का प्रचलन दक्षिण की अन्य भाषाओं की तुलना में अधिक है। इसी तरह गकार (ग) भी अधिक है। पुराना नगर तो विजयनगर है, उसी को हमपी कहा गया है। हमपी में विजयनगर की राजधानी के खण्डहर हैं। खण्डहर देखने ही हम लोग जा रहे थे। तुगभद्रा नदी के किनारे बसा हुआ नगर है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के वे अवशेष हैं। यों इस नगरी का इतिहास रामायण के काल तक पहुँचता है। आधुनिक इतिहास भी तुगलक के काल से मिलता है। बलवान राज्य देवगिरि के बरबाद होने पर दूसरा प्रबल राज्य विजयनगर का रहा है। और इस राज्य ने पोर्तुगीजों से सामना किया है। अग्रेज तो बाद में आए हैं।

हम्पी

गाइड लोग पूरी जानकारी नहीं देते। बस द्वाग हम लोग हम्पी पहुँचे। गाइड लोग स्थानों के नाम बतलाते हैं। पर्यटक का ध्यान सुनने की अपेक्षा देखने की ओर अधिक रहता है। विशेष अध्ययन करनेवालों को रुक कर देखना अपेक्षित रहता है। किन्तु यह संभव नहीं होता। गाइड भी क्या करे? मैं पहले जब हम्पी गया था। उस समय मैंने पैदल गाइड किया था। वह दिन भर मेरे साथ घूमता रहा। उस समय के दृश्य मुझे अधिक याद हैं। बस पहले हम्पी के मुख्य मंदिर की ओर जाती है। मन्दिर का प्रागण विशाल है। प्रवेशद्वार के सामने की सड़क पर दोनों ओर बाजार है। बस स्टैण्ड है। हम्पी का मुख्य बस स्टैण्ड यही पर है। पहाड़ियों से घिरा हुआ मैदानी स्थल है। तुगभद्रा नदी उत्तर में है। वह पश्चिम से पूर्व ओर मोड़ खाते हुए बहती है। नदी की दूसरी ओर के तट पर कुछ ही दूरी पर ऋष्यमूक पर्वत है। उसकी गुफाएँ भी हैं। पर्यटकों को दूर से ही सब कुछ देखना है। यह ऋष्यमूक पर्वत वही है, जहाँ सुग्रीव रहता था। किष्किंधा में बलि का राज्य था। राम, सुग्रीव से ऋष्यमूक पर्वत पर मिले थे। हनुमान से भेट हुई थी। उसी ने दोस्ती करवाई। रामायण काल के अवशेष हैं। पर्वत माला है। बीच में तुगभद्रा नदी बहती है। हम्पी वस्तुतः नदी के किनारे-किनारे पश्चिम से पूर्व की ओर बसा हुआ है। होसपेट हम्पी का दक्षिणी छोर है। हम्पी समाप्त होने पर भी छ. सात किलोमीटर घूमकर होसपेट आना पड़ता है। तुगभद्रा का डैम बना हुआ है। बहुत विशाल है। वह होसपेट के पश्चिम में है। जब हम बस में लौटते हैं, तब उस डैम के पास बस रुकती है। नीचे उतर कर दूर में ही हम डैम देखते हैं। पुल पर से गुजरने की अनुमति नहीं मिलती। एक ओर सागर सदृश जल है और दूसरी ओर ढलान है। सड़क पर से दूसरी ओर का बगीचा दिखलाई देता है। नीचे उतर कर घूमनेवाले घूम सकते हैं। सीढ़ियों बनी हुई हैं। बस वहाँ ठहरती नहीं है। हरिद्वारवाले उसी डैम के पास उतर गए थे। उनके लिए बस रोकी गई। हम लोग बाद में कमलापुरम् गये म्यूजियम आदि देखे और होसपेट लौट आए।

वस्तुतः तुगभद्रा नदी के तट पर पश्चिमी छोर पर मुख्य मन्दिर है। वहाँ देखने के लिए समय दिया जाता है। गाइड मन्दिर के भीतर ले जाता है और विशेष विशेष स्थल दिखलाता है। सूर्य की किरणें मन्दिर में कैसे पहुँचती हैं, उस स्थल को लोग बारी-बारी से देखते हैं। कई कक्ष बने हुए हैं। मन्दिर के

परकोटे के भीतर ही सब कुछ है। पूरा मन्दिर आधा घण्टे में घूम कर देखा नहीं जा सकता। मन्दिर के परकोटे से बाहर तीनों ओर ऊँची पहाड़ी है और पहाड़ी पर जैनो के मन्दिरों के अवशेष हैं। वे स्थल दिखलाए नहीं जाते। मन्दिर का स्वरूप दक्षिण भारत के मन्दिरों जैसे है। उक्त मन्दिर से कुछ ही दूरी पर दक्षिण में गणेशजी का देवालय है। उस देवालय के सामने मातंग पर्वत है। ऋष्यमूक पर्वत नदी के उस पार है और मातंग पर्वत इस पार है। गणेश देवालय के निकट ही कृष्ण देवालय है। बालकृष्ण की छवि देखी जा सकती है। वही पर बडवीलिंगम है और उग्रनरमिह का रूप भी है। निकट-निकट सब मन्दिर क्रम से बने हुए हैं। कुछ नीचे उतर आएँ तो दक्षिण पूर्व में वीरभद्र देवालय है। पाताल मन्दिर है। वहाँ से नीचे सीस्टर स्टोन है। पत्थर के आकारों को देखने से लगता है, दो बहने झुकी हुई हैं। प्राकृतिक आकार है। उसी को सीस्टर-स्टोन कहा गया है। बसवाले उसे दिखलाते नहीं। पहुँचनेवाले भागकर दूर से देख लेते हैं। पाताल मन्दिर भी सब लोग नहीं जाते। वहाँ कुण्ड हैं। मुख्य मन्दिर वीरभद्र देवालय ही है। उसे सब देखते हैं।

नदी के किनारे-किनारे पूर्व की ओर राजतुलाद्वार है। तुलादान करते समय उस तुला का उपयोग किया जाता था। उक्त तुला पत्थर की बनी है। तुला दिखलाई जाती है। ठीक नदी के तट पर पुरन्धरदास का मंडप बना हुआ है। वही पर बैठकर वह साधना करता था। तुलाद्वार से लौटो तो छोटे छोटे कई देवालय हैं। उनमें वराह देवालय, कोदण्डराम देवालय हैं। वराह देवालय और अच्युत देवालय के बीच में मुख्य बाजार के अवशेष हैं। उसे सूले बाजार कहा जाता है। हम्पी का प्राचीन बाजार वही है। उस बाजार से दक्षिण में सीधे चले आने पर हम राजमहल की ओर बढ़ते हैं। विजयनगर साम्राज्य के राजाओं का स्थान यही पर है। रानियो के आवास है, स्नानघर है। दरबार हैं। महल के सामने विशाल प्रांगण है। गजशाला है। घुड़शाला है। गजशाला विशेष रूप से दिखलाई जाती है। रानियो का स्नानघर भी दिखलाया जाता है। कमल महल है, वाचटवर है। हजारी राम देवालय है। पूर्व की ओर जो मार्ग जाता है, उस ओर हम नहीं जाते। वह मार्ग कम्पिलिनगर की ओर जाता है। कम्पिली भी पहले राजधानी रही है। विजयनगर को हम्पी क्यों कहा जाता है? समझ नहीं सका हूँ। आगरा के निकट जैसे फतेपुर सीकरी (अकबर की राजधानी) है, वैसे ही तुंगभद्रा के किनारे यह हम्पी है। रामायण काल में यहाँ पम्पा सरोवर रहा है। अब वह सरोवर

नही रहा है। पम्पा का ही हम्पा ओर हम्पी नाम चला आ रहा हो। राजधानी का उन्नत रूप कृष्णदेवराय के समय में ही था। तेलुगु और कन्नड दोनों भाषाओं का मगम स्थान भी यहाँ रहा है। कृष्णदेवराय तो स्वयं तेलुगु का कवि था। उसके अष्ट दिग्गजों में दोनों भाषाओं के विद्वान् रहे हैं। हम्पी को समृद्धि कृष्णदेवराय के समय में मिली। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशाब्दियों में (१५००-१५३० ई.) वह था। किन्तु हम्पी स्थान के देवालय और वह विशाल मन्दिर चालुक्यों के समय तक के हैं। प्राचीन तो वह रामायण काल तक पहुँचनेवाला स्थान है। कोनसा भवन कब बना इसकी खोज आवश्यक है।

हम लोग तो सब कुछ देखकर सोचते-विचारते होसपेट पहुँच गये। हमें गाड़ी पकड़नी थी। सिकंदराबाद का डिब्बा गाड़ी में सब से पीछे था। कुली ने हमें ठीक स्थान पर बैठा दिया। हम लोग दूसरे दिन सबेरे तीन फरवरी को सिकंदराबाद पहुँच गए। वहाँ पर मुझे मलकपेट में प्रोफेसर रामास्वामी के पास जाना था। मलकपेट में ही मोतीलालजी मास्टर साहब रहते थे। उनके पुत्र का नाम महावीर था। सेवानिवृत्त होने के बाद वही पर रहने लगे थे। मोतीलालजी मास्टर साहब पुराने मलकपेट में — आनन्द नगर — में रहते थे। पहले उनसे मिला। बहुत प्रसन्न हुए। चक्रवर्ती का घर भी वहाँ से निकट सैदावाद-कूर्मगुडा में था। उससे मिलकर फिर निव मलकपेट में प्रो. रामास्वामी से मिलने गया। गलियों में भटकने के बाद मकान मिल गया। वृद्ध ने स्वागत किया। बात की। मैंने धारवाड का सदर्भ दिया। उन्हें सब याद था। उनके पास बैठकर काम करे तो काफी जानकारी मिल सकती है। इस समय उन्होंने काम करना छोड़ दिया था। भोजन करने के लिए विवश किया। व्यवहार सद्भावपूर्ण था। बाद में उन्होंने औरंगाबाद के पते पर पत्र भी लिखा।

मैंने अनुभव किया कि दक्षिण भारत के इतिहास पर तेलुगु तथा कन्नड भाषाओं में विपुल सामग्री उपलब्ध है। मैं तो अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कुछ जान सका हूँ। हिन्दी में यह सब लिखा हुआ नहीं है। काम बहुत बाकी है। दूसरे दिन पुनः चतुर्वेदीजी के पास गया। अगिका और बज्जिका बोलियों की पुस्तकें दिखलाई। वे सब खरीद ली। किसान पुत्र की आत्मकथा उन दिनों छप रही थी। चक्रवर्ती उस समय वह देख रहा था। बाद में उन्होंने वह पुस्तक मुझे भेज दी।

यथासमय सब से मिलने के बाद ६ फरवरी को सबेरे औरंगाबाद पहुँच गये।

□ □

भुवनेश्वर (१-१०-१९९८ से ११-१०-१९९८)

दिल्ली में डॉ. रमाकान्त रथ ने साहित्य अकादमी में मिलना हुआ। डॉ. इन्द्रनाथ चौधुरी सेवानिवृत्त हो चुके थे; उडिया भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे उस समय उपाध्यक्ष थे। कार्यालय में स्वागत-कक्ष में पूछने पर कहा कि डॉ. रमाकान्त रथ कार्यालय में हैं, मिल लीजिए। भीतर गया। बात हुई। उडिया साहित्य और भाषा के सम्बन्ध में जानना चाहता था। भुवनेश्वर जाने की इच्छा व्यक्त की। पूछा कि वहाँ पर किस-किस से मिले और क्या क्या जानकारी कहाँ-कहाँ मिलेगी। डॉ. रमाकान्त रथ ने अपने भुवनेश्वर के आवास का पता दिया—डॉ. रमाकान्त रथ, ए-५०, खारखेला नगर, भुवनेश्वर ७५१ ००१। इसी तरह उन्होंने ओरिसा साहित्य अकादमी के सेक्रेटरी का पता दिया। वे श्री आर के मिश्रा हैं और म्यूजियम की बिल्डिंग में मिल सकते हैं। श्री शंकरलाल पुरोहित का पता दिया और कहा कि उडिया साहित्य की कुछ रचनाओं का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया है। उडिया में जगन्नाथदास के भागवत के सम्बन्ध में कुछ बतलाया। माधव मानसिंह की 'History of Oriya Literature' पुस्तक का उल्लेख किया। डॉ. होक्कण मेहताब की पुस्तक 'History of Oriya' का भी परिचय दिया। भर्तृहरि महताब का पता भी दिया, जो उस समय 'प्रजातंत्र' के सम्पादक रहे हैं, प्रजातंत्र प्रेम, कटक में रहते हैं। यो उन्होंने संक्षेप में सामान्य परिचय दिया। इससे ही मैंने भुवनेश्वर जाने का निर्णय किया।

यह मुझे ठीक से याद नहीं कि डॉ. सुधाशु कुमार नायक से सम्पर्क कैसे हुआ। मैं सोलहवीं शताब्दी के उडिया साहित्य पर आलेख चाहता था। इस नाते में पत्र-व्यवहार हुआ। उन्होंने आलेख भेजा, जो ग्रंथ में छप रहा है। भुवनेश्वर जाने से पहले मैंने अपनी यात्रा की योजना से उन्हें अवगत किया। तदनुसार आरक्षण किया। कोणार्क एक्सप्रेस सिक्कदगवाड़ से सीधे भुवनेश्वर जाती है। उसीसे आरक्षण किया। १ अक्तूबर १९९८ ई. को हम दोनों ने औरंगाबाद छोड़ दिया। २ अक्तूबर को सिक्कदगवाड़ पर कोणार्क एक्सप्रेस यथासमय मिल गई। लम्बी यात्रा है। ३ अक्तूबर को ठीक समय पर डॉ. सुधाशु कुमार नायक स्टेशन पर हमारे डिब्बे के पास उपस्थित मिले। उन्होंने हमारे लिए होटल में कमरा बुक कर दिया था। वे हमें होटल में ले गए। पहले तो हमें कोणार्क तथा जगन्नाथपुरी जाना था। तदर्थ उन्होंने हमारा बस का आरक्षण करवा दिया। पहले दिन तो हम कहीं नहीं जा सके। यात्रा की थकान भी थी। दूसरे दिन सुधाशु कुमार ने हमें निश्चित

बस में बैठा दिया । उड़ीसा की यात्रा इससे पहले भी १९५५ ई. दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में की थी । उस समय में बी. ए. का छात्र था । हमारे भूगोल के प्रोफेसर डॉ. बैजनाथ चतुर्वेदी थे । उस समय हम लोग कटक में ठहरे थे । कटक ही प्राचीन नगरी है और आज भी कटक को ही प्रसिद्धि प्राप्त है । भुवनेश्वर तो मन्दिरों का शहर है और आसपास की पहाड़ियों में प्राचीन काल के शिलालेख हैं । मन्दिर तो है ही । कटक से चतुर्वेदीजी हमें मन्दिर दिखलाने भुवनेश्वर ले आए थे । किन्तु आज तो भुवनेश्वर अधिक प्रसिद्ध हो गया है । कटक और भुवनेश्वर में अधिक दूरी नहीं है । दोनों नगर वेम ही जुड़े हुए हैं, जैसे धारवाड़ और हुबली जुड़े हुए हैं । इस बार कटक जाने की इच्छा थी किन्तु जा नहीं सके । एक दिन कोणार्क और जगन्नाथदास का मन्दिर (पुरी) देखने में गया । हम लोग जैसे ही भुवनेश्वर से बाहर निकले, पहले कोणार्क मन्दिर देखने गए । कोणार्क का मन्दिर सूर्य का मन्दिर है । रथ के पल्ले हैं । विशाल आकार के पल्ले हैं । सूर्य सबसे पूर्व में उदित होता है और पश्चिम की ओर रथ पर बैठकर यात्रा करता है । उस परिकल्पना को विशाल आकार में परिणत किया गया है । मन्दिर का प्राणण विशाल है । क्षेत्र व्यापक है । पर्यटकों की भीड़ रहती है । हमें एक घण्टे का समय दिया गया था । घूम फिर कर आसपास का क्षेत्र भी देखा । मन्दिर के प्राणण से लगकर बाजार है । कोणार्क के मन्दिर की प्रतिकृतियाँ अलग अलग रूपों में मिलती हैं । समुद्र से प्राप्त मीपियों और शखों के अलग-अलग आकार के मॉडलों और मालाएँ तथा और भी कई वस्तुएँ पर्यटकों को आकर्षित करने के लिए दुकानों पर रखी हुई हैं । जिनकी दुकाने नहीं हैं, वे लोग भी सड़क के किनारे अपनी विक्रय की वस्तुएँ फैलाकर बैठे हुए हैं । हम लोग तो जल्दी-जल्दी देखकर बस में आकर बैठ गए । वहाँ से सीधे पुरी गये । पुरी में मन्दिर देखने के लिए और पुनः पुरी की बीच (समुद्र का किनारा) देखने के लिए काफी समय दिया जाता है । मन्दिर के सामने की सड़क बहुत चौड़ी है । उसी सड़क से जगन्नाथजी का रथ चलता है । प्रवेश द्वार पर भीड़ रहती है । हमारा गाइड साथ में था । वह हमें मन्दिर के भीतर ले गया । पुरोहितों का दल बैठा रहता है । दैनिक दिनचर्या को देखनेवाले तथा पूजा-पाठ का विधि-विधान वे सब करते हैं । मन्दिर विशाल है । उसका गिनत्य प्राचीन है । लकड़ी का काम अधिक है । दक्षिण के मन्दिरों की तरह पत्थरों का काम नहीं है । मूल विग्रह भी लकड़ी के बने हुए हैं । भीतर बड़ा मंडप है । उसीमें से जाना पड़ता है । मंडप के सामने

के विशाल खुले कक्ष में पुरोहित बैठे रहते हैं ; हमने नियमानुसार दूर से ही दर्शन किया । वहाँ से हम सब लोग पैदल ही समुद्र तट पर गए । समुद्र बहुत निकट है । चौपाटी के बीच की तरह समुद्र का विस्तार है । रेती का मैदान है । उसे साफ रखने का प्रयत्न होता है फिर भी यात्रियों की भीड़ के कारण गदगी फैल जाती है । नियमित व्यवस्था नहीं है । वहाँ बैठना और समुद्र की तरंगों को देखना सुखद है । बगाल की खाड़ी है, वह । वहाँ से लौटकर हम पुनः भुवनेश्वर चले । चिलका झील हम नहीं गये । जानेवाले पर्यटक चिलका झील जाते हैं । विशाल झील है । वह भी पर्यटकों का आकर्षक स्थल है । लौटते समय भुवनेश्वर आने से कुछ पहले मार्केट है । ओडिसा की हस्तकलाओं के वस्त्र वहाँ पर मिलते हैं । पर्यटकों को खरीदी के लिए समय दिया जाता है । वहाँ पर कुछ छत्रियों और हैण्ड बैगों की खरीदी की । लौट गए ।

दूसरे दिन सुधाशु कुमार नायक सबेरे सबेरे पहुँच गये । उन्होंने हमारे लिए टैक्सी की व्यवस्था कर दी । दिन भर टैक्सी हमारे साथ रहेगी और भुवनेश्वर नगर मात्र की यह यात्रा होगी । हमें नगर से बाहर जाना नहीं था । फिर दिन भर स्वयं सुधाशु कुमार नायक हमारे साथ में थे । टैक्सी आई । उममें शंकरलाल पुरोहित भी आए । शंकरलाल पुरोहित का परिचय मुझे दिल्ली में रमाकान्त रथ ने दिया था । उन्होंने उडिया साहित्य की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया है । अनुवादक के रूप में उनकी ख्याति है । क्रम से हम लोग कहाँ-कहाँ गए । यह बतलाना मुश्किल है । जो स्मरण है, वह लिख रहा हूँ । पहले तो किसी होटल में गए । चाय-काफी ली । उसके बाद हम लोग सभवतः नदन-कानन गये । उससे पहले कुछ और देखा हो तो स्मरण नहीं । नदन-कानन का क्षेत्र बहुत बड़ा । राष्ट्रीय स्तर का है । उसमें वन्य प्राणियों के सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था है । पैदल घूम कर ही देखना पड़ता है । कुछ प्राणियों को देखा । विशेष रूप से सफेद बाघ देखे । उनके लिए खुली जगह है । विचरण करते हैं । चारों ओर से विशाल बाड़ लगी हुई है । दिखलाई देते हैं । वह कतार लम्बी है । हम लोग जा नहीं सके । पूरा नदन-कानन घूम कर देखो तो एक दिन भी काफी नहीं होगा । हम तो दो घण्टे में कितना देख सकेगे ? दूसरे मार्ग से लौटते समय पेड़-पौधे देखते आए । वहाँ के रमणीय स्थल तालाब के किनारे पहुँच कर वहाँ पर्यटकों को बैठने के लिए आसन बने हुए हैं, वही बैठ गए । बहुत ही रमणीय स्थल है । सामने पहाड़ी के दूसरे सिरे तक पानी का विस्तार है । वहाँ पर रस्सी का पुल बना

हुआ है। झूले में बैठकर लोग तालाब के दूसरे किनारे तक जाते हैं, वहाँ हम गए नहीं। कुछ देर बैठकर निहारने की इच्छा रही। वही पर देखते रहे। इसीमें दोपहर हो गई। सुधाशु कुमार हमें वहाँ से भुवनेश्वर के मन्दिर देखने ले गए। एक ही स्थान पर विविध मन्दिर हैं। उन मन्दिरों को देखने के लिए लोग बहुत पहले कटक से आते रहे हैं। अब तो भुवनेश्वर राजधानी है। पर्यटकों की बसे मन्दिरों तक आज भी आती है। कोणार्क में तो मात्र विशाल सूर्य का मन्दिर है किन्तु भुवनेश्वर तो मन्दिरों का शहर है। मन्दिर बहुत प्राचीन हैं। उनका शिल्प भी विशेष है। शिखर नुकीले नहीं हैं। अपितु वृत्ताकार में हैं। वृत्ताकार शिखरोंवाले मन्दिर भुवनेश्वर में ही हैं। ऊँचे-ऊँचे हैं। एक ही प्रकार के शिल्पों के मन्दिर क्रम से पास-पास बने हुए हैं। प्राचीन धरोहर है। इसीलिए देखनेवाले पर्यटक यही पर पहुँचते हैं। मन्दिरों का चक्कर काटते, घूम कर देखते-देखते काफी समय बीत गया। उन मन्दिरों के निकट की गली में डॉ. सुधाशु कुमार का आवास था। वे हमें अपने घर ले गए। भोजन की पूर्ण व्यवस्था थी। हमने भोजन किया।

अनन्तर डॉ. सुधाशु कुमार नायक हमें म्यूजियम ले गए। उसका उल्लेख डॉ. रमाकान्त रथ ने किया था। ओडिसा साहित्य अकादमी के सेक्रेटरी श्री आर के मिश्री वही पर रहते थे। हम लोग तो म्यूजियम देखते रहे। किसी से मिलना नहीं हुआ। एक ओर से प्रवेश और दूसरी ओर से बाहर निकलने की व्यवस्था। ओडिसा संस्कृति को दर्शानेवाली विविध वस्तुएँ, अलग-अलग कक्षों में थीं। उन कक्षों में प्रवेश का द्वार अलग और बाहर निकलने का द्वार अलग। पूरी प्रदर्शनी देखना हमारे लिए मभव नहीं था। ऊपर की मजिल पर गए। कुछ कक्षों को ध्यान से देखा। कलाओं के विविध नमूने प्रदर्शित थे। मुझे कुछ पुस्तकें खरीदनी थीं। पत्नी को घूम कर देखने कहा। मैं नीचे आ गया और म्यूजियम के प्रकाशन के विक्रयवाले कक्ष में पहुँच गया। दस-बारह पुस्तकें जो मुझे पसंद आईं, खरीद लीं। बौद्ध संस्कृति, प्राचीन इतिहास, भाषा और साहित्य से सम्बन्धित पुस्तकें जो भी उपलब्ध थीं, वे सब ले लीं। उनमें सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या की पुस्तक भी थी। सब पुस्तकों के नाम नहीं लिख रहा हूँ।

पुस्तकें खरीदकर बाहर निकलते-निकलते काफी समय हो गया। उसके बाद सुधाशु कुमार नायक भुवनेश्वर के निकट की गुफाओं को देखने ले गए। वहाँ पर शिलालेख भी थे। श्री शंकरलाल पुरोहित सभवतः भोजन के बाद चले गए

थे म्यूजियम देखने हमारे साथ में नहीं थे । हम लोग गुफाओं को देखने के लिए पहाड़ी की तलहटी पर ठहरे । बस स्टैंड वहाँ पर था । हमें पहाड़ी चढ़ना था । अजंता की गुफाएँ देखने के लिए भी पहाड़ी पर चढ़ना पड़ता है । किन्तु यहाँ पर ऊँचाई अधिक — थी । जैसे-तैसे ऊपर चढ़ गए । गुफाएँ बड़ी-बड़ी थीं । उनकी गहराई थी और चौड़ाई भी । मनुष्य आसानी से गुफाओं में घूम फिर सकता है । गुफाएँ बौद्ध काल के अवशेष थे । भिक्षु वहाँ ठहरते थे । गुफाएँ क्रम से ऊपर से नीचे तक थीं । जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं । गुफाएँ फैली हुई थीं । एक दूसरे से लगाकर नहीं थीं । गुफाएँ देखते-देखते हम नीचे उतर आए । ऊपर से हमें सामने की ऊँची पहाड़ी दिखाई दे रही थी । वहाँ कोई हिन्दुओं का तीर्थ बना हुआ है । उस ओर जानेवाले की संख्या अधिक हो । इसे ओर तो प्राचीन इतिहास के समझनेवाले लोग और पर्यटक अधिक आते हैं । स्थानीय लोग उस पहाड़ी पर के मन्दिर में जाते हैं । हम लोग उस पहाड़ी पर नहीं गए । नीचे मड़क पर आने से पूर्व रास्ते में कुछ ऊँचाई पर सड़क थी । उसके किनारे शिलालेख थे । पुरातत्त्व विभाग ने उन अभिलेखों के प्रदर्शन की व्यवस्था की थी । ब्राह्मी लिपि में अशोककालीन अभिलेख थे । क्रम से लगे हुए थे । देखकर हम नीचे के मार्ग पर चले आए । वहाँ हमें बतलाया गया कि पुरी का मार्ग कुछ ही दूरी पर है । उस मार्ग पर तीन चार किलोमीटर पर वह मार्केट हो जहाँ हमने कुछ हस्तकलाओं की वस्तुएँ खरीदी थीं । पत्नी को मालूम हुआ तो कहा कि उस मार्केट तक चलना है । कुछ खरीदना है । पत्नी के आग्रह को टेक्सी ड्राइवर मान गया । वह हमें उस मार्केट तक ले गया । मैं तो बैठा रहा । पत्नी ने कुछ आवश्यक वस्तुएँ बच्चों के लिए खरीदीं । वहाँ से हम लोग सीधे होटल पर पहुँच गए । सायंकाल के सात बज गए थे ।

दूसरे दिन भुवनेश्वर विश्वविद्यालय देखने जाना था । वहाँ से सुधाशु कुमार नायक के कॉलेज में पहुँचना था । हिन्दी का समृद्ध, हिन्दी विभाग उसी कॉलेज में था । वहाँ पर सुधाशु कुमार मिलनेवाले थे और फिर उनके मार्गदर्शन में आगे का कार्यक्रम था । हम लोग सबेरे सबेरे बस से यूनिवर्सिटी के स्टाफ पर उतर गए । उक्त विश्वविद्यालय नगर से बाहर था । हमें मड़क लाघ कर विश्वविद्यालय के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा । सामने जो भवन दिखाई दिया । हम लोग उसी में गए । पता चला कि इतिहास विभाग है । संभवतः उस दिन विश्वविद्यालय को छोड़ी थी । छात्रों की भीड़ नहीं थी । प्रोफेसर गण अपने-अपने कक्ष में काम

कर रहे थे। इतिहास विभाग, ऊपर की मजिल पर था। प्रोफेसर साहब मिल गये। अकेले काम कर रहे थे। हमारा स्वागत किया। बात की। विभाग का परिचय दिया। हिन्दी विभाग विश्वविद्यालय में नहीं था। उन्होंने अपने कुछ आलेखों की अनुमुद्रित प्रतियाँ दीं और क्षेत्र का परिचय दिया। मैंने प्रमाण-पत्र चाहा तो स्वयं टाईप करके प्रमाण-पत्र दिया। इतिहास में मेरी अभिरुचि थी। वहीं बैठ गया। प्रोफेसर साहब ने काफी मगवाई। उसके बाद हम लोग वहाँ से नीचे आए। दूर-दूर तक अलग-अलग विभागों के भवन बने हुए थे। किसी से परिचय नहीं था। इसीलिए जो कुछ दूर में देख सका, वह देख लिया और लौट गया। डॉ. सुधाशु कुमार नायक का कालेज वहाँ से निकट था। उपलब्ध वाहन से हम लोग यथासमय कालेज पहुँच गए। कुछ छात्र पहुँच गए थे। डॉ. नायक की व्यवस्था थी। एम. ए. की कक्षाएँ वही पर होती थीं। छात्र दूसरे कालेजों से आते हैं। वह तो महिला महाविद्यालय था। एक घण्टे का कार्यक्रम हुआ। छात्रों के सामने व्याख्यान दिया। संख्या अधिक नहीं थी। कुछ छात्र और छात्राएँ विशेष अभिरुचि रखनेवाले भी थे। उड़िया विभाग की महिला मिली। वह हिन्दी भाषा में अभिरुचि रखती थीं। उनकी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद हुआ है। नाम है — 'प्रतिभा शतपथी'। कार्यक्रम समाप्त होने के बाद हमें अपने आवास पर ले गईं। मारुति कार से हम लोग गए। स्वयं ड्राइव करती थीं। फ्लैट में रहती थीं। हम सब उसकी बैठकवाले कक्ष में गए। लिखने-पढ़ने का शौक रहा है। अपनी एक पुस्तक 'शबरी' भेट में दी। उसका हिन्दी अनुवाद श्रीनिवास उद्गाता ने किया है। प्रकाशन दिल्ली से, वाणी प्रकाशन से १९९६ ई. में हुआ है। एक ओर हिन्दी में अनूदित कृति 'समय नहीं हैं'। इसका प्रकाशन राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली से हुआ है। कई पुरस्कार मिले हैं। उनके साहित्यिक जीवन का परिचय मिला। उस समय वह, राज्य सरकार के शिक्षा विभाग में उड़िया भाषा और साहित्य के रीडर पद पर कार्यरत थीं। उसके बाद हम लोग लौट रहे थे। पत्नी ने कुछ छात्राओं से बात की थी और भुवनेश्वर का बाजार देखने की इच्छा व्यक्त की। वह छात्रा सभवतः वहाँ से लौटते समय मिलीं। उसे लेकर पत्नी तो मार्केट चली गईं। मैं साथ में नहीं था। फिर हम लोग मिल गए। भुवनेश्वर का वस्त्रोद्योग प्रसिद्ध है। पत्नी ने सभवतः कुछ वस्त्र खरीद लिए। सायंकाल का समय नगर घूमने में गया। दूसरे दिन ८ अक्टूबर को डॉ. सुधाशु कुमार हिन्दी विभाग के सेवानिवृत्त प्रोफेसर डॉ. तारिणी चरणदास 'चिदानंद' के आवास पर ले गए। वे

कटक के भवेशा कालेज में हिन्दी के प्रोफेसर थे। इस समय भुवनेश्वर में रहने लगे थे। उस समय लगभग ७० वर्ष के थे। BHU के छात्र थे। चिदानन्द उपनाम से उसी समय में लिखना आरम्भ किया। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उस समय उन्होंने अपनी एक पुस्तक 'उड़िया साहित्य की उपलब्धियाँ' भेट में दी। हमारी यह भेट ८ अक्तूबर को हुई। घूमने-घामने में थक गए थे। स्थल तो बहुत थे। घण्टों बैठकर काम किया जा सकता है। तीन-चार दिन में झलक मात्र मिलती है। किसी के साथ बैठकर बात पूरी नहीं होती। पत्नी अपना समय निकाल कर जो खरीदना होता खरीद लेती। उसके लिए मुझे फिर मार्किट जाना पडा। देख लिया। भुवनेश्वर एकदम नया बसाया नगर हुआ है। प्राचीन अवशेष नगर के बाहर हैं। और मन्दिरों के क्षेत्र में हैं। सड़कें चौड़ी-चौड़ी हैं। निर्माण का कार्य जारी है।

दूसरे दिन ९ अक्तूबर १९९८ को हमें लौटना था। हमारा आरक्षण था। सुधाशु कुमार नायक यथासमय पहुँच गए। हमें रेलवे स्टेशन ले गए। गाड़ी कुछ विलम्ब से आनेवाली थी। घण्टा भर बैठकर बातें करते रहे। बहुत परिश्रमी है। हमें गाड़ी में बैठाकर, गाड़ी छूटने तक खड़े रहे। हम लौट रहे थे। १० को सबेरे सिकंदराबाद पहुँच गए। वहाँ से उसी दिन सायंकाल की ट्रेन से औरंगाबाद लौट गए। ११ अक्तूबर को सबेरे हम अपने घर पर थे।

□ □

भोपाल-सांची-उज्जैन १५-३-१९९९ से २२-३-१९९९

भोपाल से मेरा कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। वहाँ के किसी साहित्यकार से मिलना भी नहीं हुआ। गोविन्द मिश्र को पहचानता था। उनसे पहली बार भेट दिल्ली में ही हुई। प. काशीरामजी शर्मा के साथ वे भी काम करते थे और उनका कार्यालय हौज खास में था। केन्द्रीय सस्थान का कार्यालय भी हौज खास में था। गोविन्द मिश्र अपनी कार ले आते और पंडित काशीरामजी शर्मा को साथ में लेकर कार्यालय जाते। गोविन्द मिश्र से विशेष बातचीत नहीं हुई थी। किन्तु बाद में गोविन्द मिश्र इनकमटैक्स ऑफिस में बम्बई पहुँच गए। उन्होंने पूना में १९९० ई. में वि. श. पारगांवकर की कहानियों का अनुवाद पुस्तक का विमोचन किया। बाद में औरंगाबाद भी, विभाग में आते रहे हैं। एक दिन सबेरे-सबेरे घर पर भी पहुँच गये। घर के सामने की रोड पर अशोक होटल है। उसीमें ठहरे थे। बातचीत में उन्मुक्त स्वभाव के हैं। मेरे साथ औरंगाबाद में सबेरे के

मार्निंग वाक के समय मे भी साथ मे थे । उनसे परिचय तो था किन्तु भोपाल का पता मेरे पास नहीं था । सम्पर्क नहीं हो सका । इस बीच 'आकलन' के सम्पादक राजुरकर 'राज' से सम्पर्क हुआ । उन्होंने मेरी पुस्तक 'निपट निरंजन की बानी' की समीक्षा 'आकलन' मे छापी । बाद मे 'अमृता प्रीतम की डायरी' की समीक्षा भी छापी । पत्र-व्यवहार उन्ही से किया । उन्होने पत्रों के उत्तर दिये और फोन पर बात भी की । भोपाल मे वे मेरी व्यवस्था करेंगे, इससे आश्वस्त होने के बाद मैंने भोपाल जाने का निर्णय किया ।

इस समय तक मचखण्ड (नान्देड-अमृतसर) एक्सप्रेस चलने लगी थी । भोपाल पहुँचने मे बारह घण्टे लगते है । दिन मे दोपहर मे गाडी औरंगाबाद मे मिलती है और रात में बारह बजे के बाद के मिनटो मे पहुँचती है । वही गाडी दूसरे दिन दोपहर मे नई दिल्ली पहुँचती है । औरंगाबाद से भोपाल को बारह घण्टे लगते है और भोपाल से आगे नई दिल्ली को पुन बारह घण्टे लगते है । भोपाल औरंगाबाद और नई दिल्ली के ठीक बीच मे है ।

गजुरकर राज ने पत्र लिख दिया । होटल ट्विक्ल मे मेरी व्यवस्था कर दी थी । गाडी स्टेशन पर भेज दी थी । ड्राइवर को ठीक से समझा दिया था । 'परिचय' फोल्डर पर फोटो था । उसने देख लिया था । १५ मार्च को दोपहर मे प्रस्थान किया और अर्धरात्रि मे १ मार्च को भोपाल पहुँच गये । सोना सभव नहीं था । दादरा चढकर आगे बढ रहे थे, वहीं पर ड्राइवर ने रोक दिया । हमें गाडी पर ले गया । ट्विक्ल होटल पहुँचा दिया । राजुरकर राज स्वय आते किन्तु वे कुछ अस्वस्थ थे, इसीलिए नहीं आ सके । दूसरे दिन सबेरे गाडी फिर आ गई । हम लोग राजुरकर 'राज' के घर पर पहुँच गए । 'आकलन' के कारण उनसे सम्पर्क होने पर अपना परिचय ५ अक्तूबर १९९३ ई के पत्र में दिया था । पत्र प्रस्तुत है —

सा. राजुरकर 'राज'
सम्पादक/प्रकाशक, आकलन

२/७, जूनियर एम.आय.जी
गीताजलि कॉम्प्लेक्स,
भोपाल-४६२२०३

दिनांक ५-१०-१९९३

आदरणीय श्री बोरा सा ।

आपका खत मिला । आपने पीठ थपथपाई 'आकलन' के लिए, अच्छा लगा । उत्साह बढ जाता है मेरा इस तरह ।

आपने अच्छी-खासी पत्रिकाओं को बन्द होते देखे । लघु पत्रिकाओं के भविष्य पर चिन्ता व्यक्त की है, वाजिब है , परन्तु यहाँ मैं यह बात कहना जरूरी समझता हूँ, कि वे बन्द होने वाली पत्रिकाएँ धन और प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में प्रतिबद्ध होती हैं, जबकि लघुपत्रिकाओं की प्रतिबद्धता रचनात्मक होती है। कोई भी लघुपत्रिका, जो व्यक्तिगत स्तर पर प्रकाशित हो रही है, बन्द नहीं हो सकती, जब तक पत्रिका प्रकाशक की साँस बन्द न हो जाय ।

हम पति-पत्नी नौकरीशुदा हैं । हमारे बजट में जैसे तेल, शक्कर और बिटिया का खर्च होता है, वैसे ही एक मठ 'आकलन' भी है । हमारी कोई संस्था नहीं है, न ही कोई ट्रस्ट है, जो हानि-लाभ का हिसाब हमसे माँगे । न सही अधिक पृष्ठों की, ओर चिकने कागज पर इसे निकाल सके, पर यह अँजुरी भर सामर्थ्य तो हम जुटा ही लेंगे ।

'आकलन' पुस्तकों की समीक्षा का दावा नहीं करता, मात्र पुस्तकों की चर्चा का एक विनम्र प्रयास है ।

हम इसके लिए आपका भी सहयोग और मार्गदर्शन चाहते हैं ।

कृपया अपने शहर और आसपास के जिज्ञासु पाठकों के पते हमें भेज दीजिए । (पाठक का साहित्यकार होना आवश्यक नहीं है ।)

कृपया नई पुस्तकों पर दो-तीन पृष्ठ की टिप्पणी भेजिए ।

यदि समीक्षा न भेज सके, तो कम-से-कम नई प्रकाशित पुस्तक का विवरण ही भेज दें, ताकि पाठकों को नवीनतम पुस्तकों की जानकारी हम उपलब्ध करा सके ।

खत कुछ बडबोला हो गया, कृपया क्षमा करेंगे. लेकिन यह सब आप जैसे लोगों से ही तो कहा जा सकता है ।

सहयोग और आशीर्वाद की आकांक्षा में

आपका

राजुरकर 'राज'

हमारा होटल ट्विंकल (Hotal Twinkle) ५०, निवमार्केट, भोपाल में था । होटल में हमारा कमरा ऊपर की मजिल पर था । नीचे मचान रेस्टारट (Machan

Restaurant) था। हम सबेरे शाम दूध वही से मगा लेते थे और काफी भी वहीं पर पीते थे। यथासमय गाड़ी लेकर ड्राइवर पहुँच गया। वहाँ से हम सीधे राजुरकर 'गज' के निवास स्थान पर पहुँचे। उनका आवास ४६, एल.आई.जी., नेहरूनगर, भोपाल-३ में था। एक साथ कई काम करते थे। उनका अपना 'दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय' था। आकलन का सपादन करते थे फिर पडाव प्रकाशन था। छोटी-छोटी पुस्तकें छापते थे। उस समय तक ही उनके प्रकाशनी की सूची लम्बी हो गई थी। अपने प्रकाशन की कुछ पुस्तकें मुझे दी। भोपाल की साहित्यिक सस्थाओं से उनका परिचय था। भोपाल के आकाशवाणी में काम करते हुए, वे यह सब काम भी करते थे। घर पर काम्प्यूटर था। प्रकाशन में उसका उपयोग होता था। उनके आवास पर दो-तीन सज्जन मिले, जिनके सहयोग से वे काम करते थे। उनमें 'अक्षरा' के सम्पादक विजयकुमार देव भी थे। राजुरकर गज ने कहा— 'दो दिन तक टैक्सी आपके साथ रहेगी। आप जहाँ चाहे जा सकते हैं।' वे स्वयं तो अपने-अपने काम पर जाएँगे। सायकाल में, सबेरे मिल सकते हैं। हमें उन्होंने मुख्य-मुख्य स्थानों के नाम और पते क्रमशः लिखकर दिये। टैक्सी ड्राइवर को भी समझा दिया। सब कुछ जानकारी लेकर हम वहाँ से निकल गये। अब तो हमारा मार्गदर्शक ड्राइवर ही था। भोपाल में अनेक साहित्यिक सस्थाएँ हैं। वे सब हमें देखनी थी। पहले कहाँ गये और बाद में कहाँ-कहाँ किस-किस क्रम से गये और कौन-कौन से मार्ग से गए। यह सब स्मरण नहीं किन्तु जहाँ गए और जिनसे मिलना हुआ, उन सब का विवरण लिख रहा हूँ।

माधवराव सप्रे संग्रहालय, पत्रकार कालोनी, कोलार रोड, भोपाल गाड़ी हमारी सग्रहालय के बाहर खड़ी हो गई। सग्रहालय बहुत बड़ा है। पूरा भवन है। भीतर कई कक्ष हैं। हाल में प्राचीन पत्रों के पुराने अंकों की प्रदर्शनी है। विशेष विशेष अंक प्रदर्शित किए गए हैं। पुराने अंक मिलते नहीं हैं। पत्रकारिता पर कोई काम करना चाहे तो उसके लिए सामग्री हस्तामलक है। माधवराव सप्रे पर उक्त सस्था ने पुस्तक प्रकाशित की है। पुस्तक मैंने खरीद ली। सब कक्षों में घूम नहीं सका किन्तु कुछ कक्ष घूमकर देखे हैं। पत्रों के नाम के साथ सारी सामग्री व्यवस्थित है और विशेष विशेष कक्षों में रखी गई है। ग्रन्थालयों में पुस्तकें तो व्यवस्थित मिलती हैं किन्तु पत्र-पत्रिकाओं के पुगने अंक व्यवस्थित रूप में नहीं मिलते। और फिर एक स्थान पर सारी सामग्री को व्यवस्थित रूप में सुलभ करना कठिन काम है। ऐसी व्यवस्था को देखकर सचमुच प्रसन्नता हुई।

शोध-छात्रों को अध्ययन के लिए वहाँ सुविधाएँ हैं। भोपाल में रहकर शोध-छात्र अपना काम कर सकते हैं।

मध्यप्रदेश शासन, साहित्य परिषद उक्त परिषद का भवन, मुल्लारमूजी सस्कृति भवन है। बाणगंगा चौराहे पर है। वहाँ पर श्री आग्नेय, श्री पूर्णचन्द्र रथ और हरि भटनागर से मिलने गया। भवन विशाल है। वहाँ से साक्षात्कार का प्रकाशन होता है। उक्त पत्रिका में मेरा एक लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इन्दौर यात्रा, अगस्त १९९३ के अंक में प्रकाशित हो चुका था। मैं साक्षात्कार का नियमित ग्राहक हो गया था। उस समय साक्षात्कार का सम्पादन श्री आग्नेय कर रहे थे। श्री हरि भटनागर सहायक सम्पादक थे। मेरी जिनसे बात हुई, वे आग्नेय थे। साक्षात्कार के सम्पादक थे। बात करने से पता चला कि वे हैदराबाद के विवेकवर्धिनी कालेज से परिचित थे और कृष्णवल्लभ दवे को पहचानते थे। मैं विवेकवर्धिनी कालेज को छोड़कर वेकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति चला गया था और मेरे स्थान पर श्री कृष्णवल्लभ दवे नियुक्त हो गए थे। वे हैदराबाद के प्रसिद्ध कवि राजा दुबे को भी जानते थे। मुझे उन्होंने परिषद के प्रकाशनो की सूची दी। मैंने वाञ्छित पुस्तके खरीद ली। साक्षात्कार का वार्षिक शुल्क दे दिया।

मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद : उक्त संस्था भी बाणगंगा चौराहे पर थोड़ी सी दूरी पर सड़क की दूसरी ओर है। वहाँ पर श्री कपिल तिवारी और श्री वसन्त निरगुणे से मिलने कहा था। दोपहर का इटरवल हो गया था। सब लोग अपनी जगह पर नहीं थे। वहाँ पर श्रीमती करुणा राज मिल गई। उनकी नौकरी वही कहीं पर थी। हम लोग भीतर गए। पूरा भवन घूम कर देखा। कक्षों में रखी हुई सामग्री देखी। मंच पर लोक कला का प्रदर्शन करते समय उस सामग्री का उपयोग होता हो। देखकर लगा कि लोककलाओं को जीवित रखने और समय-समय पर प्रदर्शित करने का काम यह संस्था करती है।

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भी वही निकट होने पर भी हम नहीं जा सके। कहा गया कि इस समय वहाँ कोई नहीं है। इसीलिए वहाँ से हम सीधे 'हिन्दी भवन', श्यामला हिल्स गये। मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मुखपत्र 'अक्षरा' का सम्पादन वही से होता है। कैलाशचन्द्र पन्त वहाँ पर मिले। उस समय 'अक्षरा' का सम्पादन गोविन्द मिश्र कर रहे थे। मालूम हुआ कि गोविन्द मिश्र अभी आए नहीं किन्तु दस-पन्द्रह मिनट में आ जाएंगे। उनका कक्ष बाहर

की ओर है। विजयकुमार देव सम्पादक भी वही पर काम करते हैं और जो राजुंकर 'गज' के पर पर सबेरे मिले थे। कैलाशचन्द्र से ही थोड़ी देर बात कगता रहा। गद्यभाषा प्रचार समिति के प्रधान मंत्री अनन्तराम त्रिपाठी से वे परिचित थे। वहाँ पर मेरी मानवता की आशा अनूदित पुस्तक पडी हुई थी। कुछ कहा नहीं। इस बीच गोविंद मिश्र आ गए थे। मैं उनसे मिलने चला गया। कक्ष में बैठे हुए मिले। बात हुई। प्रसन्न मुद्रा थी। सेवानिवृत्त हो गए थे। और भोपाल में बगला बना लिया। उनसे पुराना परिचय था। उनके कारण मेरी कुछ रचनाएँ अक्षरा में प्रकाशित हुई है। उनसे पहले डॉ प्रभाकर क्षोत्रिप्र अक्षरा में रहे हैं। उनको उन्होंने नया रूप दिया। अक्षरा पहले त्रैमासिक थी। इस समय वह द्वैमासिक हो गई। साहित्य अकादमी की पत्रिका समकालीन भारतीय साहित्य भी त्रैमासिक से द्वैमासिक हो गई है। उसका अनुकरण अन्य पत्रिकाओं ने भी किया। मुझसे कहा कुछ पुस्तकों की समीक्षा लिखकर भेजो। सामने एक ओर रखी हुई अलमारी दिखलाई और कहा, वहाँ जाकर पुस्तकें चयन कर लो। मैं चार पुस्तकें चयन कर लीं। वे उन्होंने मुझे दे दी। दो पुस्तकों की समीक्षाएँ बाद में उन्होंने छापी। नपी-तुली बात करते हैं। उनकी बातचीत में सद्भावना का मैंने अनुभव किया। सरकारी कामों को करते हुए समय निकाल कर लेखन किया है। उनसे पत्र-व्यवहार भी हुआ है। पत्र लिखने पर उत्तर मिल जाता था। उनके घर जाने का विचार था। पता ले लिया और ड्राइवर से कहा कि दूसरे दिन घर पर जाना है। ड्राइवर ने ठीक कहा। उसके बाद ड्राइवर हमें सीधे भारत भवन ले गया। दोपहर का समय था। इटरवल के बाद का समय था। टिकट लेना पडा। हम लोग भीतर गये। स्वागत कक्ष अलग गेट के पास बना हुआ है। भारत भवन का परिचय देनेवाला एक परिपत्र ८ पृष्ठों का दिया गया। इससे मालूम हुआ कि इसका उद्घाटन श्रीमती इंदिरा गांधी ने १३ फरवरी १९८२ ई. को किया था। उसके स्थापत्य के सम्बन्ध में लिखा है—

“भारत भवन अत्यन्त मनोहारी परिदृश्य में स्थित है— एक हल्कासा ढलुआ पठार जो भोपाल की बड़ी झील और उसके पार फैले ऐतिहासिक नगर भोपाल को निहारता है। इस स्थापत्य की रचना विश्वविख्यात वास्तुशिल्प चार्ल्स कोरियाने की है। श्री कोरिया का मानना है कि अपने रूप की परिकल्पना स्वत ही निहित थी। उन्होंने बड़ी झील की दिशा में उतरते हुए उद्यानों की एक शृङ्खला

की परिकल्पना की थी। आज भवन की ऊपरी सतह से प्रवेश करते हैं और उसके विभिन्न हिस्सों तक पहुँचाने के लिए प्राणों के बीच के विन्यास के बीच से गुजरते हुए उसके पठिकानुमा मेरुदण्ड की दिशा में पहुँचते हैं। भवन के सारे हिस्से अपने आप परिभाषित होते चलते हैं। इसी के साथ वे अत्यन्त सहजता के साथ एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। श्री कोरिया की यह आकाशा रही है कि स्थापत्य का प्रभाव एकनीरस औपचारिक संग्रहालय का न होकर रमणीयता का हो, उसकी आकस्मिकता बराबर बनी रहे। . . .”

(परिपत्र म उद्धृत)

भारत भवन के प्रभाग इस प्रकार बतलाए गए हैं —

- रूपंकर : आधुनिक और आदिवासी लोक कला केन्द्र तथा संग्रहालय।
- रंगमंडल . एक पूर्णाकालिक रेपटरी।
- वागर्थ . भारतीय कविता केन्द्र और पुस्तकालय।
- अनहद . शास्त्रीय और लोक संगीत का केन्द्र।
- आश्रम . अतिथि कलाकारों के लिए आवास।
- निराला सृजनपीठ . अतिथि कलाकारों के साथ स्थानीय कलाकर्मियों की अन्तर्क्रिया का केन्द्र।

परिपत्र में इन प्रभागों के कार्य और गतिविधियों की जानकारी दी गई है। आलोचना त्रैमासिक 'पूर्वग्रह' का प्रकाशन होता है। उसके प्रधान सम्पादक अशोक वाजपेयी हैं और सम्पादक मदन सोनी हैं। मैं भीतर गया। हम दोनों ने घूमकर भवन देखा। दिखलानेवाला कोई साथ में नहीं था। जितनी क्षमता थी। उतनी दूर तक चलकर सब कुछ देखा। सामने झील देखी। मनोरम दृश्य है। कलाकारों का तीर्थस्थान है। साधना करने के लिए उत्तम स्थान है। कार्यालय में गया। पूर्वग्रह — का वार्षिक शुल्क दिया। एक अंक मुझे उसी समय मिला। सौंदर्य बोध में, चित्रकला में मेरी आगम्य से अभिरुचि रही। किन्तु उसके लिए मुझे समय ही नहीं मिला। शोध कार्य में उलझा हुआ व्यक्ति कला की ओर कैसे उन्मुख हो? भारत भवन को देखकर कलाओं के प्रति आकर्षण बढ़ा तथा जिज्ञासा बलवती हुई। बैठने को जी चाह रहा था। बैठ नहीं सके। वहाँ से हम राजुरकर 'राज' के आवास पर पहुँच गए। दूसरे दिन की योजना बनानी थी। राजुरकर

राज मिल गये। दूसरे दिन श्री गोविंद मिश्र, डाॅं रमेशचन्द्र शाह से मिलना था। मध्यप्रदेश कला परिषद देखना था। भागत भवन के निकट ही पहाड़ी श्रृंखला में विशाल उद्यान था, वह भी देखना था। वह देखने की योजना बनी। कला परिषद भी जाना था। योजनानुसार सबेरे हम जानेवाले थे। हमें बतला दिया गया कि टेक्सी कल तक के लिए है। तीसरे दिन हमें साँची जाना था। राजुरकर 'राज' ने हमें कैसे जाना ? समझा दिया।

दूसरे दिन हम टेक्सी से पहले गोविंद मिश्र के आवास पर गये। उनका आवास अरेरा कालोनी में था। HY-९४, ई-७, अरेरा कालोनी, भोपाल ४६२०१६ — उनका पता है। बगला है। भीतर गये तो गोविंद मिश्र मिल गये। उनका व्यास सम्मान उन्हीं दिनों में हुआ था। श्रीमती गोविंद मिश्र भी मिलीं। हम लोग बैठे रहे। किसी योजना पर काम कर रहे थे। 'अक्षरा' की सामग्री की चिन्ता रहती थी। अक्षरा को बाद में उन्होंने छोड़ दिया। उस समय पत्र लिखा। उस दिन तो विशेष बात नहीं हुई। पंडित काशीराम शर्मा के साथ में वे रहे थे। उनके कारण ही परिचय हुआ था। पंडितजी के सम्बन्ध में कुछ बतलाया नहीं। उनसे, मैंने Bio-Data लिया। व्यास सम्मान की पुस्तिका मिली। वहाँ से हम लोग सीधे डाॅं रमेशचन्द्र शाह के आवास पर गये। मिल गये। उस समय वे निराला सृजन पीठ के निदेशक थे। प्रोफेसर्स कालोनी में C-१६५/१, बगले में रहते थे। उनके साथ बातचीत हुई। उनकी एक पुस्तक की समीक्षा मैंने लिखी थी। पुस्तक का नाम 'सबद निरन्तर' है। प्रकाशक बीकानेर का है। समीक्षा 'प्रकर' में जनवरी १९८८ के अंक में छपी थी। उस पुस्तक के नाते से मैं उन्हें जानता था। वे अंग्रेजी विभाग में कार्य करते रहे। उनके सृजनात्मक लेखन से मेरा परिचय नहीं है। उनसे बातचीत हुई। मैंने उन्हें कुछ अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत किया। उनके चिन्तन की मैं सराहना करता हूँ। 'मलयज की डायरी' में मलयज के साथ रमेशचन्द्र शाह के सम्बन्ध उजागर हुए हैं। उनसे मिलना और बातचीत करना, मेरे लिए लाभदायक रहा। बाद में उनके साथ पत्र-व्यवहार हुआ है और आज भी जारी है। इस समय उन्होंने निराला सृजन पीठ का निदेशक पद छोड़ दिया है। अब उनका नया पता है — M-४, निराला नगर, भद्रभद्रा गेड, भोपाल-४६२ ००३।

बाद में हम उद्यान देखने गये। वह पहाड़ी पर है। ड्राइवर को भी गाड़ी ऊपर ले जानी पड़ी। प्रवेश द्वार के निकट के मैदान पर उमने गाड़ी रोक दी।

हम लाग भीतर गय । भीतर भी ऊपर चढना पडा हे । बीच-बीच मे अलग-अलग कक्ष है । छोटे-बडे है । उनमें प्रदर्शनी है । कलाओ के नमूने है । चित्र है । प्रत्येक कक्ष मे व्यक्ति बैठा हुआ है । वह सब समझाकर कहता है । मध्यप्रदेश की सस्कृति को समझानेवाले — ग्रामीण और आदिवासी परिदृश्य है । प्राकृतिक नमूने अधिक है, जो अपने आप मे सब कुछ कहते है । फिर भी समझाने के लिए लोग बैठे हुए है । लगता है, उद्यानो को प्राकृतिक स्वरूप मे रखना ठीक समझा गया है । एक कक्ष से दूसरे कक्ष की ओर जाते समय ऊपर चढना पडता है । कही उतरना भी पडता है । वह मैदानी भाग नहीं है । हम तो चढते-उतरते थक गये । प्यास लगी तो पानी पीने के लिए पुन ऊपर चढना पडा । ऊपर गये । बेचो पर बैठकर पानी पिया । काफी पी । कुछ आराम किया । और ऊपर हम गए ही नहीं । धीरे धीरे उतरने लगे । लौटते समय फूलो के पौधों के कतारो के बीच से गुजरे । इससे थकान कुछ दूर हुई । वहाँ से हम लोग सीधे कला परिषद गए । कार्यालय खुला था । किन्तु कमलाप्रसाद वहाँ उपस्थित नहीं थे । हमे कहा गया कि खजुराहो के फेस्टिवल मे गए हैं । अभी लौटे नहीं है । पर्यटको एव विषय के जानकारो के लिए फेस्टिवल के नृत्यो का विवरण प्रस्तुत करनेवाली पुस्तिकाएँ वहाँ पर दी गई । मार्च की ६ और १२, १९९९ के बीच फेस्टिवल का आयोजन हुआ था । उससे पहले फरवरी १२ से २१, फरवरी १९९८ मे भी आयोजन हुआ था । दोनो की पुस्तिकाएँ दी गई । कलाकारो का सचित्र विवरण था । जो देख सके वह देख लिया । इसके बाद कहीं गए हो तो मुझे याद नहीं । राजुरकर 'राज' हमें सायकाल मे मिलनेवाले थे । ड्राइवर ने हमे ट्विकल होटल मे छोड दिया । उसी होटल के निकट मार्किट था । हम लोग मार्किट गए । बच्चो के लिए कुछ कपडे (सिले हुए कपडे) खरीदे । वही पर होटल मे गए । कुछ खा-पीकर लौटे । दूसरी दिशा मे फोन करने के लिए टेलीफोन बुथ खोजते-खोजते हम जिस दुकान पर पहुँचे वह उज्जैन की जानकारी रखता था । मुझे उज्जैन मे भगवतीलाल राजपुरोहित से मिलना था । टेलिफोन बुथ जिस दुकान पर था, वह दुकान श्री अरुणा शर्मा की थी । अरुणा शर्मा भगवतीलाल राजपुरोहित को जानता था । उसने आवास का पता दिया । कहा — 'दानीगेट के पास राजपुरोहित मेडीकल स्टोर है । उसी स्टोर पर भगवतीलाल के दोनो पुत्र बैठते है । कोई-न-कोई मिल जाएगा । उनके साथ घर पर चले जाना । उस स्टोर से लगी हुई गली में भीतर जाने पर घर मिलेगा ।' नाम तथा पता लिख लिया ।

दूसरे दिन सबेरे नौ बजे हमारी ट्रेन थी। उससे हम दोनों साँची गए। दिन में बारह बजे हम साँची पहुँच गए। सीधे बस अड्डे पर गए। वहाँ से ऑटो साँची की ओर आवागमन करते रहते हैं। जाने-आने का ऑटो करना पड़ता है। जानेवाले पैदल भी चले जाते हैं। हम लोग ऑटो में गए। साँची का स्तूप दूर से दिखलाई देता है। रेलवे स्टेशन आने से पहले ही ट्रेन में बैठे बैठे साँची के स्तूप को दूर से मैंने देखा है। एक्सप्रेस गाड़ियाँ ठहरती नहीं। देखते-देखते स्तूप ओझल हो जाता है। गाँव बड़ा नहीं है किन्तु पर्यटक लोग पहुँचते रहते हैं। इसीलिए स्टेशन भी है और बस अड्डा भी है। यात्रियों की भीड़ के कारण होटले भी हैं। बस अड्डे के पास प्रदर्शनी है। भीतर जाकर प्रदर्शनी देखी। बाद में ऑटो में साँची गए। डेढ़-दो किलोमीटर ही जाना है। चढाई है। इसीलिए ऑटो ही सुविधाजनक है। ऑटो थोड़ा धूमकर जाता है। हम पहुँच गए। वहाँ हमें न चाहने पर भी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं। सब जगह ऑटो पहुँच नहीं सकता। साँची के स्तूप की गोलाई का विस्तार है। उसके शिल्प की अलग पहचान है। इसीलिए उसकी ख्याति है। सारनाथ में भी स्तूप है। और स्थानों पर स्तूप हैं। अजंता की गुफाओं में भी स्तूप है किन्तु इतना विशाल स्तूप और कहीं देखने नहीं मिला। स्तूप के निकट जाने पर द्वार के समीप सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियों पर ऊपर चढ़कर पूरे स्तूप को चक्कर लगाकर देख सकते हैं। स्तूप के सामने नीचे मैदान है। पेड़ लगे हुए हैं। उनकी छाया में बैठ सकते हैं। स्तूप के द्वार की नक्काशी आज भी दर्शकों को आकृष्ट करती है। बौद्धकालीन अवशेष है जो अपने अतीत के वैभव को दर्शाती है। हम लोगो ने चक्कर लगाए और नीचे उतर गये। पेड़ की छाया में बैठकर नीचे का दूर-दूर तक का दृश्य निहारते रहे। समूह के समूह चले आते हैं। घूमते-फिरते हैं और चले जाते हैं। आधा घण्टा बैठकर विराम करने के बाद हम नीचे आ गए। हमारा ऑटो प्रतीक्षा में था। हम लोग लौट गए। लौटते समय हमें तुरन्त बस मिल गई। दोपहर के तीन बजे गए थे। तीन घण्टे में, लगभग ६ बजे हम लोग टिबकल होटल में पहुँच गए। दूसरे दिन योजनानुसार हमने होटल छोड़ दिया और सामान लेकर सीधे राजपुरकर 'राज' के घर पर नेहरू नगर गए। वही पर भोजन किया। सामान उन्हीं के घर पर रखकर, एक दिन के लिए आवश्यक सामान ले लिया। संभवत उस दिन छुट्टी थी। दोनों पति-पत्नी घर पर ही थे। मराठी भाषी परिवार, मध्यप्रदेश में बसा हुआ है। ऐसे कई परिवार भोपाल में हैं। मध्य-प्रदेश में जगह-जगह पर है। मराठी बोल लेते

है किन्तु व्यवहार में खूब हिन्दी बोलते हैं। मराठी का व्यवहार घर तक ही सीमित है। नौकरी करते हुए ये साहित्यिक सेवाकार्य करते हैं और प्रकाशन भी करते हैं। साहित्यकारों की सहायता भी करते हैं।

हमें सायंकाल में रेलवे स्टेशन से नौ बजे 'उज्जैन' के लिए ट्रेन मिल गई। रात में बारह बजे के बाद में हम लोग उज्जैन पहुँच गये। बाहर के होटल के पते श्री अरुण शर्मा ने दिये थे। मैंने स्टेशन पर पूछ-ताछ की। रिटायरिंग रुम चाहिए था। वह टिकट के आधार पर मिलता था। थोड़ी प्रतीक्षा के बाद रात में २ बजे हमें रुम नं० ३ मिल गया। चौबीस घण्टे के लिए मिला था। दूसरे दिन सबेरे पाँच बजे हमारी लौटनेवाली ट्रेन थी। यथासमय हमने तीन घण्टे के लिए अनुमति प्राप्त कर ली। कमरे में पूरी व्यवस्था थी। रात में सो गए। सबेरे तैयार हो गए। स्टेशन से बाहर आए। हमें उज्जैन नगर घूमकर देखना था। मालूम हुआ कि स्टेशन के पास ही बस अड्डा है। वहाँ से नौ बजे बस सिटी घूमाने के लिए जाती है। काउंटर पर पहुँचकर दो टिकट ले लिए। यथासमय बस निकल गई। सड़कें अच्छी नहीं हैं। उज्जैन—प्राचीन नगरी है। उसका प्राचीन रूप आज भी बना हुआ है। मध्यकालीन अवशेष अधिक हैं और आस पास में प्राचीन अवशेष हैं। सब से पहले हमारी बस 'महाकाल' के मन्दिर के पास ठहरी। मन्दिर विशाल है। प्राण उतना बड़ा नहीं है किन्तु भीतर से उसका विस्तार अधिक है। दर्शन के लिए पक्ति में खड़े रहकर जाना पड़ता है। नियमित मार्ग बना हुआ है। क्रम से हम लोग भीतर गए। दर्शन किया। कालाहम्ती का शिवजी का मन्दिर भी विशाल है किन्तु वह पूरा पत्थर का है। दक्षिण का शिल्प उसमें है। कालाहम्ती में मन्दिर के समीप स्वर्णमुखी नदी है किन्तु अब उसमें जल नहीं है। उज्जैन में शिप्रा है। देखी नहीं। मन्दिर से बाहर आए। चित्त शान्त हुआ। कुछ देर बैठे रहे। बस में पुनः पहुँचना था। वहाँ से वह और कहाँ ले गया? ठीक से याद नहीं किन्तु अब हम नगर से बाहर की सड़क पर आ गए थे। बस हमें भर्तृहरि की गुफा की ओर ले गई। पाताल गुफा है। पर्यटक वहाँ पहुँचते हैं। बस सीढ़ियों के पास तक पहुँचती है। वहीं उतर जाती है। पाताल गुफा के लिए हमें नीचे उतरना पड़ता है। उन सीढ़ियों को देखकर डर गया। नीचे जाने का साहस नहीं हुआ। यात्री तो दौड़ रहे थे। जैसे-तैसे साहस कर गुफा के द्वार तक पहुँच गए। भीतर नहीं गया। जानेवाले गए। भीतर के गुफा की कल्पना कर ली। ऊपर की ओर देखा और सोचा, साधना के लिए

व्यक्ति कहाँ-कहाँ पहुँचता है ? सोच-विचार के लिए सामग्री मिली । यात्रिया के साथ-साथ धीरे धीरे ऊपर लौट आए । और कुछ देखा हो तो स्मरण नहीं । बारह बजे तक हम उज्जैन स्टेशन पहुँच गए । स्टेशन से सीधे हम सिटी बस द्वारा दानीगेट गए । दानीगेट के पास राजपुरोहित मेडीकल स्टोर मिल गया । भगवतीलाल का पुत्र मिल गया । वह हमें घर पर ले गया । भगवतीलालजी मिल गए । कालिदास के साहित्य का खूब अध्ययन किया है । कालिदास पर उनकी पुस्तकें छपी हैं । महाराजकुमार डॉ. रघुवीरसिंह के कारण मैं उनके नाम से परिचित हूँ । मिलने का अवसर उस दिन मिला । हम लोग जल्दी घुल मिल गये । श्रीमती भगवतीलाल ने हमारे भोजन की व्यवस्था कर दी । भगवतीलालजी मूल रूप में संस्कृत के व्यक्ति हैं । वे उज्जैन की कालिदास अकादमी से जुड़े हुए हैं । उन्होंने स्वयं कालिदास पर पुस्तक लिखी है । पुस्तक का नाम है — कालिदास का वागर्थ । कालिदास अकादमी, उज्जैन से उसका प्रकाशन १९९६ ई में हुआ है । उस समय वे सांदीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उज्जैन में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर थे । भोज राजा पर विशेष कार्य किया है । उन्होंने राजा भोज पर ही शोध प्रबन्ध लिखा है । उनसे बातें होती रहीं । पारिवारिक स्तर पर मिलना हुआ । हम लोग ऊपर गये । भोजन किया । इसीमेंे ढाई-तीन बज गए । हमें डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के घर जाना था और डॉ. शिवमगलसिंह 'सुमन' जी से भी मिलना था । उनका पता दिया । कैसे पहुँचना यह भी बतलाया । हम लोग सीधे सिटी बस से उज्जैन विश्वविद्यालय के परिसर में पहुँच गये । वहाँ से पूछते-पूछते डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी के घर पर गये । उनका अपना बंगला बन गया है । इस समय, स्टेट बैंक कालोनी २, देवास रोड में रहते हैं । पहले विश्वविद्यालय आवास में रहते थे । घर पर मिल गये । बात हुई । मैंने कहा — 'आपका ग्रंथालय देखना है ।' भीतर ले गए । अपने टेबल के पास बैठाया । वहीं बैठकर बातें की । ग्रंथालय में बहुत-सी पुस्तकें थीं । मैं सब देख नहीं सका । उन्होंने अपने आलेखों की अनुमुद्रित प्रतियाँ दीं । लगभग पंद्रह-बीस थीं । औरंगाबाद लौटने के बाद उन्हें जिल्द का रूप दिया । राममूर्ति त्रिपाठी की पुस्तक हो गई । पुरानी पीढ़ी के आचार्य हैं । काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान हैं । आचार्य शुक्ल पर सगोष्ठी अमृतसर में हुई थी । उसमें मैं भी गया था । उस समय डॉ. विश्वभरनाथ उपाध्याय और राममूर्ति त्रिपाठी में बहस हो गई थी । त्रिपाठीजी, उपाध्यायजी के प्रश्नों का उचित उत्तर दे रहे थे । ऐसे आचार्य बहुत कम रह गये हैं । मैं तो केवल देखने और मिलने गया था । त्रिपाठीजी

ओरंगाबाद आए है । घर पर भी आए हैं । उनमें मिलकर हम लोग 'सुमन' जो से मिलने गये । उदयन मार्ग पर उनकी कोठी थी । पहुँच गये । कुछ पैदल चलना पडा । पहले श्रीमतीजी मिली । भीतर सूचना देने पर वे तैयार होकर ही आए । कहीं बाहर जानेवाले थे । झाड़कर तैयार था । कुछ देरी से पहुँचता तो मिलते नहीं थे । उनसे पत्र-व्यवहार हुआ है । पत्रों के उत्तर मिले हैं । शुक्लाजी पर लिखे सस्मरण को मैंने अपनी पुस्तक चिन्तामणि चिन्तक रामचंद्र शुक्ल पुस्तक में सम्मिलित किया है । मैंने उनसे Bio-data मागा । कहा — 'डाक से भेजूंगा ।' अभी मुझे निकलना है । खडे हो गए । फिर झाड़कर को बुलवाया कहा — 'इन्हे गेट से बाहर बस अड्डे तक छोड़ आओ । हम लोग बस अड्डे पहुँच गए और वहाँ से सिटी बस द्वारा स्टेशन आ गए । स्टेशन पर गत में उतरना पडा । अनुमति मिल गई थी । सबेरे पॉच बजे हमें भोपाल की ट्रेन मिली । उससे हम सबेरे आठ बजे भोपाल पहुँच गए । एक दिन भोपाल में पुन उतरना पडा । हमारी ट्रेन रात्रि में बारह बजे के आसपास थी । कुछ ऊपर के मिनट थे । हम ने वह दिन सबेरे से दोपहर तक का समय राजुरकर 'राज' के घर पर गुजारा । वहाँ से सामान लेकर टिवकल होटल पहुँच गये । मामान रखा । हम उतरना नहीं था । वहाँ से स्टेशन ही जाना था । चार-छ घण्टे सामान वहाँ पर रहा । होटलवाले ने अनुमति दे दी । मामान रखकर मार्केट में घूमते रहे । दूसरी सड़को पर गये । कलाकृतियों देखीं । फैशन के नमूने देखे । रात्रि में दस बजे हम वहाँ से अपना सामान लेकर स्टेशन निकल गए । स्टेशन पर यथामय हमें ट्रेन मिल गई । रात्रि के बारह बजने के बाद तिथि बदल गई । दूसरा दिन हो गया । दोपहर में साढे बारह बजे हम औरंगाबाद स्टेशन पर थे । घर पहुँच गये ।

□ □

बैंगलौर-त्रिवेन्द्रम् तथा कन्याकुमारी

(१३-४-१९९९ ई. से २४-४-१९९९)

कन्याकुमारी देखने की इच्छा रही । भोपाल जाने से पहले से योजना थी । उससे पहले भुवनेश्वर जाते समय जब डॉ भीमसेनजी निर्मल से मिला था ; तब मैंने त्रिवेन्द्रम् के सब पते लिख लिए थे । मेरा बैंगलौर का काम भी अधूरा था । उसे पूर्ण करना था । त्रिवेन्द्रम् में डॉ. विश्वनाथ अय्यर का पता मिला गया । उनको पत्र लिखा । उत्तर मिला गया । उसके बाद त्रिवेन्द्रम् विश्वविद्यालय में डॉ रवीन्द्रनाथन को भी पत्र लिखा । उनका भी सकारात्मक उत्तर मिला । दोनों के फोन नम्बर भी मिला गये । बैंगलौर से ही सीधे त्रिवेन्द्रम् जानेवाली ट्रेन मिलती है । इस बार

मैन सिक्कराबाद की यात्रा नहीं की। कर्नाटक एक्सप्रेस से सीधे बैंगलौर जाने का विचार किया। के. के. से जाने का आरक्षण मिल गया। किन्तु लौटने का नहीं मिला। अतः बैंगलौर से परभणी होते हुए औरंगाबाद का आरक्षण मिला। जाने का आरक्षण करने के बाद हम लोग मनमाड गए। K K वहाँ यथासमय मिली। दूसरे दिन १४ अप्रैल १९९९ का हम लोग बैंगलौर पहुँच गए। बैंगलौर में मैंने सुशीला को पत्र लिख दिया था। उन दोनों को भी यात्रा में कन्याकुमारी चलना था। पहले तो तैयार थे। बाद में उन्होंने आरक्षण नहीं किया। इसीलिए त्रिवेन्द्रम् का हम दोनों का आरक्षण धर्माचंद को करने के लिए कहा। दो दिन त्रिवेन्द्रम् में ठहरना था। और एक दिन कन्याकुमारी में। इसीलिए तीन दिन के अन्तराल से लौटने का आरक्षण बैंगलौर में ही कर लिया। धर्माचंद टिकट लेकर आ गया। जाने का टिकट कन्फर्म नहीं था। बाद में हो गया। पहली बार बैंगलौर से नीचे दक्षिण में जा रहा था। इससे पहले कालिकट गया था। इसी तरह मैंगलौर भी गया था। किन्तु कोयम्बटूर से नीचे दक्षिण में गया ही नहीं था। पश्चिमी घाट के अन्तिम सिरे तक की यात्रा थी। बैंगलौर से त्रिवेन्द्रम् चौबीस घण्टे से कुछ ऊपर के घण्टों की यात्रा है। यात्रियों की भीड़ के कारण उस दिन ट्रेन में एक डिब्बा अधिक जोड़ा गया था। इसीलिए हमारा टिकट कन्फर्म हो गया। बैंगलौर से हम लोग १५ अप्रैल १९९९ ई. को सबरे ९ बजे बैठे। दूसरे दिन सबरा होने से कुछ पूर्व त्रिवेन्द्रम् पहुँच गये। सब कुछ नया था। स्टेशन पर टेलीफोन बुथ पर जाकर मैंने डॉ. विश्वनाथ अय्यर को फोन किया। बोले — 'त्रिवेन्द्रम् होटल में आपका कमरा बुक हो गया है। दूसरी बात उन्होंने यह बतलाई कि स्टेशन पर ऑटो का पुलिस बुथ है। वहीं पर ऑटो का ले। वह ऑटो आपको त्रिवेन्द्रम् होटल में पहुँचा देगा। मैं वहीं आकर मिलता हूँ।' तदनुसार हम लोग त्रिवेन्द्रम् होटल में पहुँच गये। हमारा कमरा हमें मिल गया। त्रिवेन्द्रम् होटल के सामने जो बड़ी सड़क है, उसकी दूसरी ओर केरल की विधानसभा और केरल सरकार के अन्य कार्यालय हैं। होटल में बैठकर हम लोग तैयार हों इससे पूर्व ही डॉ. विश्वनाथ अय्यर आ गए। आयु में मुझे से बड़े हैं। पहले कोचीन में थे। सेवानिवृत्त होने के बाद त्रिवेन्द्रम् में रहने लगे। उनके साथ बात हुई। प्रमत्त भाव से मिले। मुझे त्रिवेन्द्रम् के महत्त्वपूर्ण स्थल देखने थे। तदर्थ उन्होंने पर्यटकों के लिए बस में आरक्षण मिलनेवाला स्थल का परिचय दिया। बस वही से निकलती है। हम लोग तो उसी दिन तैयार होकर पहले बस स्टैंड

गये । टिकट काउण्टर खोज लिया । दो टिकट हमें मिल गये । डॉ विश्वनाथ अय्यर मे हमने बिदा ली । उनसे मिलने उनके घर पर जाना था । वह दूसरे दिन हुआ । उन्होंने कहा मैं स्वयं आऊगा और घर पर ले चलूंगा ।

त्रिवेन्द्रम् मे उस दिन हमने क्या क्या देखा ? क्रमश वतलाना कठिन है । जहाँ तक मुझे याद है, वहाँ का विशाल मन्दिर 'पद्मनाभनजी' का मन्दिर याद है । उस मन्दिर के पास मे ही राजमहल है जो अब प्रदर्शनी में बदल गया है । मन्दिर भी विशाल है और राजमहल भी विशाल है । पद्मनाभनजी के मन्दिर में प्रवेश करने के लिए पुरुषों को पोपाख बदलनी पडती है । वस्त्र उतारना और दूसरे वस्त्र पहनना पडता है । यह सब तो मुझ मे नहां हुआ । मैंने बाहर से ही मन्दिर देख लिया । स्त्रियो को भीतर जाने की अनुमति थी । वह चली गई । मन्दिर के विशाल प्रवेश द्वार के समीप पत्नी की प्रतीक्षा में खडा रहा । उसे अब पूछता हूँ कि भीतर क्या देखा ? उसे ठीक से स्मरण नही । समूह का अंग बन कर गई और समूह का अंग बन कर लौटी । देख लेने और दर्शन करने का सुखद समाधान उसे मिल गया । उसके बाहर आ जाने पर हम लोग सामने की सडक पर दाहिनी ओर के राजमहल मे गये । राजमहल लम्बा ही लम्बा है । प्रवेश द्वार छोटा है । भीतर एक ओर खुला आगत है । दूसरी ओर दीर्घाँ बनी हुई है । दीर्घाँओं से गुजरने के बाद हम प्रवेश द्वार के समीप पहुँच गए । वस्तुतः वह राजमहल कलाकृतियों का प्रदर्शन स्थल हो गया है । कोई कक्ष खाली नहीं है । सालारजंग म्यूजियम की तरह कक्षों से गुजरने और बाहर आने का क्रम है । नीचे के कक्ष अलग है और ऊपर की मजिल के कक्ष अलग है । महल के सार कक्ष ठीक हैं । उन कक्षों पर प्राचीनता की छाप है किन्तु उन्हें सुरक्षित रखा गया है । हमे घूमकर देखने मे लगभग एक घण्टा लगा । लोग तो एक कमरे से दूसरे कमरे मे भाग रहे थे । उन्हें यथासमय बस में पहुँचना था । हम भाग तो नहीं रहे थे । चलते हुए देख रहे थे । इच्छा होने पर भी रुक कर देखने का समय नही था । पूर्णाकृति पेंटिन्ग के चित्र थे । दृश्यावलियों थी । जीवन के यथार्थ को दर्शावैवाले चित्र थे । उन चित्रों पर पुस्तकें देखने नही मिली । चित्र देख लेते हैं किन्तु उनकी समीक्षा करनेवाला कोई मिलता नही । चित्रों के साथ, चित्रों की समीक्षावाली पुस्तकें मिले तो चित्रों का सम्प्रेषण अधिक होगा । कलाओं के नमूने मे अभिभूत होकर हम यथासमय बाहर आए और बस में पहुँच गए ।

केरल में — दक्षिण में कलाओं के केन्द्र है । त्रिवेन्द्रम् की प्रदर्शनियों में इसके प्रमाण मिल जाते हैं । राजमहल की प्रदर्शनी तो अलग और व्यक्तिगत प्रतीत होती है किन्तु वहाँ की सरकार ने प्रदर्शनियों और वन्य प्राणियों के प्रदर्शनों (Zoos) की अलग व्यवस्था की है । विभाग का नाम है — 'Department of Museums and Zoos, Thiruvananthapuram - 33, Govt of Kerala' — वस्तुतः प्रदर्शनियों का समूह जहाँ पर है, वह स्थान अलग है । उसके प्राणण और क्षेत्र का विस्तार बहुत है । वहाँ पर प्रदर्शनियों के सामने से चक्कर लगाने में व्यक्ति थक जाता है । भीतर जाकर देखने में तो एक दिन काफी नहीं है । अलग-अलग विषयों की अलग-अलग प्रदर्शनियाँ हैं । राजा रवि वर्मा के चित्र — 'चित्र आर्ट गैलरी' में लगे हुए हैं । वह आर्ट गैलरी हमने ध्यान से देखी । राजा रवि वर्मा के चित्रों का फोल्डर खरीद लिया । फोल्डर में चयन किये हुए चित्र हैं । शकुन्तला के पूर्वराग का चित्र है । (मुख पृष्ठ पर) । अपनी सखियों के कंधे पर हाथ रखे पीछे मुड़कर दुष्यन्त को निहारती हुई शकुन्तला है । अन्तिम पृष्ठ पर हंस दमयन्ती का चित्र है । बीच के चित्रों में राम का धनुष टकार (जनक के दरबार में), आर्टिस्ट का स्टुडिओ, राजा रवि वर्मा, कुछ पेन्सिल स्केच के चित्र हैं । विराट के दरबार में द्रौपदी का चित्र, रावण, सीता का हरण करते हुए — जटायु वध के बाद ज्युडिथ का तैल चित्र, — मोर, गली में नाचती किशोरियों, घूमन्तू परिवार का चित्र, दूधवाली का चित्र, महारानी लक्ष्मीबाई का चित्र । स्वयं राजा रवि वर्मा का तैल चित्र — कुछ और चित्र भी हैं । राजा रवि वर्मा (१८४८ ई - १९०६ ई) का सक्षिप्त परिचय है । उस चित्रकार का फोल्डर मैंने वहाँ खरीद लिया था । उसीको सामने रखकर यह सब लिखा है । वस्तुतः आर्ट गैलरी में राजा रवि वर्मा के मूल चित्र अपने मूल आकार में प्रदर्शित हैं । उस आर्ट गैलरी में समय अधिक गया । साथ के यात्री अलग-अलग प्रदर्शनियों घूम-घूम कर, दौड़-दौड़ कर देख रहे थे । हम लोगों ने भी कुछ और कलाओं की गैलरियाँ देखीं । शिल्प देखा, मूर्तियाँ देखीं, अलग-अलग आकारों में सजी हुई वस्तुएँ देखीं । देखकर पेड़ों के नीचे प्राणण में बैठकर आराम किया । खाने-पीने के लिए पदार्थ उपलब्ध थे । पानी भी उपलब्ध था । उसके बाद बस हमें किसी अन्य स्थान पर ले गई होगी, इसका मुझे स्मरण नहीं । बस अड्डे पर बस ठहर गई । हम लोग अपने होटल में चले गए । बहुत थक गये थे । आराम किया । मुझे त्रिवेन्द्रम् की यूनिवर्सिटी देखनी थी । इसी तरह केरल-प्राणिनि बिल्डिंग देखनी थी । वही से IJDL (International

Journal of Dravidian Linguistics) के अंक छपते हैं। हम चाहने पर भी किसी भी स्थान पर जा नहीं सके। डॉ. विश्वनाथ अय्यर आ गए थे। वे हमें अपने घर पर ले गए। उनका घर दूर नहीं था। पैदल ही हमें ले गए। रास्ते में वे एक कोआपरेटिव मार्केट में ले गए। सभी प्रकार के मसालों के पदार्थ मिलते हैं। काजू भी मिलते हैं। काली मीरची, शार्जींग और अन्य अन्य पदार्थ हैं। वहाँ पर मोल भाव नहीं होता। सामान तुला हुआ और पैक किया हुआ रखा है। आप सामान उठा लीजिए। काउंटर पर सामान दिखाकर बिल बन जाएगा। बिल का भुगतान काउंटर करने के बाद आप सामान लेकर जा सकते हैं। व्यवस्था ठीक है। सब कुछ विश्वास से काम होता है। उस दुकान से बाद में हम विश्वनाथजी अय्यर के घर पर गए। केरल का आयुर्वेद केन्द्र उनके घर के समीप ही है। वहाँ पर दूर-दूर से यात्री अपने उपचार के लिए आते रहते हैं। हम तो उनकी गली में मुड़ गए। वह ट्यूटर्स की लेन थी। लम्बी ही लम्बी गली थी। गली में एक मोड़ पर उनका आवास था। हम लोग बैठे रहे। बात हुई। उनका लेखन सृजनात्मक स्वरूप का है। उन्होंने अपनी एक पुस्तक दी। निबन्ध थे। उनकी रचनाएँ पत्रिकाओं में छपती रही हैं। हिन्दी के लिए समर्पित जीवन उन्होंने गुजारा है। कालिकट के भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन में मिले थे। उस समय भी उन्होंने अपनी एक पुस्तक मुझे दी थी। त्रिवेन्द्रम् में वे एकमात्र मेरे परिचित व्यक्ति थे। उनको साथ लेकर घूमना-फिरना संभव नहीं था। वे मेरे लिए आदरणीय व्यक्ति थे। उनका घर अच्छा लगा। अय्यरजी की साधना भूमि देखी। दूसरा दिन यो ही बीत रहा था। एक दिन हमें कन्याकुमारी देखने जाना था। उसकी तैयारी आवश्यक थी। उस दिन सायंकाल में डॉ. रवीन्द्रनाथ होटल में मिलने आए। उनके साथ एक और विभाग के सज्जन थे। उनसे बातें होती रहीं। नई पीढ़ी के लोग थे। उनके कार्य और उत्साह को देखकर प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन मुझे कन्याकुमारी जाना था। और बाद में तो लौटना था। १८ मार्च की रात्रि के एक्सप्रेस से हमें बैंगलौर लौटना था।

'JDL' के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहूँगा। इसके अंक 'तिरुअनंतपुरम्' से नियमित निकलते हैं। ये अंक वर्ष में दो बार निकलते हैं। जनवरी तथा जून में। इसी तरह के भाषा विज्ञान के नियमित अंक हिन्दी में नहीं निकलते। इन अंकों को देखकर लगता है कि हम अपनी भाषाओं का अध्ययन अपने लिए कम और विदेशियों के लिए अधिक करते हैं। हमारे देश की भाषाओं की जितनी

जानकारी अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध है, उतनी जानकारी हमारी अपनी भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। मैं इन अंकों को जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से पढ़ता रहता हूँ। डॉ. एन. के. निहलानी इंग्लिश विभाग में काम करते रहे और मैं हिन्दी विभाग में। दोनों साथ-साथ एक ही वर्ष में सेवानिवृत्त हुए—१९९३ ई. में। पहले मैं हुआ और बाद में वे हुए। हमारा आना-जाना आज भी पारिवारिक स्तर पर जारी है। निहलानी साहब केरल की उक्त सस्था के आजीवन सदस्य हैं। उनके पास IJDL के अंक नियमित आते रहते हैं। वे पढ़ने के बाद में मुझे दे देते हैं। इसीलिए खरीदता नहीं। जनवरी २००३ और जून २००३ के अंक मुझे मिल गए हैं। मैं इन अंकों का उपयोग लेखन में करता रहा हूँ। निहलानी साहब ध्वनि विज्ञान में अभिरुचि रखते हैं। उच्चारण पर उनका ध्यान रहता है। इस सम्बन्ध में हमारी बहस भी होती रही है।

मैं चाहकर भी केरल की उस सस्था में नहीं जा सका। IJDL के अंक देखता रहता हूँ।

दूसरे दिन हम कन्याकुमारी गये। सबेरे-सबेरे बस अड्डे पर गए। मालूम हुआ कि केरल का बस अड्डा अलग है और तमिलनाडु का बस अड्डा अलग है। कन्याकुमारी तमिलनाडु में है, इसीलिए हमें तमिलनाडु के बस अड्डे पर जाना पड़ा। बस हमें मिल गई। बस की यात्रा सुखद रही। ढाई-तीन घण्टे की यात्रा है। तिरुअनंतपुरम् से बाहर आने के बाद में भी हमें मालूम नहीं हुआ हम नगर से बाहर आ गए हैं। सड़क के दोनों ओर बस्तियाँ बसी हुई हैं। सब कुछ हरा-भरा है। नारियल के ऊँचे-ऊँचे पेड़ हैं। केरल के घर-आँगन में नारियल के पेड़ रहते हैं। तिरुअनंतपुरम् राजधानी है किन्तु साफ-सुथरा गाँवों का नगर है। सब कुछ खुला-खुला। प्रकृति की सजावट से सजा हुआ। ऊँची-ऊँची इमारतें नहीं हैं। विशेष-विशेष भवन कहीं ऊँचे भले ही हों। राजमहल भी दुमजला था। दुमजले घर बहुत हैं। घर में आँगन हैं और खुली जगह है। जगह की कमी नहीं है। इस पर भी लगता है—आबादी अधिक होगी। बात यह है कि दो नगरों के बीच में जंगल नहीं दिखाई देता। कौनसा गाँव कहाँ खतम होता है और कहाँ दूसरे गाँव का आरम्भ होता है। तिरुअनंतपुरम् में कन्याकुमारी तक यही स्थिति है। बस जब रुकती है और बस अड्डा दिखलाई देता है, तब अनुभव होता है कि दूसरा नगर आ गया। पहाड़ी नहीं है। मैदानी इलाका ही अधिक है।

हम लोग कन्याकुमारी पहुँच गये । हमे कही ठहरना नहीं था । बस अड्डे से कन्याकुमारी के अड्डे पर बस से ही पहुँच गये । वहाँ पर सब जगह पैदल ही घूमना था । कोई वाहन उपलब्ध नहीं । हमे तो सागर के किनारे पहुँच कर हिन्द महासागर को देखना था । बगाल की खाड़ी और अरब सागर का समाहार हिन्द महासागर मे हो जाता है । यात्रियों की भीड थी । सब के साथ हम भी सागर के तट पर पहुँच गये । दूर से विवेकानन्द की शिला दिखलाई दे रही थी । एक दीर्घाकार बृहत् चट्टान पर विवेकानन्द खडे हुए अपनी प्रसिद्ध मुद्रा मे दिखलाई देते है । उस चट्टान तक हमे नाव से जाना पडा । यात्रियो के साथ हम लोग भी नाव पर बैठ गए । बहुत अन्तर नहीं है । पन्द्रह-बीस मिनट मे हम लोग चट्टान के पास पहुँच गए । यात्रियो के साथ हम चट्टान पर चढने लगे । ऊचाई पर पहुँचना था । चट्टान पर वृत्ताकार मे मार्ग बना हुआ था । चट्टान को सजाया संवारा गया था । मिट्टी थी ही नहीं । हम लोग सहज गति से ऊपर पहुँच गये । ऊपर किनारे-किनारे रेलिग थी । वहाँ से सागर का सुन्दर दृश्य दिखलाई दे रहा था । ऊपर भवन के कक्ष थे । प्रदर्शनी थी । पुस्तके विक्रयार्थ रखी हुई थी । मैंने विवेकानन्द-चरित्र पुस्तक खरीदी । १८ अप्रैल १९९९ ई को हम विवेकानन्द-शिला पर थे । विवेकानन्द चरित्र पुस्तक श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार की लिखी हुई थी । उसका पन्द्रहवाँ सस्करण था । हमारे साथ सोलापुर का दिगम्बर जैन परिवार था । वह भी हमारे साथ घूम रहा था । शिला पर दुमजला इमारत थी । कक्ष थे । साधना करने के लिए या चिन्तन के लिए उपयुक्त स्थान था । घूम फिर थक गये तो वही रेलिग के पास सागर को निहारते हुए विराम करने लगे । नाव जहाँ पर ठहरती है, वह स्थान ऊपर जाने पर दिखलाई नहीं देता । विवेकानन्द-शिला के कारण पर्यटको की सख्या बढ गई है । कन्याकुमारी का रेलवे स्टेशन अलग है । हमारे लौटने का स्थल कन्याकुमारी था । स्टेशन देखने गए थे । स्टेशन पर कोई विशेष भीड नहीं थी । स्टेशन देखकर लौटने के बाद हम लोग कन्याकुमारी का मन्दिर देखने गये । मन्दिर काफी विशाल है । भीड थी । पक्ति मे खडे हो गए । दर्शन हो गए । लौटकर सामने की मडक पर घूमते रहे । यात्रियों की सामग्री वहाँ मिलती है । काजू मिलते है । भुने हुए काजू हैं । कुछ कम रेट पर मिलते है । ले लिए । किन्तु वे बहुत अच्छे नहीं है । घूम फिर कर हम लोग चार-पाँच बजे तक बस अड्डे पहुँच गए । त्रिवेन्द्रम् की बस मिल गई । त्रिवेन्द्रम् पहुँचते ही होटल का हिसाब कर हम लोग

रेलवे स्टेशन पहुँच गए । यथासमय ट्रेन मिल गई । दूसरे दिन सबेर १९ अप्रैल को हम लोग बैंगलौर पहुँच गये ।

डॉ. ना. नागप्पा

त्रिवेन्द्रम् जाने से पूर्व धर्मीचंठ मुझे डॉ. नागप्पाजी के पास लेकर गया था । १४ अप्रैल १९९९ को ही मैं उनसे मिलने गया था । मैं कन्नड भाषा के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी चाहता था । उन्होंने कन्नड भाषा का विशेष अध्ययन किया है । उस विषय पर उन्होंने जो कुछ लिखा वह सब बहुत पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग १८ तथा १९ में — १४० पृष्ठों में प्रकाशित है । उन्होंने उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं किया । उन्होंने आश्चर्य किया कि त्रिवेन्द्रम्-कन्याकुमारी से लौट आओ तो पुन. मिलो । मैं सारी सामग्री की जीराक्स प्रति आपको दूँगा । लौटने के बाद जब पुन. उनके आवास पर गया तो मुझे सारी सामग्री (जीराक्स की हुई) मिल गई ! पुस्तक रूप में इसे छापने या छपवाने के प्रयत्न क्यों नहीं हुए ? यह सोचता रहा । डॉ. ना. नागप्पाजी के ये लेख १९३७-१९३८ ई. में छपे हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समय में लिखे गये हैं । इनमें उत्तर-दक्षिण की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन है । दूसरे शब्दों में आर्य परिवार तथा द्रविड परिवार की भाषाओं को एक दूसरे के सम्मुख रखते हुए तुलना की गई है । विशेष रूप से ध्वनि-विज्ञान के आधार पर भाषाओं को परखा है । ध्यान अवश्य कन्नड तथा हिन्दी पर रहा है किन्तु कन्नड के साथ द्रविड परिवार की अन्य भाषाओं के साथ भी तुलना की गई है । इसी तरह हिन्दी के साथ आर्य परिवार की अन्य भाषाओं की तुलना भी, प्रस्तुत है ।

डॉ. नागप्पाजी सामान्य रूप से यह मानते रहे हैं कि आर्य परिवार की भाषाओं का विकास-क्रम इस प्रकार रहा है — संस्कृत > प्राकृत > अपभ्रंश > देशी — भाषाएँ । इन देशी भाषाओं को आधुनिक भाषाएँ कहा गया है । हिन्दी आधुनिक भाषा है, उसी तरह कन्नड भी आधुनिक भाषा है । आधुनिक भाषाओं में हिन्दी और कन्नड अलग-अलग परिवार की मानने पर भी दोनों में बहुत साम्य है । इस साम्य की खोज ध्वनि विज्ञान के आधार पर (विशेष रूप से) उन्होंने की है । उनकी खोज महत्वपूर्ण है । प्राकृत भाषा और अपभ्रंश भाषा के साथ कन्नड का सम्बन्ध बतलाया है । उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि प्राकृत भाषा, संस्कृत की तुलना में कन्नड तथा अन्य द्रविड भाषाओं से अधिक सम्बन्ध रखती है । यद्यपि प्राकृत भाषा के साथ दक्षिण की भाषाओं के सम्बन्ध

को पूरी तरह उजागर नहीं किया गया है तथापि अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे कई सकेत नागप्पाजी ने दिए हैं जिससे प्राकृत के साथ सम्बन्ध बतलाना सरल हो जाता है। प्राकृत के साथ किसी भी भारतीय भाषा का सम्बन्ध बतलाना, इसीलिए कठिन हो जाता है कि बीच में संस्कृत आ जाती है। संस्कृत से मुक्त रहकर प्राकृत के साथ सम्बन्ध बतलाने के प्रयत्न होने चाहिए। यह मैं इसीलिए कह रहा हूँ कि प्राकृत भाषा (उसके विविध रूप भी) के भौगोलिक भेद मिलते हैं। इस रूप में संस्कृत भाषा के भौगोलिक रूप बतलाए नहीं जाते। यों प्राकृत संस्कृत की तुलना लोक-व्यवहार की भाषा अधिक रही है। प्राकृत के ग्रंथों का अनुवाद संस्कृत में हुआ है। संस्कृत के ग्रंथों का प्राकृतों में अनुवाद प्रायः नहीं हुआ है। प्राकृत भाषा को सुरक्षित रखने का काम संस्कृत भाषा ने किया है। यह सब होने पर भी भौगोलिक दृष्टि से प्राकृत भाषा के महत्त्व को उजागर करना है और साथ ही आधुनिक भाषाओं के साथ उसका सम्बन्ध जापित करना है। इस दृष्टि से सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए इस काम को आगे बढ़ाना है। भारतीय भाषाओं में प्राकृत भाषा ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जो संस्कृत के प्रभाव से मुक्त है। इसीलिए यह प्रश्न आज भी बना हुआ है कि संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ था प्राकृत से संस्कृत का निर्माण हुआ। इस प्रश्न का ठीक से उत्तर देने के लिए दोनों भाषाओं के भौगोलिक रूपों पर ध्यान देना चाहिए। जिस भाषा के भौगोलिक रूप अधिक मिलते हैं, उसे लोक-व्यवहार की भाषा मानना चाहिए। इस रूप में प्राकृत भाषा संस्कृत की तुलना में लोक-व्यवहार की भाषा अधिक रही है। इसीलिए प्राकृत को संस्कृतोद्भव कहना ठीक नहीं लगता। प. किशोरीदास वाजपेयीजी ने शब्दानुशासन में प्राकृत के महत्त्व को समझा और चाहा कि हिन्दी का उद्भव संस्कृत से न मानकर प्राकृत से मानना चाहिए। इस रूप में दक्षिण की भाषाओं पर भी (संस्कृत से मुक्त) विचार होना चाहिए और ऐसा करते समय प्राकृत भाषा को महत्त्व देना चाहिए। प्राकृत के मूल ग्रंथ दक्षिण भारत में (कर्नाटक में) लिखे गये हैं। विशेष रूप से जैन-दर्शन के ग्रंथ प्राकृत में लिखे हुए मिलते हैं। श्री कुन्दकुन्ददेव (विक्रम सप्त की प्रथम शताब्दी में) ने समयसार की रचना मूल प्राकृत में की है। श्रवणबेलगोल के १०५ नम्बर के शिलालेख में श्री कुन्दकुन्ददेव का उल्लेख मिलता है। प्राकृत भाषा कर्नाटक में प्रचलित न होती तो पद्य कवि आदिपुराण (भरत-बाहुबलि का वृत्त) तथा पौत्र शान्तिपुराण (सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित्र) कैसे लिखते? कन्नड के आरम्भ के महाकवि संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं से परिचित रहे हैं।

दाक्षिणात्य प्राकृत का उल्लेख मिलता है किन्तु उस पर विस्तार से लिखी हुई विशेष मामग्री नहीं मिलती ।

मूर्द्धन्य ध्वनियों पर नागप्पाजी ने विस्तार में लिखा है और सच तो यह है कि प्राकृत भाषा में मूर्द्धन्य ध्वनियों अधिक मिलती है । इस दृष्टि से स्वतंत्र रूप में विचार करने की आवश्यकता है ।

चाहता हूँ कि नागप्पाजी का उक्त कार्य पुस्तक रूप में नई भूमिका के साथ प्रकाशित हो । उनकी पुस्तक पढ़ने के बाद में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में (२००१ ई के) बेंगलौर में उनसे पुन मिलना हुआ । हिन्दी अकादमी दिल्ली की (ओर से) आयोजित सगोष्ठी में वे आये थे । उनसे मैंने निवेदन किया कि उक्त पुस्तक को शीघ्र छपवाएँ । विश्वास करता हूँ कि वे इस बात पर ध्यान देगे और उक्त पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित करवाने का प्रयत्न करेगें ।

□ □

□ २० अप्रैल १९९९ ई. को डॉ नागप्पाजी से उनके निवास स्थान पर द्रविड परिवार पर बातचीत हुई । मैंने कुछ प्रश्न पूछे । उन्होंने उत्तर दिये ।

प्रश्न द्रविड परिवार को स्वतंत्र परिवार मानने के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर पाश्चात्य विद्वानों का निर्णय है कि भारतीय आर्य भाषाएँ और द्रविड भाषाएँ पृथक् पृथक् आकर (Source) से निकली है । कतिपय विद्वान् लोग भारत में ये मानते हैं कि द्रविड भाषाएँ एक प्रकार की प्राकृत है, भारतीय मूल की है ओर उनके भारतीय आर्य भाषाओं के मेल को देखते हुए ऐसा लगता है कि ये भाषाएँ सर्वथा भिन्न नहीं है । तिलक जैसे विद्वानों का यह कथन है कि मूलत आर्य लोग पामीर के आसपास के रहनेवाले थे । और उनका मोहनजोदड़ो की सभ्यता से काफी निकट का सम्बन्ध था । यह बात विचारणीय है । यदि मोहनजोदड़ो की सभ्यता भारत में (अखण्ड भारत में) द्रविड भाषा और द्रविड जनता की सभ्यता से अत्यन्त निकट सम्बन्ध मान लेने की बात आजकल चल रही है । गोया मोहनजोदड़ो की सभ्यता में आर्य और द्रविड का सुकर मेल है । इसका ठीक ठीक आकलन करना आवश्यक है । इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

प्रश्न क्या द्रविड परिवार की भाषाएँ मॉहनजोदड़ो में आर्यों की भाषाओं से सम्पर्क में रही हैं ?

उत्तर द्रविड भाषाएँ केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं थीं। उनकी व्यापकता आजकल के मध्यप्रदेश, बिहार तक ही नहीं, अफगानिस्तान तक व्यापक थी। अफगानिस्तान में आजकल ब्राहुई — द्रविड परिवार की भाषा — (वास्तव में बलूचिस्तान, आज पाकिस्तान में) मानी जाती है। इससे यह अनुमान होता है कि द्रविड भाषाओं के साथ साथ आर्यभाषाओं का पर्याप्त साहचर्य था और उनका परस्पर प्रभाव एकदम निश्चित और असंदिग्ध है। खास करके आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की कृदन्त क्रियाएँ — इस बात का प्रमाण है कि संस्कृत में जटिल तत्र होते होते शिथिल पड़ गया और द्रविड भाषाओं से प्रभावित हो गया। क्योंकि द्रविड भाषाओं में समस्त क्रियाएँ कृदन्तमूलक हैं। प. काशीराम शर्मा की पुस्तक में जो बातें कही हैं, उनमें से अधिकांश सत्य पर आधारित हैं। उन पर विचार किया जाय।

प्रश्न द्रविड परिवार का सम्बन्ध प्राकृत से बतलाने की कृपा करें।

उत्तर प्राकृत में शब्द के मध्य में समसयुक्त व्यंजन का प्रयोग अधिक है। द्रविड भाषा में यह नियम ही है कि शब्द के मध्य में कहीं भी अमम सयुक्त व्यंजन आ ही नहीं सकता।

प्राकृत में मूर्द्धन्य ध्वनियों का संस्कृत की अपेक्षा अधिक व्यवहार देखने में आता है जैसे स वर्तते > प्रा वट्टई। उसका अपभ्रंश है वॉटे। बट्टे (कन्नड) / बाट्टे (भोजपुरी) / बाट (हिन्दी)।

कुमारिल भट्ट जो वार्तिककार रहा है, दक्षिण का है। उसने छंद पर पुस्तक लिखी है। आठवीं शताब्दी का है ? उसने द्रविड भाषाओं को प्राकृत का एक रूप कहा है।

कुछ और कहा —

- चटर्जी की पुस्तक Origin of Bengali Language पढ़नी चाहिए।
- तमिल को प्राचीन भाषा कहना चाहिए।
- कन्नड — प्राचीन कन्नड तमिल भाषा से अधिक मिलती जुलती है। होते होते स्थान भेद के कारण कन्नड भाषा कर्नाटक तक में सीमित रह

गई परन्तु महाराष्ट्र और आन्ध्र में भी — कई प्रदेशों में — कन्नड भाषा चलती है। केरल का कासरगीड कन्नड भाषा-भाषी प्रदेश है। इसी तरह तमिलनाडु में ऊटी तक कन्नड भाषा व्यापक थी।

□ मूल द्रविड भाषा से सबसे पहले तमिल पृथक हुई। तदुपरान्त कन्नड की बारी आई।

□ सातवाहनो के समय में प्राकृत भाषा का व्यवहार दक्षिण भारत में प्राचुर्य था। जैनों की प्राकृत समूचे दक्षिण भारत में चली। कन्नड साहित्य का सर्वप्रथम काल जैन-युग कहलाता है। इस युग के कवियों ने धार्मिक ग्रंथ प्राकृत भाषाओं में लिखे। लौकिक वाङ्मय में कन्नड का उपयोग किया। स्वयंभू की रामायण प्राकृत भाषा में है। डॉ. रामकुमार वर्मा इसे हिन्दी भाषा का सबसे प्राचीन रूप मानते हैं। स्वयंभू रामायण में दोहा-चौपाई की शैली है। इसी शैली में जायसी का पद्यावत और तुलसी ने मानस लिखा है। प्राकृत के कई छंद — रड्डा — कन्नड में प्रचलित हैं। प्राकृत का दोहा तथा — कन्नड का द्विपदी छंद का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह विचारणीय है।

डॉ. नागप्पाजी कहते जा रहे थे। मैं लिखता जा रहा था। वे थक से गए थे। बीच में ही उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित लेखों की चर्चा की। उससे क्रम टूट गया। समय अधिक हो चुका था। अंत में लौट गया। जो वे सहज रूप में बहुत कुछ कहने की स्थिति में थे।

□ □

मिथिक सोसाइटी ग्रंथालय

बैंगलूर में मिथिक सोसाइटी ग्रंथालय, नृपतुंग रोड पर है। १९९५ ई. में जब उक्त ग्रंथालय में गया था तो एक दिन ही मिला था। बैठकर कुछ विशेष कार्य नहीं हुआ था। इस बार मेरे पास २० से २२ अप्रैल तीन दिवस थे। मेरा आरक्षण २२ अप्रैल का रात्रि की गाड़ी से था। अंत तीन दिन मैंने उक्त ग्रंथालय में गुजारे। कुछ पुस्तकों का प्रकाशन उक्त सोसाइटी ने किया है। वे पुस्तकें मैंने खरीद लीं। विशेष रूप से राष्ट्रकूटों के इतिहास पर, चालुक्यों तथा कदम्बों के इतिहास पर पुस्तकें मुझे वहाँ पर मिलीं। वहाँ पर एक पुस्तक ने मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। वह पुस्तक है — 'ज्ञानेश्वरीकालीन मराठी भाषेवर कन्नडचा प्रभाव'। लेखक का नाम है रानाथ श्यामाचार्य लोकापुर। उसको

दो दिन तक वही बैठका पढ़ता रहा। बाद में मैंने उमसे आवश्यक टिप्पणियाँ भी पृष्ठ सख्याओं सहित लिख लीं। उसका प्रकाशन स्वयं लेखक ने बेलगात्र सं किया है। १९९४ ई में प्रथम संस्करण छपा है। बाद में औरंगाबाद आने पर लेखक के पते पर पत्र लिखा। पुस्तक वी पी पी. से आ गई। कन्नड-मराठी के ऐतिहासिक स्वरूप को पहचानने में पुस्तक उपयोगी है। मिथिक सोसाइटी का काम पूर्ण होते ही हम लोग २२ अप्रैल की रात्रि की 'लिक एक्सप्रेस' से दूसरे दिन २३ अप्रैल १९९९ ई को रात्रि में नौ-साढ़े नौ बजे परभणी पहुँच गये। तुरन्त औरंगाबाद की ट्रेन मिल गई। २४ अप्रैल को सबेरा होने से पूर्व (रात्रि में २ बजे) हम लोग औरंगाबाद पहुँच गए। मबरे २४ अप्रैल को हम अपने घर पर थे।

□ □



वाराणसी-इलाहाबाद की यात्रा (मार्च २००० ई.)

मार्च २००० ई. के प्रथम सप्ताह में पत्नी के साथ वाराणसी गया था। परीक्षा के कार्य से गया था। गोदौलिया स्थित बेरीजी की धर्मशाला में ठहरा था। उस समय श्री कृष्णचन्द्र बेरीजी थे। वे मेरी पुस्तक 'चिन्तामणि चिन्तक रामचन्द्र शुक्ल' छाप रहे थे। बेरीजी के घर पर गया था। मिल गये। कहा — 'पुस्तक छप गई है। जित्द होने में कुछ और समय लगेगा।' वृद्ध हो गये थे। अपनी अभिरुचि की पुस्तके छापते थे। मेरा उनसे कोई परिचय नहीं था। उनके नाम का सुझाव श्री विश्वनाथजी (राजपाल एण्ड सन्ज) ने दिया। कहा इतनी बड़ी पुस्तक हम नहीं छापेंगे। श्री कृष्णचन्द्रजी से सम्पर्क करो। पुस्तक छप जाएगी और सचमुच सम्पर्क करने से पुस्तक छप गई। उसी समय श्री विश्वनाथजी ने प्रस्ताव किया — 'हमें आप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जीवनी लिखकर दीजिए।

१०० पृष्ठों में अधिक नहीं होनी चाहिए ।' मैंने पुस्तक लिख कर दी और वह पुस्तक उन्होने छाप दी ।

वाराणसी की यात्राएँ पहले भी कई बार हुई हैं । पत्नी के साथ में भी तीन-चार बार गया हूँ । १९७८ ई में डी लिट् की मौखिकी में भागलपुर जाना था । उस समय डॉक्टर साहब सेवानिवृत्त नहीं हुए थे । BHU के कैम्पस में प्रोफेसर्स क्वार्टर में रहते थे । मैं उनके क्वार्टर में ठहरा था । भागलपुर जाते समय पत्नी को और नम्मू को डॉक्टर साहब के घर पर ही छोड़ा था । भागलपुर से लौट आने पर पत्नी तथा नम्मू को वाराणसी घूम कर दिखलाया था । मार्केट भी गए थे । उस समय नमिता प्यारह वर्ष की थी । सबेरे-सबेरे डॉक्टर साहब के साथ में नम्मू को लेकर गंगा-स्नान के लिए गए । लका से एक रास्ता गंगाजी की ओर जाता है । यूनिवर्सिटी गेट से बाहर निकलते ही दाहिनी ओर का रास्ता गंगाजी की ओर जाता है । डॉक्टर साहब हमें उसी रास्ते से ले गए । हमें स्नान करने के लिए गंगा पार जाना था । गंगा पार सामने रामनगर का किला था । वाराणसी के राजासाहब का वह आवास था । इससे पूर्व मैं रामनगर जाकर आया था किन्तु उस समय राजघाट से गया था । वाराणसी से रामनगर तक बस जाती है । उससे गया था । वहाँ की प्रदर्शनी देखी थी । वह दूर का रास्ता है । उस समय तो डॉक्टर साहब हमें पैदल ही कच्चे पुल पर ले गए । दूसरे किनारे पर बहता पानी निर्मल — शुद्ध जल था । स्नान किया । उस समय नम्मू डर रही थी । डॉक्टर साहब ने उसे डुबकी दी । वह घबराई किन्तु बाद में ठीक हो गई । नम्मू को गंगाजी का वह दृश्य आज भी याद है ।

१९७८ ई चाची थी । डॉक्टर साहब इतने व्यस्त रहते कि चाची को लेकर बाहर जाने के लिए समय नहीं रहता । सदैव यात्रा पर रहते । घर पर बहुत कम रहते । किन्तु जब भी रहते और मैं वहाँ पर रहता तो उनके साथ घूमता रहता था । वे मुझे लेकर आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के आवास पर ब्रह्मनाल ले गए । डॉ शिवप्रसादसिंह के आवास पर भी मेरे साथ आए । शिवप्रसादसिंह तो उनके पडोस में गुरुधाम में ही रहते थे ।

१९७८ ई में ही मैंने डॉक्टर साहब से कहा — 'मैं चाची को लेकर रेलवे इंजिन का कारखाना देखना चाहता हूँ । नमिता को दिखलाना है ।' डॉक्टर साहब ने अनुमति दे दी । हम सब को डॉक्टर साहब ने कारखाने के समीप के गेट के पास छोड़ दिया और वे चले गए । हम भीतर गए । घूमकर कारखाना देखा ।

नम्मू प्रमन्न थी । चाचा भी बहुत प्रमन्न हुई । घूम फिर कर वहाँ के कैंटीन में गए । वहाँ पर मिठाई, नमकीन, चाय काफी — सब कुछ सस्ते दामों पर उपलब्ध थे । इच्छानुसार सबने खान-पान किया । कुछ आराम किया । लौटने में कुछ समय हो गया । अधेरा होने से पूर्व ही हम कार्टर पर पहुँच गए थे । हम लोग जब भागलपुर गए थे, उस समय नम्मू और पत्नी चाची के साथ किसी को साथ लेकर विश्वनाथजी के मन्दिर दर्शनार्थ गई थी । एक दिन बाजार घूमने में गया । उसके बाद हम लौट गए थे ।

१९७८ ई में इलाहाबाद नहीं गया था । मैं तो दो तीन बार इलाहाबाद गया था । किन्तु पत्नी के साथ इलाहाबाद नहीं गया था । इसीलिए २००० ई के मार्च में इलाहाबाद जाने की इच्छा हुई । उस समय डॉक्टर साहब को साथ लेकर वाराणसी के जैनों के तीर्थ स्थल देखे । जैनों के चार तीर्थंकरों के मन्दिर वाराणसी में और उसके आसपास में हैं । भेलूपुरा में पार्श्वनाथजी का मन्दिर है । गगाजी के घाट पर सुपार्श्वनाथजी का मन्दिर है । सारनाथ में श्रेयासनाथजी का है । वहाँ से निकट गगाजी के घाट पर एक और तीर्थंकर का क्षेत्र है । मैं अकेला जाने के लिए तैयार नहीं था । किन्तु पत्नी के आग्रह को डॉक्टर साहब ने स्वीकार किया । इसीलिए मैं तैयार हो गया । गोदौलिया से टैक्सी की और हम सब घूम आए । सारनाथ भी देखा । वहाँ पर भोजन किया । सबरे निकले थे । दो-ढाई बजे तक हम लौट आए । २००० ई में चाची नहीं थी । डॉक्टर साहब घर पर अकेले रहते । बाहर जाते तो घर बन्द रहता । इसीलिए जब तक चाची थी तब तक तो उनके घर पर ही ठहरता था । बाट में दूसरी ओर ठहरने लगा था ।

मैंने वाराणसी में जो जैन मन्दिर देखे, उनमें भेलूपुरा का मन्दिर विशाल है । वहाँ पर दिगम्बरो तथा श्वेताम्बरो के मन्दिर पास-पास में हैं । दिगम्बरों के मन्दिर का नवीकरण हो गया है । धर्मशाला भी बनी हुई है । प्रांगण भी विशाल है । उसका प्रवेश द्वार बना हुआ है । श्वेताम्बरों का मन्दिर का कार्य अपूर्ण है । कार्य जारी है । पुराने मन्दिर के अवशेष हैं । दादावाडी भी है । वहाँ पर भी सारी व्यवस्था है । मैं बहुत बार वाराणसी गया किन्तु मन्दिर में कभी नहीं गया । पत्नी के आग्रह से घूम फिर कर सब देखा । गोदौलिया से डॉक्टर साहब के घर पर — गुरुधाम — पहुँचना हो तो भेलूपुरा रास्ते में है । पार्श्वनाथजी के मन्दिर के बाहर रास्ते पर ही 'पद्मावती' का मन्दिर है । 'पद्मावती' उस

अग्नि का नाम है, जिसका उद्धार स्वयं पार्श्वनाथजी ने किया है। कथकार है —

“पार्श्वकुमार एक बार महल से बाहर का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि नागरिकों की अपार भीड़ एक ही दिशा में जा रही है। अनुचर से पता लगा — उद्यान में कमठ नामक एक घोर तपस्वी आये हुए हैं। पचासि तपते हैं। लोग उन्हींके दर्शनार्थ जा रहे हैं। कुतुहलवश पार्श्वकुमार भी वहाँ गये। अग्नि ज्वाला आकाश को छू रही थी, बड़े-बड़े लकड़ जल रहे थे। पार्श्व ने अवधि ज्ञान से जलते हुए लकड़ों में एक नाग दम्पति को देखा। उन्होंने तत्काल तपस्वी से कहा — धर्म तो अहिंसा में है, अहिंसा विहीन धर्म कैसा? तुम जो पचासि तप रहे हो इसमें तो एक नाग और नागिन जल रहे हैं। तपस्वी के प्रतिकार करने पर पार्श्व ने लकड़ को चिरवाया। उसमें से जलते हुए नाग-दम्पति बाहर आकर तड़फड़ाने लगे। पार्श्व ने उन्हें नमस्कार महामंत्र सुनवाया तथा तपस्वी पर क्रोध नहीं करने की सलाह दी। उसी समय दोनों के प्राण छूट गये। मरकर वे नागकुमार देवों के इन्द्र व इन्द्राणी — धरणेन्द्र व पद्मावती के नाम से उत्पन्न हुए। तापस का प्रभाव घट गया। उसने क्रुद्ध होकर अनशन कर लिया। मरकर वह मेघमाली देवता बना।”

(मुनि सुमेरुल की पुस्तक 'तीर्थकर चरित्र' से पृ १६०-१६१)

कथा यही समाप्त नहीं होती। आगे लिखा है —

“कुछ समय बाद प्रभु कोशावन से विहार कर आगे तापसाश्रम में पहुँचे तथा वहाँ पर बटवृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में खड़े हो गए। इधर कमठ तापस ने देव होने के बाद अवधि-दर्शन से भगवान पार्श्व को देखा। देखते ही पूर्व जन्म का वैर जाग पड़ा। भगवान को कष्ट देने के लिए वहाँ आ पहुँचा। पहले तो उसने शेर, चीता, व्याघ्र विषधर, आदि के रूप बनाकर भगवान को कष्ट दिये। किन्तु प्रभु मेरु की भौंति अडोल बने रहे। अपनी विफलता से देव और अधिक क्रुद्ध हो उठा। उसने मेघ की विकुर्णवा की। चारों ओर घनघोर घटाएँ छाने लगी। देखते-देखते मुसलधार पानी पडने लगा।

बढ़ता-बढ़ता वह घुटने कमर छाती को पार करता हुआ नासाग्र तक पहुँच गया। फिर भी प्रभु अडोल थे। तभी धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। अवधि-ज्ञान से उसने भगवान को पानी में खड़ा देखा। सेवा के लिए तत्काल दौड़ आया। वन्दन करके उसने प्रभु के पैरों के नीचे एक विशाल नालवाला पद्म (कमल) बनाया। स्वयं ने सात फणों का सर्प बनकर भगवान के ऊपर छत्री कर दी। प्रभु के तो समभाव था। न कमठ पर रोष और न धरणेन्द्र पर अनुराग। कमठासुर देव फिर भी बारिश करता रहा। धरणेन्द्र ने फटकार कर कमठ से कहा — 'रे दुष्ट! अब भी तू अपनी धृष्टता नहीं छोड़ता? प्रभु तो समता में लीन हैं और तू अधमता के गर्त में गिरता ही जा रहा है।' धरणेन्द्र की फटकार से कमठ भयभीत हुआ। अपनी माया समेट कर प्रभु से क्षमायाचना करता हुआ चला गया। उपसर्ग शांत होने पर धरणेन्द्र भी भगवान की स्तुति कर लौट आया।"

(वही पुस्तक पृ १६३)

वाराणसी में पार्श्वनाथजी के मन्दिर के पास गेट से बाहर भेलूपुरा की मुख्य सड़क पर पद्मावती का मन्दिर है। वह पद्मावती वही है, जिसका उद्धार स्वयं पार्श्वनाथ ने किया है। पार्श्वनाथजी की माता का नाम वामादेवी था और पिता का नाम अश्वसेन था।

भारत में जैन मन्दिरों में पार्श्वनाथजी के मन्दिर सब से अधिक है। नागदेवता के उद्धार की कथा पार्श्वनाथजी से जुड़ी हुई है। और भी कथाएँ हैं। 'पद्मावती' — को स्पष्ट करने के लिए मैंने वह कथा लिखी है।

इस यात्रा से पूर्व मैंने डॉ जगदीश गुप्त को पत्र लिखा था। पत्र इस प्रकार है —

'रत्नदीप'

५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा,
औरंगाबाद (महाराष्ट्र) ४३१ ००५
दिनांक १४ जनवरी २०००

आदरणीय डॉक्टर जगदीश गुप्त

मैं किसी कारणवश मार्च में वाराणसी जा रहा हूँ। वहाँ से लौटते समय इलाहाबाद आना चाहता हूँ। इलाहाबाद विशेष रूप

से — आपसे मिलने, आपके साथ दो-तीन दिन साहचर्य में गुजारने हेतु आ रहा हूँ। आपकी सप्रस्त रचनाएँ, आपका संग्रहालय, ग्रंथालय — देखने की इच्छा है। लौटने के बाद कुछ लिखूँगा। इमीलिए मैं दो-तीन दिन आपके निवास स्थान पर ही ठहरूँगा। विश्वास करता हूँ कि आपका सहयोग मिलेगा।

इलाहाबाद में आसपास के (चित्रकूट आदि) स्थलों को देखने के लिए टूरिस्ट बस होगी तो जाना चाहूँगा।

लौटने का आरक्षण मैंने इलाहाबाद से ले लिया है।

७/८/९ — मार्च २००० को वाराणसी में रहूँगा १०/११/१२ — मार्च इलाहाबाद में रहूँगा। १३ मार्च २००० को महानगरी से लौटने का आरक्षण है। विश्वास करता हूँ कि आप इलाहाबाद में होंगे। किसी कारण से आपकी व्यस्तता उन दिनों में अन्यत्र हो तो लिखिएगा।

आपका पत्र मिलने पर ही आऊँगा।

आपको जानकर प्रसन्नता होगी कि वाराणसी पहुँचने तक चिन्तामणि चिन्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल — पुस्तक छप जायेगी। श्री कृष्णचन्द्र बेरीजी उसे छाप रहे हैं। यदि पुस्तक छप गई तो पुस्तक लेकर आऊँगा।

आप स्वस्थ एवं सानन्द होंगे।

विनीत

राजमल

मार्च २००० ई. में ही वाराणसी से लौटते समय इलाहाबाद जाने का निर्णय किया। मैं तो तीन-चार बार पहले भी अपने काम से इलाहाबाद गया था किन्तु पत्नी के साथ कभी नहीं गया। पत्नी को इलाहाबाद दिखलाने की इच्छा थी। दूसरी बात, मैंने विचार कर लिया था कि वाराणसी की यह मेरी अन्तिम यात्रा होगी और इलाहाबाद भी पुनः आना नहीं होगा। डॉक्टर साहब से भी कह दिया था कि अब वाराणसी आना संभव नहीं होगा। उनसे कहा कि इलाहाबाद जाऊँगा और वहाँ से सीधे औरंगाबाद लौटूँगा। उन्होंने 'साहित्य सम्मेलन' के अतिथि भवन में ठहरने के लिए कहा।

२००० ई. में डॉक्टर साहब ८० वर्ष के हो गए थे। घर पर एकदम अकेले रहते थे। तीनों पुत्रों में से सब से छोटा संजीव घर पर ही ऊपर दूसरी मंजिल

पर रहता है। पहला मॉडल पर सजीव रहता था। किन्तु वह तो अब मध्यप्रदेश में किसी कालेज में प्राध्यापक है। उनकी पत्नी लखनऊ में काम करती है। ज्येष्ठ पुत्र अणोक B.A. में हिन्दी विभाग में गीडर है। उसका लका के पीछ की कालोनी में फ्लैट खरीद कर दिया है। डॉक्टर साहब की सेवा के लिए समय पर कोई उपस्थित नहीं रहता। वाराणसी में रहते हुए भी डॉक्टर साहब के घर पर ताला रहता है। बाहर में लोटते हैं, तब ताला खुलता है। वे अब भी मारा काम — अपना काम — स्वयं करते हैं। कहते हैं — 'मैं तो फकीर हो गया हूँ।' उन्होंने अपना साग रुपया, अपने गाँव की स्कूल के लिए खर्च किया है। गाँव में स्कूल खोल दी है। गाँव की सड़क को दुरुस्त किया और उसे मुख्य बड़ी सड़क से जोड़ दिया है। थोड़े में गुजारा करते हैं और अब भी जा कुछ मिलता है, उसमें से सजीव को देते रहते हैं। घर पर एकमात्र बही पुत्र है। फोन ऊपर सजीव के पास है। डॉक्टर साहब से बात करने का प्रयत्न करो तो फोन पर जन्दी मिलते नहीं। उनसे मैं अन्तिम बार २००० ई. में मिला हूँ। २००२ तक उनका पत्र मिलते रह। एक वर्ष हो गया — कोई समाचार नहीं मिला। और मैं उस समय लोटते समय जानता था कि अब मुझे पुनः वाराणसी आना नहीं है। इसीलिए मोचा कि इलाहाबाद होते हुए जाएँ क्योंकि इलाहाबाद पुनः आना संभव नहीं होगा।

इलाहाबाद में हम लोग डॉक्टर साहब के निदेशानुसार साहित्य सम्मेलन का अतिथि भवन में ठहरे थे। वहाँ पर ठहरने के लिए हमारा पाम नौ दिन थे। ग्यारह और बारह मार्च २००० ई.। तेरह मार्च २००० का हमारा महाभरती में अरक्षण हो गया था। ग्यारह मार्च को हम लोग सायंकाल में डॉक्टर जगदीश गुप्त के आवास पर गए। इससे पूर्व भी जब-जब इलाहाबाद गया हूँ, उनसे मिला हूँ किन्तु इस बार का मिलना कुछ ओर ही था। उनके घर पर मेहमान थे। एक दिन पूर्व ही उनके पुत्र का विवाह हुआ था। मेहमान लौटे नहीं थे। ऐसी स्थिति में भी, वे अकेले आगम कुर्सी पर बैठे हुए थे। मुझे देखते ही उठ खड़े हुए। गलत मिले। बैठाया। बात की। उनकी पत्नी व्यस्त थी। वही सब कुछ कर रही थी। उनके पुत्र भी काम कर रहे थे। जगदीश गुप्त अकेले बैठे हुए थे। थक गए थे। काम करने की स्थिति में नहीं थे। उनका सहायक वहाँ आया। उसने घूम फिर कर हमें उनका पुस्तकालय दिखाया। बात करते समय, लगता था कि उन्हें बहुत कुछ कहना है किन्तु कहने की स्थिति में नहीं है।

अपनी कविता की नवप्रकाशित पुस्तक का । १९६७ ई में उनकी प्रागैतिहासिक चित्रकला पुस्तक प्रकाशित हुई थी । मैं उसकी फोटो कापी चाहता था । तदर्थ उनके सहायक को दो सौ रुपये दिए । भिजवाने कहा । मुझे तो लौटना था । उस दिन किसी के निधन की शोक सभा थी । उममें उन्हें जाना था । जाने की स्थिति में नहीं थे । फिर भी तैयार हुए । हमसे कहा, आपको हम 'साहित्य सम्मेलन' के निकट छोड़ देगे । गाड़ी पर उनके साथ लौटे रास्ते में शोक सभा के स्थान पर उतरे तो पता चला कि शोक सभा ५ बजे के स्थान पर ६ बजे होगी । मुरली मनाहर जोशी (केन्द्रीय मंत्री) उस दिन वही पर थे । वे भी शोकसभा में आनेवाले हैं । डॉ. जगदीश गुप्त एक घण्टे तक प्रतीक्षा करने की स्थिति में नहीं थे । वे लौटना चाहते थे । हमें साहित्य सम्मेलन के निकट छोड़कर वे लौट गए ।

हमें अतिथि भवन में जाते हुए श्री हरिमोहन मालवीय ने देख लिया । उस समय वे हिन्दुस्तानी एकेडेमी के अध्यक्ष थे । 'हिन्दुस्तानी' के प्रधान सम्पादक भी थे । पहले जब मिला था, उस समय वे 'सम्मेलन पत्रिका' का सम्पादन करते थे । पहले सम्मेलन पत्रिका के प्रधान सम्पादक ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' थे । श्री हरिमोहन मालवीय मिले । बात हुई । उस दिन सवेरे हम हिन्दुस्तानी एकेडेमी गए थे । वहाँ पर देखा कि एकेडेमी बन्द है । इसीलिए एकेडेमी से लौटने से पूर्व हम लोगों ने वहाँ से निकट पं. जवाहरलाल नेहरू का निवास स्थान 'आनन्द भवन' देखा । प्रदर्शनी के लिए खुला था । दर्शनाथिया का काउंटर पर टिकट मिलता था । हमने दो टिकट लिए । नीचे और ऊपर भवन के दोनों स्थान देखे । हर कमरे से बाहर काँच लगे हुए हैं । उनके माध्यम से भीतर के कमरे को खुल रूप में देखा जा सकता है । नीचे प. मोतीलाल नेहरू रहते थे । उनके मर्भी कक्ष थे । ऊपर की ओर एक ओर प. जवाहरलाल नेहरू के कक्ष थे । और दूसरी ओर श्रीमती इंदिरा गांधी के कक्ष थे । दोनों के ही ग्रंथालय अलग-अलग रूप में हैं और वे सारी पुस्तकें वैसी ही रखी हुई हैं । टेबल-कुर्सी यथास्थान रखे हुए हैं । ऊपर ही एक ओर महात्मा गांधी का कक्ष है । जब भी महात्माजी इलाहाबाद आते वे उसी कक्ष में ठहरते थे । बड़ बड़े फोटोग्राफ्स लगे हुए थे । वह सब देखने में हमें एक घण्टे से अधिक लग गया । बाढ़ में वही पर कुछ देर आराम किया । आनन्द भवन का अहाता बहुत बड़ा है । गार्डन है, पेड़ हैं, हरियाली है । और सब की देखभाल करनेवाले लोग हैं । वह 'भवन' अब राष्ट्र को समर्पित है । कम्पाउण्ड की दीवार के निकट कमरे बने हुए हैं । उनमें प्रदर्शनी

है। फोटोग्राफ्य लगे हुए हैं। कायालय है और पुस्तक-प्रदर्शनी भी है। मैंने श्रीमती इंदिरा गांधी की एक पुस्तक 'मेरा बचपन' खरीदी। वहाँ से सीधे हम दारागंज गए। और दारागंज से लौटते-लौटते गाँव बज गये। श्री हरिमोहन मालवीय ने बतलाया कि कल सायंकाल मे १२ मार्च २००० ई. को आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का भाषण 'साहित्य सम्मेलन' में होगा। पुन मिल्गूंग कहकर वे चले गए। दूसरे दिन हम लोग 'संगम' देखने गए। इससे पहले मैंने 'संगम' का दृश्य दारागंज से—दूर से देखा था। डॉ. जगदीश गुप्त अपने निवास स्थान से नागावासुकि के मन्दिर तक ले गए थे। लेटी हुई विशाल मूर्ति दिखलाई थी। न्नाद में गंगाजी के किनारे ले गए ओर दूर से संगम दिखलाया। संगम वहाँ से बहुत दूर था। अलग से देखने पर ही उसका स्वरूप हम लोग जान सकते है। हम लोग संगम गए। ठीक उस किनारे तक गए, जहाँ से लोग नावों में बैठकर संगम-स्नान के लिए जाते है। किनारे-किनारे घूम कर गंगाजी के दूसरे छोर की ओर देखा। विशाल पट है। दोनों नदियाँ जहाँ मिलती हैं, वही तो संगम स्थल है। बीच धारा तक पहुँच कर देखना और भी मनोहर रूप देखना होता। हम लोगों ने गंगाजी के जल का स्पर्श किया। ऋंड साथ में होता तो हम नाव में बैठकर जाने और नहाकर लौटते भी। अकेले जाने की इच्छा नहीं हुई। दूर से हम देख रहे थे कि तीर्थयात्रियों की कतार लगी हुई है। नावों में बैठकर लोग संगम-स्नान के लिए जा रहे है। जिनका संगम-स्नान हो गया है, वे लौटकर आ रहे है। हम लोग घूमते रहे। सामने से पाँछे की ओर देखा तो इलाहाबाद का विगाल किला है। किले के निकट ही वाहक रुक जात है। लौटकर हम लोग किला देखने भीतर गये। वह यात्रियों के लिए पूरी तरह खुला हुआ नहीं है। नदी के षाट में काफी ऊँचा है। भीतर खुला आगन है। एक ओर लोग किले के नीचे उतरते हुए—गुफा में—हमने देखा। नीचे कोई मंदिर है। ऐसा समझ कर हम लोग गए। छत पर तो ऊपर खुला आगन है। नीचे पहुँचकर सब कुछ रहस्यमय लगा। समझाने और बतलानेवाला कोई नहीं था। भीड़ के साथ गए और निकल आए। रहस्यमयी मूर्तियाँ थीं। बाहर आने पर हमको लोटना ही था। किला देखने की अनुमति नहीं थी। संगम से लौटने के बाद हम कहीं नहीं गए। साहित्य-सम्मेलन के अतिथि भवन में उभरे रहे। उमी दिन १२ मार्च २००० ई. को आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का व्याख्यान था। भारतीय पद्धति की बैठक थी। लोग यथासमय पहुँच गए। मंच पर बैठनेवालों में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के साथ डॉ. सत्यप्रकाश

मग्न था। उस समय वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल थे। व्याख्यान का मुख्य विषय 'कवीरदास के मूल स्वरूप पर पंडे आवरण' था। उक्त व्याख्यान के साथ-साथ उन्हें एक पुस्तक का विमोचन करना था। 'नामवरसिंह के पत्र' उस समय शांति प्रकाशन, ८४/४ पुराना नेहराना, इलाहाबाद ने प्रकाशित की थी। पुस्तक में प्रकाशित ९४ पत्र श्री नारायण पाण्डेय के नाम लिखे गए हैं। ये पत्र १५-७-१९५५ (प्रथम पत्र) से ११-१-१९९७ ई. (अन्तिम पत्र) के बीच के हैं। लगभग ४२ वर्षों में समय-समय पर लिखे गए पत्र हैं। श्री नारायण पाण्डेय और पुस्तक के प्रकाशक मेरे पास में बैठे हुए थे। उन्होंने एक प्रति मुझे भेंट स्वरूप दे दी। पुस्तक का विमोचन हुआ। बाद में व्याख्यान भी हुआ। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री भारत के गिन चुने वक्ताओं में हैं। धाराप्रवाह बोलते हैं। बोलने में मञ्जता रहती है। उस दिन का व्याख्यान शोध पूर्ण था। कवीरदास के मूल स्वरूप को समझने और ठीक से समझने का उनका आग्रह था। इस मूल स्वरूप पर पंडे हुए आवरणों को वे उजागर करते गए। आच्छादना को हटाते गए। आवरणों को हटाकर मूल स्वरूप को पहचानने के लिए कहा। कवीरदास पर जिन विद्वानों ने काम किया है, उनके अध्ययनों की कथा क्रमशः उन्होंने सुनाई। सच तो यह है कि उक्त विषय पर उन्होंने शोध लेख पहले ही लिख लिया था। उक्त लेख को उन्होंने याद कर लिया था। उनकी स्मरण शक्ति गजब की है। उनके कठ मे विद्या (सम्स्वती) विराजमान है। उन्होंने आलेख पढ़ा नहीं। वेसे ही सहज व्याख्यान दिया। चण लोशन पर मेन अप्रैल २००० इ. में, समकालीन भारतीय साहित्य अंक ८८, मार्च-अप्रैल २००० का ताजा अंक देखा। उस अंक में पहला लेख वही प्रकाशित है। पूरा पढ़ डाला। लगा कि पूरा लेख यथावत (बिना भूलें) उन्होंने सुनाया है। उसके बाद अत्याहार के लिए हम सब लाग दूसरे कक्ष में गए। उस भीड़ में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री निकट आकर हम दोनों को मिले। बात करने के लिए समय नहीं था। मैंने ही सहज में कहा — 'गिमला' आने की इच्छा है। वहाँ पर आकर मिलूँगा।' शास्त्रीजी ने कहा — 'जरूर आओ।' बाद में उसी कक्ष में डा. रामकमलराय मिले। श्री हारमोहन मालवाय भी मिले। दक्षिण के दो विद्वानों से उन्होंने भेंट करवाई। उनके नाम हैं — श्री वालसुब्रह्मण्यम (चेन्नई) और दूसरे अमृतवङ्कलु शेपकुमार (नेल्लूर के)। उनका माध्वम्भ आकाशवाणी से रहा है। श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय भी मिले। वे आकाशवाणी इलाहाबाद में

दूरदर्शन में (१९८९-१९९२ ई तक) काम करते रहे हैं। श्री हरिमोहन मालवीय ने दक्षिण के दोनो विद्वानों के साथ मुझे भी सम्मिलित कर लिया। स्वयं वे अंतर मैं — इस तरह चारों के सवाद का कार्यक्रम आकाशवाणी, इलाहाबाद में आयोजित किया। उक्त कार्यक्रम १३ मार्च २००० ई को सबेरे दस बजे रखा गया। यह सारी बातचीत अल्पाहार के कक्ष में हुई। उस दिन रविवार था। दूसरे दिन दोपहर को महानगरी से १३ मार्च २००० हम लौटना था। यह मैंने श्री हरिमोहन मालवीय को बतला दिया था। उन्होंने आश्चर्य किया कि आपको ठीक समय पर स्टेशन पहुँचा दिया जाएगा।

उसी समय आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को एक और जगह जाना था। श्री हरिमोहन मालवीय ने हमारे जाने का प्रबन्ध कर दिया। उसमें कुछ विलम्ब था। तब तक एक दूसरे कार्यक्रम में गए। उक्त कार्यक्रम श्रीधर मिश्र द्वारा आयोजित था। उत्तर प्रदेश के विधानसभा के अध्यक्ष के काव्यसंग्रह 'आयुपर्ण' से सम्बन्धित था। हाल भगा हुआ था। हम लोग पीछे बैठे थे। यथासमय हम निकल गये। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के दूसरे कार्यक्रम में पहुँच गये। वहाँ पर जगदीश गुप्त पहुँच गए थे। उनसे फिर बात हुई। मंच से आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने व्याख्यान में जगदीश गुप्त की कविता सुनाई। उन्हें बहुत-सी कविताएँ याद रहती हैं। लौटते समय मैंने जगदीश गुप्त से कहा कि—आपके साथ बात पूरी नहीं हुई तो बोलें— 'बात कभी पूरी नहीं होती। शेष कुछ रहने दो।' हम लोग लौट गये।

दूसरे दिन हमें लौटना था। समय पर गाड़ी आ गई। हम लोग लौटने की सारी तैयारी करने के बाद ठीक दस बजे आकाशवाणी पहुँच गए। हमारे सहयोगी दक्षिण भारत के विद्वान पहुँचे नहीं थे। मैं परेशान था। माट्टे ग्यारह बजे पहुँचे। उसके बाद श्री हरिमोहन मालवीय ने आकाशवाणी की व्यवस्था बतलाई। संयोजन उन्होंने किया। चारों का सवाद हुआ। रिकार्डिंग हुई। आवश्यक कागजात पर सब कुछ लिखवाया गया। हस्ताक्षर हुए। इममें लगभग एक बज गया। गाड़ी पर पहुँचना था। श्री हरिमोहन मालवीय ने हमें गाड़ी दी। साहित्य सम्मेलन, पहुँचकर उसी गाड़ी में हमने सामान रखा। ठीक समय पर स्टेशन पर पहुँच गए। महानगरी हमें मिल गई। हमारी यह इलाहाबाद की अन्तिम यात्रा थी। पूरे तीन दिन व्यस्त रहे। ट्रेन में बैठकर मैंने 'नामवरसिंह के पत्र' — पुस्तक पढ़ना शुरू किया। जबलपुर तक पहुँचते-पहुँचते मैंने पूरी पुस्तक पढ़ ली।

□ □

दिल्ली तथा शिमला : पारिवारिक यात्रा (मई २००० ई.)

वाराणसी-इलाहाबाद से लौटने के बाद मैंने आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का उल्लेख घर में किया। विशेष रूप से अनिल के सम्मुख किया। अनिल शिमला की यात्रा के लिए तैयार हो गया। यह यात्रा मई २००० ई. में करनी थी। घर में चर्चा मार्च २००० ई. से शुरू हो गई। मैं स्वयं पारिवारिक यात्रा के पक्ष में था। नमिता और कैबरसाहब भी तैयार हो गए। अनिल तथा उसकी बहू भी तैयार हुए। नमिता के दोनों बच्चे चीकू (चिराग) और मितू (मिहिका) तथा अनिल के दोनों बच्चे — दिशा और दिव्या — सभी तैयार हो गए। हम दोनों तो पहले से तैयार थे। ऐसी पारिवारिक यात्रा की योजना इससे पूर्व बनी नहीं। १७ मई २००० के टिकट हमें लेने थे। १७ मई २००० ई. का हम सब लोगों का आरक्षण हो गया। योजना के अनुसार १८ मई २००० ई. को हम लोग दोपहर में दिल्ली पहुँचनेवाले थे और तुरन्त उसी दिन रात्रि में कालका मेल से कालका जानेवाले थे। कालका से आगे शिमला की ट्रेन अलग थी। इस तरह १९ मई को दोपहर में शिमला पहुँचनेवाले थे। तदनुसार मैंने शिमला को पत्र भी लिख दिया था।

आरक्षण हो जाने के बाद केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से डॉ. महावीरसरन जैन का पत्र मिला कि १९ मई २००० को सबेरे ग्यारह बजे राष्ट्रपति भवन में उपस्थित रहना है। राहुल सांकृत्यायन पुरस्कार प्रदान किया जाएगा। तदनुसार दिल्ली तक का आरक्षण हमारा ठीक था किन्तु दिल्ली से कालकाजी तक का आरक्षण कैंसल कर १९ मई की रात्रि का नया आरक्षण करना था। तदनुसार आरक्षण की तिथियाँ बदली गईं। अनिल ने शिमला फोन किया और हमारे लिए २ कमरों की व्यवस्था करवा ली। मुझे फोन से बात करने की विशेष आदत नहीं किन्तु लडके तो फटाफट फोन करते हैं और अपना कार्य कर लेते हैं। वस्तुतः हम दोनों मात्र जाते तो व्यवस्था में कठिनाई होती। अनिल साथ में था इसीलिए मैं निश्चिन्त था। २०, २१, तथा २२ मई — तीन दिन शिमला में ठहरना था। २४ को सबेरे दिल्ली पहुँचना था। पुन दिल्ली में २४ तथा २५ को रहना था। २६ मई २००० ई. की सचखण्ड से हमें औरगाबाद लौटना था। कैबरसाहब हमारे साथ दिल्ली तक रहनेवाले थे। २६ को सबेरे वे लोग जयपुर होते हुए उदयपुर (अपने गाँव) जानेवाले थे।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन पुरस्कार :

सचखण्ड द्वारा नई दिल्ली स्टेशन पर हम सब लोग १८ मई को दोपहर में

पहुँचे । हमारे साथ सामान भी बहुत था । प्लेटफार्म पर सामान उतार कर रखा । वहाँ पर केन्द्रीय हिन्दी सस्थान के लोग पहुँच गए थे । खोज रहे थे । हमें मिले और बाद में उन्होंने हमारी व्यवस्था कर दी । उनके द्वारा अतिथि भवन तक पहुँचाने की व्यवस्था थी । कुतुबमीनार के मुख्य मार्ग पर हमारा अतिथि भवन था । हमें तीन कक्ष मिल गए ।

उक्त अतिथि भवन में मेरी तरह पुरस्कार प्राप्त करनेवाले और विद्वान् और उनके परिजन ठहरे हुए थे । वस्तुतः इस पुरस्कार की घोषणा १९९८ ई. में हो गई थी और नियमानुसार पुरस्कार वितरण १९९९ ई. में होनेवाला था । उस समय सरकार बदल गई थी । चुनाव हुए । वही सरकार चुन कर आई । मुरली मनोहर जोशी का मंत्री पद वही रहा । उनके मंत्रालय द्वारा पुरस्कार दिया जा रहा था । पुनः बदली हुई तिथि में हम लोग पहुँचे थे । इस समय १९९८ ई. तथा १९९९ ई. दोनों वर्षों के सदस्य थे ।

मेरे साथ पुरस्कार प्राप्त करनेवालों में जिनको मैं जानता था, उनमें डॉ. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय (वाराणसी) थे । पुरस्कार लेने उनकी पत्नी आई थी । अतिथि भवन में भेट हुई । डॉ. विजयेन्द्र स्नातक को भी पुरस्कार मिलने वाला था । स्नातकजी उस समय नहीं थे । उनके परिवार का कोई सदस्य पुरस्कार लेने आया था । डॉ. रामविलास शर्मा का नाम भी था । आ नहीं सकते थे । और जैसे वे पुरस्कार के विशेष अभिलाषी कभी नहीं रहे । उन्होंने अपने पुरस्कार दान में दे दिए । प्रसिद्ध कहानीकार और संचेतना के सम्पादक डॉ. महीपसिंह राष्ट्रपति भवन में मिले । वाल्टर के डॉ. आदेश्वरराव थे । सूची लम्बी है । विशेष अतिथियों के रूप में प्रो. कल्याणमलजी लोढा (कोलकाता), डॉ. ना. नागप्पा (बैंगलूर), डॉ. कमलकिशोर गायनका और अनेक थे । दक्षिण भारत के विद्वान् भी थे । मैं तो नये सदस्यों से परिचय प्राप्त करने में व्यस्त था । अनिल, कँवरसाहब और बच्चे सब कुतुबमीनार देखने गये । हम दोनों नहीं गए । बच्चे सभी प्रसन्न थे । उनके लिए सब कुछ नया था ।

दूसरे दिन हमें राष्ट्रपति भवन ले जाने के लिए बस की व्यवस्था की गई थी । हमें एक घण्टा पहले पहुँचना था । नौ बजे तक तैयार होना था । सब लोग तैयार हुए । यथासमय हम लोग राष्ट्रपति भवन पहुँचे । वहाँ पर स्वागत कक्ष में गए । बच्चों को भीतर ले जाने की अनुमति नहीं थी । चीकू, मिहिका, दिशा, दिव्या — चारों के साथ किसी एक को बाहर (स्वागत कक्ष में) ठहरना आवश्यक था । फिर बाद में एक और महिला जो मध्यप्रदेश से आई थी । वह अपने बच्चे

के साथ स्वागत कक्ष में ठहर गईं। उस महिला ने कहा कि बच्चे बड़े-बड़े हैं — आप जाइए — मैं इन्हें देख लूँगी। इस तरह बच्चों को स्वागत कक्ष में छोड़कर हम लोग भीतर गए। वहाँ पर बैठने की व्यवस्था अलग थी। इसमें पहले एक बार राष्ट्रपति भवन गया था। डॉ. नगेन्द्र का षष्टिपूर्ति समारोह था। उसमें उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ दिया गया था। १९७५ ई. की बात है। प. काशीरामजी गर्मा ने अपना निमंत्रण पत्र मुझे दिया था। इसीलिए जाना हुआ था। उस समय डॉ. नगेन्द्र का सम्मान किया गया था और अभिनन्दन-ग्रंथ उन्हें दिया गया था। इस बार हम लोगों की संख्या अधिक थी। पुरस्कार प्राप्त करनेवालों को अलग से और क्रम से बैठाया गया। प्रत्येक आसन पर नाम की चिट लगी थी। हमें अपने स्थान बतलाए गए। हमें वही पर बैठना था। दर्शकों को, अतिथियों को सामने बैठाया गया था। उनकी संख्या अधिक थी। हमारे बैठते ही, मंच पर पुरस्कार लेने पहुँचने और पुनः आसन ग्रहण करने की व्यवस्था व्यावहारिक रूप में दिखलाई गई। मंच पर राष्ट्रपति के साथ, मानव ससाधन मंत्री मुस्ली मनोहर जोशी विराजमान थे। और अधिकारी-गण थे, जो व्यवस्था में लगे हुए थे। यथासमय नाम पुकारे गए। हम लोग यथासमय पहुँचते और नियमानुसार पुनः अपना स्थान ग्रहण करते थे। डॉ. महीपसिंह से वही पर बैठे-बैठे बात हुई। अनिल ने फोटोग्राफर से सम्पर्क कर लिया था। वह राष्ट्रपति भवन का विशेष फोटोग्राफर था। कनाट-प्लेस में उसका स्टुडियो था। फोटोग्राफर ने यथासमय (पुरस्कार प्राप्त करते समय का) फोटो ले लिया था। कार्यक्रम के बाद में भी और फोटोग्राफर लेने के लिए अनिल ने उसे रोक लिया था। कार्यक्रम के होते ही हम लोग दूसरे कक्ष में पहुँचे। वहाँ पर नाश्ता और चाय-काफी की व्यवस्था थी। प्रो. कल्याणमलजी लोढा से वहाँ पर बातचीत हुई। और लोग भी मिले।

इस यात्रा में हम लोग घूमने-फिरने और स्वतंत्र रूप से कहीं पर ठहरने की स्थिति में नहीं थे। साथ में परिवार था, बच्चे थे। सब के साथ में रहना था। और फिर उसी दिन रात में कालका मेल पकड़नी थी। बच्चे प्रतीक्षा में थे। हम लोग स्वागत-कक्ष में पहुँचे। बच्चे पहले ही बाहर आ गए थे। अतिथि भवन में पहुँचाने के लिए बस की व्यवस्था थी। हमें लौटना नहीं था। सबके साथ दिल्ली घूमना था। हम लोग अतिथि भवन नहीं गए। राष्ट्रपति भवन से बाहर आते ही खुले मैदान में फोटोग्राफर पहले पहुँच गया था। उसने हमारे पारिवारिक फोटो लिए। उसका पता, फोन नं. सब अनिल ले लिख लिया था।

बाद में हम लोग पैदल ही आगे बढ़ रहे थे। डॉ. महावीरसदन जैन हमारे पीछे वाहन में आ रहे थे। हमें रोका ओग पृष्ठा — 'लोकसभा, जाना है। वहाँ में फिर आगे जाएंगे। जैन साहब ने हम सब को वाहन में लोकसभा तक पहुँचा दिया। उतनी दूर तक पैदल चलना, वास्तव में कठिन ही था। लोकसभा दिखलान की इच्छा हुई। हमें स्वागत-कक्ष दिखलाया गया। मैं अकेला पहले भीतर गया ओग अधिकारी में मिलने गया। मैंने अपना परिचय दिया। उसने पुरस्कार के कागजात देखे तो सबको भीतर बुलवा लिया और बैठने के लिए कहा। हम सब लोग बैठ गये। लोकसभा का केटीन वहाँ पर था। हम लोग बारी-बारी में गए और भोजन करके लौटते गए। बच्चों का भोजन हो गया। इतने में अधिकारी ने हमें बुलाया ओर कहा — 'इनके साथ जाइए। यह आपको सब बतलाएंगे। हमें गाइड मिल गया। हम सब उसके साथ भीतर गए। पहले लोकसभा, फिर राज्यसभा और दोनों को एकत्रित बैठने के बड़े बड़े हाल देखे। दर्शक दीर्घाओं में ले जाकर हम सब कुछ ऊपर से दिखलाया। उस समय धूमने-फिरन में ही मैं थक गया था। जब बच्चे टोड-टौडकर देख रहे थे तो मुझे चलना ही था। हम लोग जैसे-तैसे पैदल ही जतर-मतर तक गये। वहाँ पर हम दोनार तो आराम से बैठ गए। अनिल, कैवरसाहब और परिवार के लोग जतर-मतर देखते रह। बाद में दोनों ही हमको एक जगह बैठाकर फोटोग्राफर से मिलकर आए। उमें फोटुओ का निर्देश दिया। तब तक फोटुएँ तैयार हो गई थीं। एक फोटो को इनलार्ज करने का आदेश दिया। उसके बाद और कहीं न जाकर सीधे अतिथि भवन पहुँचे। रात में दिल्ली स्टेशन पहुँचना था।

शिमला की यात्रा

हमारे सामान बहुत था। हम लोग कुल दस सदस्य थे। हम लोग छ ओर चार बच्चे। भागदौड करनेवाले अनिल और कैवरसाहब थे। वाहन की व्यवस्था होने के बाद हम सब लोग सीधे दिल्ली स्टेशन पहुँचे। कालका-मेल रात्रि में हावडा से आनेवाली थी। उसीमें आरक्षण था। हमें कालकाजी (अन्तिम स्टेशन) पहुँचना था। वहाँ पूरी गाडी खाली हो जाती है। यथासमय हम लोग गाडी में बैठ गये। सबेरे-सबेरे कालकाजी पहुँचे। हमारे लिए शिमला की गाडी खडी थी। सामान उतारते-उतारते एक बैग (वह नम्मू की थी) गाडी में रह गई। हम लोग दूसरी गाडी में बैठने के बाद सामान की पुन गिनती की। तब ध्यान में आया कि बैग नहीं है। अनिल और कैवरसाहब दौडकर गए। गाडी में देखा तो वहाँ से बैग गायब थी। स्टेशन मास्टर को सूचित किया। घोषित करवाया। बाद

मे बेग यथावत् मिल गई । हमारी गाड़ी छूटने से पॉंच मिनट पहले बेग मिली थी । कालकाजी से शिमला जानेवाली गाड़ी छोटी थी । पहाड़ी पर चढ़नेवाली गाड़ी थी । धीमे धीमे चलनेवाली थी । उसमें बैठना अपने आप में सुखद है । पहाड़ी घाटियों से गाड़ी गुजरती है । चढाई है । सुहावने ओर रमणीय दृश्य दिखलाई देते हैं । उसमें बैठकर देखना अपने आप में सुखप्रद है । सब लोग दृश्य देखने में मग्न हो गए । बच्चे बहुत प्रसन्न थे । देखते-देखते शिमला आ गया ।

शिमला हमें नया-नया लगा । लोग भिन्न थे । वातावरण भिन्न था । रास्ते सकरे थे । पहाड़ी पर ऊपर-नीचे गाँव था । बगले दूर-दूर बने हुए थे । वाहन उपलब्ध नहीं । पैदल चलने की आदत नहीं और चलकर कितनी दूर जा सकते हैं ? स्टेशन पर कुलियो ने हमारा सामान बाहर रखा । कुलियो को चढाई चढ़ने की आदत है । सामान पीठ पर बाँध लेते हैं । सिर पर लेकर न चलते हैं, न चढ़ते हैं । सामान स्टेशन से बाहर रख दिया गया । अनिल ने फोन कर दिया था । हमारे आगमन की सूचना राज्यपाल आचार्य विष्णुकान्त शास्त्रीजी के कार्यालय में पहुँच गई । राजभवन से तुरन्त गाड़ी आ गई । हम लोग वहाँ में अतिथि भवन गए । अतिथि भवन, राजभवन के पीछे था । पहाड़ी पर सड़क थी । सड़क से नीचे उतरना था । अतिथि भवन में अनिल, कँवरसाहब तथा मुझे अलग-अलग कक्ष मिल गए । हम सब थके हुए थे । आराम किया । बीस मई २००० ई को दोपहर में पहुँचे थे । तीन दिन ठहरना था । २३ मार्च को लौटना था । अतिथि भवन में कैटीन था । वहाँ पर खाने-पीने की सारी व्यवस्था थी । हमें कोई कष्ट नहीं था । वह अतिथि भवन ही हमें प्रकृति की गोद में बसा हुआ लगा । थका हुआ आदमी जाए तो कहाँ जाए ? अतिथि भवन में ठहरना ही अच्छा लगता था । कैटीन में चले जाओ तो चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पेंड दिखलाई देते हैं । खिडकियों से सुन्दर दृश्य दिखलाई देते हैं । हम लोग तो कालकाजी से जैसे ही छोटी ट्रेन में बैठ गए थे, उस समय से प्रकृति की गोद में थे । शिमला का जीवन पहाड़ी जीवन है । सबके पास कार और अन्य वाहन होते नहीं और पैदल चलना बहुत ही कठिन होता है । पैदल चलने का तात्पर्य या तो नीचे उतरना या ऊपर चढ़ना । नगर की संरचना कुछ ऐसी ही है । अनिल, कँवरसाहब, बच्चे, नम्मू सब प्रसन्न थे और अपनी अपनी योजना के अनुसार तैयार हो रहे थे । मौसम ठण्डा था । बीच-बीच में वर्षा भी हो रही थी । हमारी तो कमरे से बाहर निकलने की योजना नहीं थी । फोन करके शास्त्रीजी से मिलने के लिए समय पूछा । बतलाया कि दूसरे दिन इक्कीस मई को समय नहीं है । २२ मई को सायंकाल में चार बजे

मिलेगे। २१ मई को पूरा दिन खाली था। दोना ही टैक्सी की व्यवस्था में जूट गए। दिन-भर के लिए चाहिए थी। टैक्सी के बिना शिमला घूम कर देखना असंभव था। यो भी शिमला ट्रांस्टा का — सैलानियो का — नगर है। हम जिस मोसम में पहुँचे थे उस समय बर्फ नहीं थी।

अनिल और केंवरसाहब ने मिलकर २१ मई २००० को सबसे टैक्सी की व्यवस्था कर दी। सबसे सवेरे निकलना है और सायंकाल तक घूमना-फिरना है और सभी रमणीय स्थल देखना है। लड़के ही २० मई को व्यवस्था में लगे रहे। और व्यवस्था कर दी। हम लोग तो अपने कक्ष में बैठे रहे। बाहर निकल कर चारों ओर घूम कर देखा। यथासमय कैटीन में पहुँचे खाया-पिया और पुन क्रमो में पहुँच गए।

अनिल तथा केंवरसाहब दोनों ने मिलकर शिमला के आसपास के सुन्दर स्थानों को देखने के लिए ट्रिस्ट कार्यालय से सम्पर्क कर लिया। आवश्यक मार्गदर्शन से सम्बन्ध रखनेवाला फोटोले ले लिया और नक्शा भी प्राप्त कर लिया। टैक्सी की व्यवस्था की। २१ तारीख को हमें सवेरे निकलना था। यथासमय टैक्सी में हम लोग बैठ गए। ड्राइवर के आस अगली सीटों पर अनिल और केंवरसाहब थे और हम लोग पीछे बैठे थे। पहले हम नलदेहरा (Naldehra) और उसके पास के स्थल देखने गए। नलदेहरा २०४४ मीटर की ऊँचाई पर है। शिमला से यह स्थान २२ किलोमीटर है। सैलानियो के आकर्षण का केन्द्र है। देश में गोल्फ खेलनेवाला ९ छंदों का सबसे बड़ा मैदान यहीं पर है। खिलाड़ियों को पसन्द आनेवाला स्थल है। राजा-महाराजाओं के खेलने का स्थान है। लॉर्ड कर्जन इस को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ था। उसने अपनी बेटी Alexandra अलेक्जेंड्रेण्डा का दूसरा नाम Naldehra नलदेहरा रखा। इस नामकरण के पीछे नल देवता है। नल ने स्वयं यहाँ डेरा डाला था — ठहरा था — इसीलिए वह स्थान नलदेहरा कहलाता है। नाग देवता का मन्दिर भी वहाँ पर है। शिमला से पूर्व की ओर हम लॉग चले। कुछ दूर पूर्व में चलने के बाद ढाली Dhalb के पास उत्तर की ओर मुड़ गए। नलदेहरा उत्तर पूर्व में है। घना जंगल है। शिमला के उत्तर पूर्व की वादी में (घाटी में) यह स्थान है। शिमला नलदेहरा से ऊँचा है। वह २२०५ मीटर ऊँचा है।

नलदेहरा के आसपास के स्थल भी देखने योग्य है। उनमें माशोबरा का घना जंगल विशेष प्रसिद्ध है। माशोबरा की विशेषता यह है कि ऊँचे-ऊँचे आकाश को झूनेवाले पेड़ पास-पास में घने जंगल सदृश्य है। दूसरी बात यह कि इन

पेड़ों के बीच में घूमना-फिरना-दौड़ना सहजगत् से हो सकता है। फल्गु की श्रुतिग यहाँ पर होती है। विशेष रूप से प्रेमगीत इस घने जंगल में गाए गए हैं। नायक-नायिका का मिलन स्थल है। हम लोग नलदेहरा से लौटकर माणोवरा के घने जंगल के पास ठहर गये। वहाँ पर घोड़े मिल जाते हैं। आपको बैठकर घने जंगल में ले जाते हैं। मैं स्वयं भी घोड़े पर बैठकर एक चक्र — पास पास में ही — लगा आया। मेरे माथ चीकू (चिराग — नम्मू का लडका) बैठा था। ओर सब लोग तो घोड़ों पर बैठकर दूर दूर तक गये और घने जंगल के दृश्य देख आए। तब तक हम लोग प्रवेश द्वार के पास के स्थलों पर बैठे रहे। कुछ घूमते भी रहे। हम दोनों ठहर गये थे। मिहिका (नम्मू की लडकी) हमारे साथ में थी। पेड़ों के बीच में घूमना अच्छा लगता है। जर्मन पर घाम या झाड़ी नहीं है और पेड़ ऊँचे-ऊँचे हैं। यही विशेष आकर्षण है। स्थान ऊँचा-नीचा है। इसीलिए पहाड़ी पर चढ़ना-उतरना पड़ता है। उसमें घोड़े सहायक होते हैं। घोड़ेवाला घोड़े की लगाम हाथ में लिए चलता रहता है। हमें आगे और भी स्थल देखने थे। विशेष रूप से छैल (CHAIL) का पुराना राजभवन देखना था। इसीलिए हम लोग जल्दी-जल्दी पुन टेक्सी में बैठ गए। छैल शिमला से ४५ किलोमीटर की दूरी पर है। वहाँ से पुन ढाली की ओर आए और पूर्व की ओर कुफ्री की ओर आगे बढ़े। कुफ्री स्थान उस क्षेत्र का सब से ऊँचा है। वह २५०९ मीटर ऊँचा है। शिमला से भी ऊँची जगह है। ढाली से ही चढ़ाई शुरू हो जाती है। कुफ्री हमें देखना था किन्तु निर्णय हुआ कि लौटते समय इसी भाग से आना है। इसीलिए हम लोग आगे छैल के राजभवन की ओर गये। कुफ्री से हमें दक्षिण की ओर लगभग पौने तीन सौ मीटर नीचे उतरना था। पहाड़ी का सकरा रास्ता था। सैलानियों की गाड़ियाँ आते-जाते दिखलाई दे रही थी। कहत है पटियाला नरेश ने ग्रीष्म ऋतु में ठहरने के लिए इस स्थान का चयन कर अपना राजभवन बनवाया। उक्त राजभवन अब होटल में परिणत हो गया है। हम लोग उस होटल में गए। वहाँ पर सब सुविधा थी। उस होटल के बाहरी प्राण की हरियारी पर बैठकर सब ने भोजन किया। दोपहर हो गई थी। भूख भी लगी थी। बच्चे दौड़ रहे थे। उनको एक स्थान पर एकत्रित रूप में बैठाना कठिन था। महिलाओं के साथ होने पर खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहती। उस क्षेत्र में रहना अपन आप में सुखप्रद है। यात्रा की थकान थी किन्तु सब के चित्त प्रसन्न थे।

लौटते समय हमें कुफ्री देखना था। उसी में समय अधिक लगनेवाला था। चढ़ाई चढ़त हुए लौटना था। कुछ-समय अधिक लगा। लगभग ३० किलोमीटर तक की चढ़ाई चढ़ने के बाद हम लोग कुफ्री पहुँचे। इसमें सायंकाल के चार बज गए। कुफ्री से पुन शिमला १६ किलोमीटर लौटना था। कुफ्री में हम सबन नीचे उतर कर View Point — दृश्य देखने का स्थल पहुँच कर देखा। वहाँ से शिमला की घाटियाँ दूर-दूर तक फैली हुई दिखलाई देती हैं। ऊँचे स्थल भी दूर से दिखलाई देते हैं। पहाड़ पेड़ों से लदे हुए हैं। प्रकृति का विशद और व्यापक भंडार है। बैठकर निहारो तो तृप्ति मिलती है। आँखें थक जाएँ ऐसा वह दृश्य है। मैं तो तृप्त हो गया। बच्चे दौड़ रहे थे। देखने जानेवालों का ताता लगा हुआ था। बहुत से वाहन खड़े थे। सेलानी घोड़ों पर और कुछ लोग याक पर बैठकर जा रहे थे। हम दोनों तो टेक्सी में जाकर बैठ गए। बाकी सब लोग सैलानियों की तरह घोड़ों पर और याक पर बैठकर चले गए।

हम लोगों को दो-घण्टे प्रतीक्षा करते हो गए। अधेरा होने लगा था। मात बजे के आसपास सब लोग आए। थक गए थे किन्तु उत्साह में कोई कमी नहीं थी। गेस्ट हाउस पहुँचते-पहुँचते आठ बज गए। उसके बाद कहीं नहीं गए। दूसरे दिन हमें शास्त्रीजी से मिलने राजभवन जाना था।

सबेरे-सबेरे दूसरे दिन अनिल और कॅवरसाहब गेस्ट हाउस के निकट की पहाड़ी पर पैदल चढ़कर गए। लौटने पर बतलाया कि ऊपर हनुमानजी का मन्दिर है। पहाड़ी पर चढ़ना था, इसीलिए चड़ी पहन ली ऊपर से ही टी शर्ट पहन लिया। अनिल और कॅवरसाहब दोनों के पास कैमरे थे। जहाँ जाते, वहाँ के फोटोग्राफ्स ले लेते थे। पहाड़ी पर जिस मन्दिर में गये थे, उसका फोटो मैंने देखा है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर ऊपर हनुमान लिखा हुआ है। उसके नीचे 'जाखू मन्दिर' लिखा हुआ है। जाखू स्थान सूचक नाम है। वह स्थानीय नाम है। शिमला का राजमहल सब से ऊँचा स्थान है और जाखू-मन्दिर उससे भी ऊँचाई पर है। शिमला का वह शिखर स्थान है। अनिल को मन्दिर में जो सूचनाएँ मिली, उसके आधार पर वह कह रहा था कि हनुमानजी सजीवनी लाने के लिए निकले थे तो उस ऊँचे स्थल पर विश्राम करने के लिए ठहरे थे। उनके साथी तो वहीं पर विश्राम करते रहे। किन्तु हनुमानजी ठहरे नहीं। सजीवनी की खोज में आगे बढ़ गये। हनुमानजी ने उस स्थान पर विश्राम किया था, इसीलिए इस मन्दिर का विशेष महत्त्व माना जाता है।

चार बजे हम लोग सपरिवार राजमहल गये । पैदल ही जाना था । हम लोग राजमहल के पास में ही ठहरे हुए थे । राजमहल बहुत प्यारा था । हम लोग ठीक समय पर पहुँचे थे । शास्त्रीजी मिल गये । हम सब उनकी बैठक में गए । कुशल-मंगल की बात हुई । मैं शास्त्रीजी से मिलकर बहुत बातें करना चाहता था । कागज पर घर पर ही प्रश्नावली लिख भी ली थी । साथ में भी ले जाना था । किन्तु परिवार के सदस्यों के बीच और स्वयं शास्त्रीजी की व्यस्तता को देखते हुए कुछ पूछते नहीं बना । वे हमें तो पहले राजमहल के भीतर के कक्ष दिखलाने लगे । बच्चों का ध्यान देखने की ओर अधिक था, बात करने की ओर कम था । हमें वह स्थल दिखलाया गया जहाँ पर बैठकर श्रीमती इंदिरा गांधी और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री भुट्टो के साथ बात हुई थी और उसे शिमला-समझौता कहा गया था । दोनों के हस्ताक्षर करने का स्थान था । नये भत्रियों को शपथ दिलानेवाला बड़ा हाल देखा । सब देखने के बाद हम बैठक में आ गए । यथा स्थान बैठ गये । अनिल ने और कँवरसाहब ने अपने-अपने कैमरो से फोटोग्राफ्स लिए । समूह में एकत्रित सारे परिवार के सदस्यों के साथ शास्त्रीजी का फोटो भी लिया । मैं तो सब देखता रहा । परिवार के सदस्यों के साथ, बच्चों के साथ भी, उन्होंने बात की । नाश्ता करते-करते ही सदस्यों के साथ बात होती रही । मैंने कहा परिचय पत्र छपा हो तो उसकी एक प्रति मुझे चाहिए । जीवन-वृत्त से सम्बन्धित पुस्तिका मगवाई । मई १९९९ ई. में (एक वर्ष पूर्व ही) प्रकाशित कविता संग्रह की नई पुस्तक **जीवन-पथ चलते चलते** मगवाई । उस पर हस्ताक्षर किया और पुस्तक दी । उनके पास बैठकर बात करने की इच्छा होने पर भी, उठना पडा । बच्चे स्वयं देखने, घूमने और दौड़ने के लिए उत्साहित थे । उनको रोकना कठिन था । आध घण्टे से कुछ अधिक हो गया था । हम लोग बाहर आए । प्रसन्नता से उन्होंने हम सब को बिदा किया । बाहर आते ही बच्चे तो गार्डन में दौड़े । उनके पीछे रहकर उन्हें रोकना पडा । बाहर तो वातावरण बहुत गम्य था । कुफ़्री से घाटी का जो दृश्य देखते रहे, वही दृश्य यहाँ से भी गार्डन के पास के कठड़े पर खड़े हो जाओ तो दिखलाई देता है ।

बाहर आने के बाद सब लोग पैदल चलने लगे । शिमला का मार्किट देखना था । राजमहल तो ऊची जगह पर था । मार्किट के लिए **माल रोड़** जाना था । पैदल ही ढलान की सड़क पर चलने लगे । रास्ते में मुख्य मंत्री का भवन था । सरकारी अधिकारियों के बंगले थे । उन्हें देखते-देखते माल रोड़ के सिरे की ओर

पहुँच थे। हम लोग माल रोड पहुँच गए थे। माल रोड घूम फिर कर देखना था। मैं ता नीचे उतरने में ही थक गया।

शिमला की रौनक माल रोड में देखी जाती है और देखना हा तो पैदल चलना आवश्यक था। कुछ देर ठहर हम लोग माल रोड पर चलने लगे। सड़क की दोनों ओर खुली जगह पर आगन्तुकों के लिए बेच रखे हुए थे। बैठने के लिए थे। रुकें रुक कर जा सकते हैं। हम लोग आराम करते-करते ही जा रहे थे। वज्र सब खुश थे ओर दौड़ रहे थे। उनको साथ लेकर चलना था। मार्केट जगमगा रहा था। रात हो गई थी। भीड़ बढ़ रही थी। कुछ दूर जाने पर हमने देखा कि पीछे से एक ममूह तेजी से पैदल चला आ रहा था। उस ममूह में आगे-आगे श्री लालकृष्ण अडवानी और आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पैदल चल रहे थे। उस दिन श्री अडवानीजी वहाँ पर होने के कारण शास्त्रीजी बहुत व्यस्त थे। उस व्यस्तता में भी शास्त्रीजी ने हमें समय दिया था। ममूह आगे निकल गया। हम लोग तब तक मार्केट के मध्य भाग तक म्युनिसिपालिटी के मुख्य भवन तक पहुँच गए थे। हम दोनों तो उस भवन के सामने के बेचो पर जाकर बैठ गये। हमें तो कुछ खरीदना नहीं था। हमें वेठाकर अनिल तथा केंवरसाहब सब लोगों को साथ लेकर मार्केट में घूमने लगे। किसी अच्छी होटल की तलाश में भी थे। हम लोग बेंठे बेंठे माल रोड के जगमगाते दृश्य का अवलोकन कर रहे थे। दूर तक होटल की तलाश कर अनिल और केंवरसाहब आए। हमें चलने कहा। उक्त होटल बाजार के दूसरे सिरे पर था। फिर चले। होटल में दक्षिण भारतीय मामग्री उपलब्ध थी। आखिर वह शिमला की होटल थी। जो मिला, खा-पीकर, आगम करते हुए पुन वाह्य आये। समय काफी हा गया था। अब तो लौटना था ओर पैदल ही चलना था। कुछ खा लेने के कारण चलने में कुछ सुविधा हो गई। लौटते समय बैठने की आवश्यकता नहीं हुई। बाजार के एक सिरे से दुकानों को निहारते हुए चल रहे थे। नम्मू और बहू दोनों ने कुछ मार्केटिंग की होगी। चलते-चलते मैंने वाकिग स्टिक खरीदी। बीस रुपये में ली। आज भी उस स्टिक का उपयोग करता हूँ। आकाश हमारे साथ (मेरा पोता) नहीं आया था। उसके लिए शिमला की टोपी खरीदी। माल रोड के अन्तिम सिरे तक, जहाँ से निकले थे वहाँ तक पहुँच गए। पैदल चलने में थक गए थे। वाहन की खोज में थे। अनिल ने गेस्ट हाउस को फोन कर दिया था। वहाँ से हमारा लिए गाड़ी आ गई थी। चढ़ाई पर पैदल चलना कठिन ही था। कहा गया कि यही माल रोड जाइ क दिनों में बन्द रहता है। सड़क पर बर्फ

विद्या रहती है। हम ता मइ महीने में वहाँ पर थ। गाडी में बैठकर हम लोग अतिथि भवन में पहुँच गए।

दुमरे ही टिम हमें लौटना था। फिर नेरो गेज से यात्रा करते हुए कालका पहुँचना था। कालका पर हमारी गाडी सायकाल में थी। नम्मू तथा पत्नी ने मिलकर कैटीन के रसोई घर से आवश्यक सामग्री लेकर पूडियों बना लीं और खाने के लिए साथ में ले लीं। वहू ने भी मन्नायता की। हम कुल बच्चों सहित उस सवम्य थे। स्टेशन पर पहुँचाने के लिए गाडी मिल गई। यथासमय छोटी ट्रेन में हम लोग बैठ गए। मौसम सुहावना था। पहाड़ी यात्रा सुखद थी। पर्वतों की श्रृंखलाओं के बीच स हम गुजर रहे थे। घाटियों के ऊपर में जा रहे थे। बीच-बीच में जो गाँव दिखलाई देते वे पहाड़ी कलानों पर थे। हिमाचल प्रदेश की वादियों और पर्वत श्रृंणियों को देखकर हिमालय की कल्पना की जा सकती है। मैदान कहीं पर दिखलाई नहीं दिया। झालका पहुँचते-पहुँचते शाम हो गई। स्टेशन पर बैठकर हम सब ने भोजन किया। सभी भूखे थे। पूडियों का स्वाद मिला। कालका-हावड़ा मेल खड़ी थी। आरक्षण क अनुसार हम लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। रात में नींद भी खूब आई। सबेरे दिल्ली स्टेशन पर पहुँच गए। २४ मई २००० को सबेरे हम पुन दिल्ली में थे। दिल्ली में हम सब लोग गोल घर के पास जैन भवन में पहुँच गए। श्री हस्तीमलजी मुणाल सामाधिक में बैठे हुए मिले। वहू उन्हें जानती थी। मिलकर आई। उन्होंने बैठे-बैठे ही व्यवस्था कर दी। हम सब को तीन कमरे मिल गये। जैन भवन — भगतसिंह मार्ग पर है, नई दिल्ली स्टेशन से निकट है। कनाट प्लेस तो पास में ही है। वहाँ पर साइकिल पिका चलता है। साइकिल पिको पर बैठकर नई दिल्ली स्टेशन पहुँचा जा सकता है। बच्चों को दिल्ली देखनी थी और साध्वियों के दर्शन हेतु जाना था। वे सब पुरानी दिल्ली में है। तैयार होने के बाद मद्रास हाटल में पहुँचकर सब ने नाश्ता किया। काफी पी। उसके बाद हम सब बस में बैठकर घण्टा घर गए। कोल्हापुर हाउस वहाँ से निकट है। गली में स्थानक में गए। साध्वियों चढ़कर ऊपर गए। केसरकैरजी महाराज साहब मिल गए। बूढ़ हो गई थी। उनकी सेवा में छोटी साध्वियाँ थी। दिल्ली में उनकी शिष्य मण्डली का विस्तार है। मेरी मौसगी बड़ी बहन की ब्रेटी ने उन्हींसे बैंगलौर में दीक्षा ली है। नाम है — कृपाश्रीजी। हमें कृपाश्रीजी से भी मिलना था। हम दोनों तो जब जब आते तब तब दर्शन हेतु जाते ही रहते थे। पत्नी साथ में रहनी इसीलिए स्थानक

मे ठहरते भी थे । मैं जब तक अकेले दिल्ली आता था, तब तक चाँदनी चौक मे ठहरता था । सन १९८९ ई तक मेने अकेले यात्रा की हे । जब से हार्ट अटैक का पहला झटका १९८९ ई मे लगा, उम समय से मैने अकेले यात्रा करना बन्द कर दिया । इस समय तो परिवार के और सदस्य भी साथ मे थे । उस दिन केशरकँवरजी ने हमे पहचान लिया । साथ के रादस्यो का परिचय दिया । वह जो वे पहले से (मिर्कदराबाद मे) जानती थी । स्मृति लोट आई । वात की । उनके द्वारा मगलीक सुनकर हम सब लौट गए । वहाँ से करौल बाग के निकट अजमलखॉं पार्क है । उसके सामने प्रेम भवन जैन स्थानक है । उस स्थानक मे गए । कृपाश्रीजी वहाँ नहीं थी । मालूम हुआ कि वे जमना पार के स्थानक मे ह । साध्वी मजुश्रीजी मिल गई । पूना से उन्होंने पी-एच.डी की उपाधि प्राप्त की थी । उनसे पहले भी अशोक विहार के स्थानक मे मिला था । उस समय केशरकँवरजी, कृपाश्रीजी ओर सब एकत्रित थे । मजुश्रीजी ने कहा कि अपना सामान लेकर यही पर आ जाइए । यह कठिन था । उन्होंने कहा — दूसरे दिन सबेरे पहुँच जाए तो प्रधानजी मे कहकर गाडी की व्यवस्था करवा देगे । जमना पार चले जाइएगा । हमने दूसरे दिन सबेरे पहुँचना स्वीकार कर लिया । राट मे उम दिन तो सब करौल बाग मार्किटिंग के लिए चले गए । हम तो स्थानक मे बैठे रहे । सब के लोट आने पर पुन जैन भवन लौट आए । अनिल और कँवरसाहब ने कनाट प्लेस पर फोटोग्राफर से सम्पर्क किया और फोटो ले आए । हम तों कही गए नहीं । दूसरे दिन सबेरे यथासमय हम अजमलखॉं पार्क के सामने के प्रेम भवन पहुँच गए । सब ने चौके में नारता किया । दध लिया । गाडी की प्रतीक्षा मे थे । गाडी आ गई । वडी गाडी थी । हम मन लोग मजुश्रीजी से मगलीक लेकर जमना पार गए । डाइवर हमे ठीक जगह ले गया । साध्वी कृपाश्रीजी, साध्वी निधीश्रीजी दोनो के दर्शन हुए । उनके साथ मे साध्वी विमलाश्रीजी और साध्वी ऊर्मिलाश्रीजी भी थी । सब के दर्शन हुए । चर्चा हुई । साध्वी कृपाश्रीजी और साध्वी निधीश्रीजी पुस्तके लिखती है । कुछ पुस्तके उनकी छपी है । वे अपनी पाण्डुलिपियाँ मुझे दिखलाती रही है । दो-तीन पुस्तकों की प्रस्तावनाएँ मैने लिखी भी है । चर्चा मे वे अपनी योजनाएँ और कार्य की प्रगति से अवगत करती । दोनो ही 'कृपा-निधि' के नाम से पुस्तके छपवाती रही है । हम चाहकर भी उस दिन बहुत देर तक बैठ नहीं सके । मगलीक लेकर हम लोग लौट गए ।

परिवार के सदस्यो को दिल्ली देखना था । लौटते समय डाइवर से कह दिया कि हमे लाल किले के पास मे छोड दे । बच्चों को लाल किला देखना था ।

झड़वा न हमे लाल किले के पास छोड़ दिया । लाल किला भीतर सं घूमकर देखने में दो-ढाई घण्टे लग गए । हम लागे तो एक जगह मैदान में बैठ गए । बच्चे सब घूमते रहे । अनिल और केंवरसाहव ने अपने-अपने कमरों में फोटोग्राफ्स लिए । हमारे पास घूमने फिरने के लिए वही दिन शेष था । दूसरे दिन हमे लौटना था । लाल किले से निकलने के बाद चॉटनी चौक गये । सामने ही था । भूख लग गई थी । भोजन करना था । होटल की खोज में पैदल ही चलत गए । अनिल ने होटल खोज ली । सब ने भोजन किया । उसके बाद फिर हम जैन भवन लौट गए । हमे तो आगम करना था । हम लोग बाद में कहीं नहीं गए । उस यात्रा में सब के साथ रहना आवश्यक था । मैं अकेला कहीं जा भी नहीं सकता था । दगियागज नहीं गया । जब दिढ़ी जाता था — डॉ. रामविलास शर्मा से मिलने के लिए उनके घर पर जाता रहता था । प. काशीराम शर्मा ने दिढ़ी छोड़ दी थी । वे चूरू में रहने लगे थे । मालूम हुआ कि डॉ. रामविलास शर्मा उस समय बीमार है । पुरस्कार लेने आए नहीं थे । उनका नया फोन नम्बर मालूम हो गया था । मैंने दूसरे दिन सबेरे फोन किया । उनके पुत्र ने बतलाया कि लेंटे हुए हैं । बात नहीं करते । देखकर जाना चाहो तो आ सकते हो । मैंने बच्चे से कहा कि विकासपुरी जाकर आता हूँ । गाड़ी हमारे दोपहर में एक बजे थी । मैं सबेरे-सबेरे विकासपुरी चला गया । डॉ. रामविलास शर्मा को देखा । लेंटे हुए देखा । उस दिन मालूम हुआ कि तीन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र नहीं रहे । डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. विजयमोहन शर्मा (छोटे पुत्र) के साथ में रहते हैं । दूसरा पुत्र भी वहीं पर था । मैंने श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया और लौट आया । ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे तक लौट गया । उस समय तक केंवरसाहव, नमिता और उनके दोनों बच्चे चीकू और मिहिका दिढ़ी सराय चले गये थे । उनको उदयपुर जाना था । वे चले गए । अनिल पहुँचाने के लिए गया था । हमारी गाड़ी — सचखण्ड एक्सप्रेस नई दिढ़ी स्टेशन से छूटती है । मेरी अनुपस्थिति में अन्य सदस्यों ने मार्किटिया की थी । कुछ चीजें खरीद ली थीं । यथासमय हमने जैन भवन का हिसाब कर दिया और नई दिढ़ी स्टेशन पर पहुँच गए । दूसरे दिन दोपहर में हम लोग आँगवाबाद में थे । मेरी यह पहली और अन्तिम पारिवारिक यात्रा थी । लौटने के कुछ दिन बाद मालूम हुआ — दूरदर्शन पर सभाचार सुना कि डॉ. रामविलास शर्मा का निधन हो गया है ।

□ □

डॉ. वसंत चक्रवर्ती

(१६ दिसम्बर १९३१ — १० अक्तूबर २००३)

आज (१० अक्तूबर २००३ ई. को) सबेरे सबेरे मेरे महपाठी विद्वान् बन्धु और मित्र डॉ भीमसेनजी निर्मल का हैदराबाद से फोन द्वारा समाचार मिला कि डॉ चक्रवर्ती का सबेरे चार बजे निधन हो गया है। यशोदा अस्पताल में थे। बीस-इक्कीस दिन के बाद डॉक्टर ने जवाब दे दिया। इसीलिए घर ले जाने के लिए कहा। कुछ दिन घर पर रहे और आज अचानक चले गये। मैंने फोन पर उनके पुत्र से बात की थी। मालूम हुआ कि घर पर है। बात करने की स्थिति में नहीं है। उन्हें फोन दिया गया था। एक वाक्य काँपती आवाज से बोले — 'मैं ठीक हूँ..' और चुप हो गए। ब्रजेन्द्र दूसरे नम्बर का पुत्र तो पाम में ही सेवा में था। भीमसेनजी से मालूम हुआ कि ज्येष्ठ पुत्र विश्वेन्द्र दुबई से आ गया। छोटे पुत्र नहीं आए। अमरीका से आएंगे। सब कुछ जानकर दुःख हुआ।

चक्रवर्ती मेरा एम ए का सहपाठी और कवि मित्र है। दो वर्ष हम साथ-साथ रहे हैं। बोलारम में उसका मूल निवास स्थान है। मनिहाल जमशेदपुर (बिहार) में १६ दिसम्बर १९३१ ई. को जन्म हुआ। हिन्दी भाषा शैशवावस्था में सुनने मिली। नाना-नानी हिन्दी बोलते थे। वही व्यवहार की भाषा थी। चार भाइयों में चक्रवर्ती ज्येष्ठ थे। भाइयों के नाम मोहन, राजकुमार और कृष्ण हैं। बोलारम के कैटोनमेट में पिता का मकान है। माता-पिता तथा चारों भाई वही रहते थे। पिताजी अंग्रेजी के विद्वान् थे। चक्रवर्ती का अंग्रेजी भाषा का ज्ञान अच्छा था। बिहार से आकर पुन सिक्कराबाद में बस जाने के कारण एम. ए. उस्मानिया से करना आवश्यक हो गया। मेरा परिचय १९५६ ई. जुलाई, में हुआ। उस समय उसका विवाह नहीं हुआ था। उमें कविता लिखने और काव्य-वाचन का अभ्यास था। विशेष रूप से जयशंकर प्रसाद कवि से बहुत प्रभावित था। प्रसाद उसके आदर्श कवि थे। उमी पर उसने पी-एच डी की उपाधि १९६५ ई. में प्राप्त की। विषय का शीर्षक था — 'प्रसाद की दार्शनिक चेतना'। १९५६ ई. में ही देखता रहा कि चक्रवर्ती कविताएँ लिखता रहा है। हैदराबाद-सिककराबाद के कवियों में उसका अच्छा परिचय हो गया है। बी. ए. नागपुर विश्वविद्यालय से किया और एम. ए. उस्मानिया विश्वविद्यालय में। प्रसाद से इतना प्रभावित था कि 'ऑसू' की तरह 'पीड़ा' काव्य की रचना की। पीड़ा की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं —

ऑसू की अञ्जलि भर कर
इस सुने सजल पहर में
दुलरायीं मैंने पीडा
अलसित वेदना कुहर में

० ० ०

विस्पृति के अवशेषों में
साधना सहज मधुमय हो,
पीडा के मृदु हाथों में
यह जीवन भगलमय हो।

'पीडा' की रचना विवाह से पहले हुई है। उस समय 'पीड़ा' के अनुभूत क्षणों में मैंने उसे देखा है। १९५७ ई. में वह लिखता रहा है। मैं उस समय सिक्कराबाद में जैन ग्रंथालय का लायब्रेरियन था। चक्रवर्ती के कारण मैंने

प्रधालय की ओर से कवि सम्मेलन का आयोजन किया। बहुत से कवि एकत्रित हुए। उनमें नागेश, चकोर आदि कवि भी थे। चक्रवर्ती भी थे। कुछ समय तक मित्र के प्रभाव के कारण भी कविताएँ लिखीं। कालेज की पत्रिकाओं में छपीं।

पीड़ा का प्रकाशन विनाह के बाद में हुआ। मैं उस समय विवेकवर्धिनी कालेज में काम करता था और चक्रवर्ती उस समय कालेज में प्राध्यापक हो गए। ६ फरवरी १९५९ ई. को मिलने तो नवप्रकाशित पुस्तक दी। कवि का आत्मकथन है — 'इसकी पीठिका ने मेरे अबोध शैशव का व्यथित इतिहास है।' विशेष बात यह है कि चक्रवर्ती तब से अन्त तक कवि रहा। उसकी छायावादी शैली में बाद में गहनवाद भी आ गया। वेदों का अध्ययन किया। आदिम मानव को पहचानने का प्रयत्न किया। प्रसाद की जिज्ञासाओं से प्रेरणा प्राप्त कर दार्शनिक स्तर पर चिन्तन करने लगा। चक्रवर्ती के निवास स्थान पर वेदों का पूरा सेट (सटीक) मैंने उनके टेबल के समीप देखा है। मेरी इच्छा भी हुई कि वेद पढ़ूँ। पढ़ नहीं पाया। चक्रवर्ती में वैदिक वाङ्मय का — उपनिषदों का, ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किया है। वह ता सुनाने के लिए सदैव तत्पर रहा। मैं सुन नहीं पाया। उसने अपनी रचनाएँ सुझा दी हैं। डाक में भेजी हैं। कविताओं की छोटी-छोटी पुस्तकें हैं किन्तु 'त्रिगट' की ओर सकेत करनेवाली और जिज्ञासाओं से युक्त हैं। उनका मूल्यांकन आलेखों के रूप में हुआ भी हो तो मैंने उनका अध्ययन नहीं किया। ऐसे काव्य सकलनों का, जो अपने आप में पूर्ण हैं, उनके नाम मात्र लिख रहा हूँ — शृगनाद (दीपावली १९६३ ई.) / अपूर्व (२८-११-१९८७ ई.) / जिजीविषा (जनवरी १९८९ ई.) और अनादि गाथा (जनवरी १९९० ई.)। ये सभी काव्य वैदिक वाङ्मय से प्रेरित हैं। इनमें अनादि गाथा को महाकाव्य कहा है।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों से भी चक्रवर्ती प्रभावित थे। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त की तरह — चक्रवर्ती ने पुस्तकेशिन नाटक लिखा। ऐतिहासिक नाटक है। इसका प्रकाशन माहित्य भवन (प्रा.) स्लिमिटेड, इलाहाबाद से १९७१ ई. में हुआ। बाद में १९७७ ई. में दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। यह ऐतिहासिक नाटक है। उसे पाठ्यक्रम में जगह मिली है। प्रसाद के नाटकों की तरह उसमें 'गीत' भी हैं।

चक्रवर्ती की बहुचर्चित पुस्तक 'बंधी महावट से नौका थी' है। इसमें एक चर्चित विषय के अतिरिक्त अन्य निबन्ध भी हैं। वस्तुतः प्रूफ की भूल के

कारण 'वंशी महावट से नौका थी' पंक्ति चल गई थी। मूल पंक्ति है — 'कौपी महावट में नौका थी।' — चक्रवर्ती ने अर्थ को स्पष्ट किया। इस पर विद्वानों में चर्चा हुई। पत्रिकाओं में ये चर्चाएँ प्रकाशित हुई हैं। उनका समाहार करते हुए चक्रवर्ती ने आलोचना की पुस्तक प्रकाशित की। इसका प्रकाशन १९९८ ई में हुआ। अगले ही वर्ष १९९९ ई में आलोक समीक्षा की स्वतंत्र पुस्तक छपी। ये कवियों की रचनाओं की समीक्षा प्रस्तुत करनेवाली पुस्तक है।

डॉ वसंत चक्रवर्ती की कविता की पुस्तक अनादि गाथा की समीक्षा प्रकर, अप्रैल १९९२ ई में प्रकाशित हुई। उसे पढ़कर चक्रवर्ती ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए मुझे पत्र लिखा। वह पत्र मैंने सीधे प्रकर को भेज दिया। चक्रवर्ती की प्रतिक्रिया से विद्यासागरजी प्रसन्न हुए। अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होने मुझे १८ मई १९९२ ई. के पत्र में लिखा —

“डॉ चक्रवर्ती की टिप्पणी मिली, वह वस्तुतः बहुत सार्थक टिप्पणी है। अनादि गाथा की समीक्षा की दृष्टि से समीक्षक का वैदिक साहित्य और वैदिक काव्य-पद्धति से परिचित होना आवश्यक है। जो हिन्दी समीक्षक वैदिक आख्यानो से अंग्रेजी माध्यम से परिचित है वे आख्यानो के मूल से परिचित नहीं हैं। हमारे समीक्षकों की ऐसी धारणा भी प्रतीत नहीं होती कि वेद काव्य भी हैं, बल्कि प्राथमिक रूप से काव्य है। जो स्थिति है, उससे आप भी परिचित है। डॉ चक्रवर्ती की टिप्पणी मत-अभिमत में प्रकाशित हो ही जाएगी।”

यह तो मैंने एक उदाहरण दिया है। प्रकर में मत-अभिमत के अन्तर्गत प्रतिक्रियाएँ छपी हैं। इसके बाद में विद्यासागरजी चक्रवर्ती से भी लिखवाने लगे। चक्रवर्ती ने अपना नाम बदल दिया और खुलकर समीक्षा लिखने लगे थे। इस सम्बन्ध में ३१ जनवरी १९९४ का चक्रवर्ती का पत्र कलकत्ता से मिला था।

हैदराबाद

३१-१-९४

परम प्रिय बन्धुवर,

आपका पत्र यथासमय हस्तगत। दिगन्त शास्त्री का जन्म तीन वर्ष पूर्व आलोचना की सपन्दिता जटिलता और निस्सकोच, निर्द्वन्द्व आत्मीयता के बीच हुआ। 'दक्षिण समाचार' के श्री मुनीन्द्रजी

ने डा इन्द्र वर्माण जी की सन्म अपन आपन और डा अहिल्या मिश्रा की केस्टम पर गुलार नामक कृतिय ममीक्षाथ धिजवाई थी ताना महिलाओ के साथ परिचित ही नहीं, बड़ा आत्मीय निकटता वर्ण से रही । अत दोनों के अवलोकन के उपरान्त देखा; एक तो उत्कृष्ट कृति है ओर दूसरी व्याकरण, वर्तनी और काव्य दोषो से भरी हुई निकृष्ट कृति है । उस समय में अपने साथ दोनों कृतियों लेकर कलकत्ता चला गया था, ज्येष्ठ पुत्र विश्वेन्द्र के पास । वही उन कृतियों की समीक्षा लिखी । आलोचना के असन्दिग्ध और निर्विवाद मन्त्य का, कही आत्मीयता अतिक्रमण न कर दे, सोचकर अपने नाम को छुप कर देना उचित समझा । उम सभ्य बड़े अनिश्चय और अन्तर्विरोध की स्थिति में था, किन्तु देखा, अज्ञातनामा समीक्षक की आलोचना अप्रतिहत हा नही, सही अर्थ मे त्रिश्वसनीयता भी अर्जित करती है । अतएव कलकत्ता के पते से दिग्न्त शास्त्री ने, किसी भी कृति को अपदस्थ या धूलधूसरित करने के लिए नही, केवल प्रतिकार या प्रतीको को प्रस्तुत करने के लिए अभिशाप्त नही वगन् आलोचना के प्रजातात्रिक अस्तित्व कृतित्व के समानाधिकार के औचित्य को सिद्ध करने लिए जन्म लिया और चक्रवर्ती भूमिगत हो गया । हाँ, मौलिक साहित्य भी सृजनान्मक और उसके उदात्त लक्ष्यो के सम्प्रेषण मे पथभ्रष्ट नही हुआ है यह चक्रवर्ती । जीवन से जुड़ाता यह जीवट, शब्द-सौन्दर्य की जीवनधारा मे रचनान्मक बहुलता लेकर अप्रत्याशित गति से प्रवहमान है । दिग्न्त शास्त्री आलोचना के क्षेत्र का निर्मम तानाशाह है, चक्रवर्ती सौन्दर्य सृष्टि और जीवन-सृष्टि का कवि ।

आचार्यजी की 'सूर की सौन्दर्य चेतना' की समीक्षा में डा. राजमल बोरा श्रद्धावनत दिखाई देते हैं । यद्यपि विवेचन सुन्दर मार्थक है । वाङ्मयीमांसा के अन्तर्गत 'नामों का भाषा विज्ञान' की समीक्षा बड़ी सुन्दर और तर्कमयी थी । उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल प्रज्ञा-पुरुष की व्याख्यान-माला भी तो अद्भुत है ।

बडा तो कलकत्ते में TISCO मे । मझला काम्प्यूटर के सॉफ्टवेअर कार्य में था पर स्कैम की वजह से बैंको से कार्य अब मिल नहीं

रहा है। अन्य व्यापारों में हाथ पैर चल रहा है। कोई निश्चित व्यवसाय पर उतरा नहीं। छुटके ने बी.टेक (इलक्ट्रॉनिक्स में) कर लिया। एम बी ए की परीक्षाएँ दे रहा है, और सुराणाजी की एक फैक्ट्री में सुपरवायजिंग इंजीनियर की तरह कार्यरत हैं। यहाँ सब कुशल है।

आशा है कि भाभी, बच्चे-बहुओं के साथ सानन्द होंगे। शुभकामनाएँ।

अभिन्न
चक्रवर्ती

पुनश्च २७-१२-९३ को दिल्ली गया था। यात्रा से २९-१२-९३ को लौट आया। यू पी एस सी ने बुलाया था। गत ६ वर्षों से उससे जुड़ा हूँ। लिखा कि मैं सन ८७ से, जब से दुर्घटनाग्रस्त हुआ, रेल यात्रा करता नहीं। उन्होंने हवाई यात्रा की अनुमति दे दी। २७-१२-९३ श्री शकरदयालसिंह जी के नये आवास में जन्मदिन का भोज था। अनेक साहित्यकारों से भेट हुई। पोलैड के राजदूत से भी मिला। अच्छी हिन्दी बोलते हैं। वहाँ बड़ी ठंड थी प्रायः ४ डिग्री। हाड-तक कौंप रहे थे।

आपका पेंशन तया हो गया या नहीं।

शेष कुशल।

चक्रवर्ती

चक्रवर्ती का सम्बन्ध मेरी तरह डॉ. बैजनाथ चतुर्वेदीजी से था। हिन्दी अकादमी (आन्ध्र प्रदेश) के वे अध्यक्ष थे और संकल्प का सम्पादन करते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'किसान पुत्र की आत्मकथा' संकल्प में धारावाहिक रूप में प्रकाशित की। बाद में उसका प्रकाशन स्वतंत्र रूप में हुआ। उसके प्रकाशन का काम डॉ. चक्रवर्ती देख रहे थे। 'संकल्प' के प्रकाशन में डॉ. चक्रवर्ती सहयोग दे रहे थे। चतुर्वेदीजी भाषा प्रेमी थे। उन्होंने अगिका और बजिका भाषा से सम्बन्धित आलेख और कविताएँ 'संकल्प' में प्रकाशित की हैं। दोनों भाषाओं पर स्वतंत्र पुस्तकें हिन्दी अकादमी की ओर से प्रकाशित की हैं। बिहार के लेखक विशेष रूप से संकल्प के लेखक हो गए थे। चतुर्वेदीजी के अन्तिम दिनों के समाचार मुझे चक्रवर्ती से मिल जाते थे। चक्रवर्ती ने बाद में 'संकल्प' का काम करने लगे। सम्पादक

हो गए। चतुर्वेदीजी के काम को आगे बढ़ाया। चतुर्वेदीजी के निजी ग्रथालय के सुरक्षा की व्यवस्था की। गोरखनाथ तिवारी भी यह काम करते थे। 'सकल्य' के अंक नियमित निकलते रहे। चक्रवर्ती ने सकल्य का स्वरूप बदल दिया। उन्होंने उसे समीक्षा की पत्रिका बनाने का प्रयास किया। मुझसे भी कुछ लिखवाया। यो सब कुछ ठीक चल रहा था। जब जब हैदराबाद गया, चक्रवर्ती से मिलने घर पर गया था। न्यस्त दिनचर्या। टेबल पर समीक्षा के लिए नई आई हुई पुस्तकें थी। पत्र-व्यवहार नियमित जारी था। और अचानक यह सुनने में आया कि बीमार है। अस्पताल में है और १० अक्टूबर को चले गए। पूरी बात नहीं हुई।

हैदराबाद में मेरे दो ही मित्र हैं। और उनमें से तो चक्रवर्ती तो मेरा एम ए का नियमित सहपाठी था। दूसरे मित्र डॉ. भीमसेन निर्मल थे। निर्मलजी के पत्र तो मिलते ही रहते थे। यदा-कदा फोन से बाने हो जाती थी। हैदराबाद के समाचार भी मिल जाते थे। चक्रवर्ती को मिलने घर पर ही जाना पड़ता था। उससे भी फोन से बात होती रहती थी। २००० ई. के बाद में इन तीन वर्षों में सिकदराबाद अधिक जाने लगा। चक्रवर्ती के घर पर चला जाता। चक्रवर्ती ने अपने कैमरे से फोटुएँ लीं। मेरे साथ अपने ही हाल में बैठ गए। हम दोनों की फोटुएँ लीं। बाद में डाक से फोटुए भेजी। उनमें से एक फोटो इस पुस्तक में दे रहा हूँ। चक्रवर्ती ने सकल्य के अको को नया रूप दिया। मुझसे लिखवाकर डॉ. रामसिंह तोमर तथा डॉ. नामवरसिंह पर लिखी टिप्पणियाँ छापीं। अब तो सब स्मृति के गर्भ में है। चक्रवर्ती ने अपनी निजी प्रकाशित पुस्तकें अपने पास व्यवस्थित नहीं रखी। मित्रगण सब उठाकर ले गए। पीडा की प्रति भी नहीं। अन्य पुस्तकों की स्थिति भी यही है। शोध प्रबन्ध तथा पुलकेशन नाटक को छोड़कर सभी कविताओं की पुस्तकें स्वयं छापीं। वे ही उसके पास नहीं रही। गोरखनाथ तिवारी (हिन्दी अकादमी, हैदराबाद का सचिव) ने सभी पुस्तकों की प्रतियाँ भेजने के लिए लिखा। मेरे पास भेजी हुई सभी पुस्तकें थीं। इसीलिए जब हैदराबाद पुन गया (२५ नवम्बर २००३ को) तो पहले डॉ. भीमसेनजी निर्मल से मिलने गया। वही पर गोरखनाथ तिवारी मिल गया। मैंने बतलाया कि उपलब्ध पुस्तकों की फोटो प्रतियाँ ले आया हूँ। और वे सब श्रीमती भारती चक्रवर्ती को दूँगा। उसके बाद हम चक्रवर्ती के घर पर उसी दिन गए। श्रीमती चक्रवर्ती मिल गईं। श्रीमती चक्रवर्ती की माताजी थीं। एक पुत्र था। दूसरे दोनों तो चले गये थे। चक्रवर्ती के छोटे भाई आनन्द ने पत्र लिखा था। उनसे मिलना नहीं हुआ।

मैंने सभी पुस्तकों की फोटो प्रतियाँ श्रीमतीजी का द दी । कहा — इन्हें छपवाओ तो अच्छा रहेगा ।’

डॉ. भीमसेन निर्मल (३० नवम्बर १९२९ ३० दिसम्बर २००३)

२६ नवम्बर २००३ ई. को हम दोनों चक्रवर्ती के घर जाने से पूर्व निर्मलजी के घर पर गए थे । फोन पर कहा कि पहले यहाँ आओ फिर चक्रवर्ती के घर पर जाना । तदनुसार हम दोनों पहले निर्मलजी के घर पर गए । श्रीमती बी एम कान्यायनी (भीमसेनजी की पत्नी) ने हम दोनों के भोजन की व्यवस्था कर दी थी । उस दिन छुट्टी होने के कारण उनकी बेटी वाणी घर पर ही थी । माता-पिता की सेवा बेटी ही कर रही थी । एक लड़का देहरादून में और दूसरा अमरीका में । बड़ी बेटी और उसकी लड़कियाँ भी अमरीका में थी । घर पर दोनों अकेले रहते थे । उनकी अपनी स्वयं की लिखी और छपी हुई पुस्तकें एकत्रित रूप में एक जगह रखी हुई नहीं थी । जब-जब मिलता और दोहराता तो एक बार मुझे ऊपरवाले कमरे में ले गए । अलमारी दिखलाई । उसमें एक स्थान पर पुस्तकें रखने लगे । बहुत कहने पर उन्होंने परिचय पुस्तिका छपवाई । पुस्तकों के नाम लिखे । उनका शोध-प्रबन्ध उनके पास नहीं था । उनसे कहने से मैंने अपनी प्रति उन्हें भिजवाई । बहुत वर्षों से Out of Print थी । मैंने कहा था कि उसे ठीक कर दो । दूसरा नया संस्करण छपवाओ । यह काम वे कर नहीं पाए ।

उसी दिन २६ नवम्बर २००३ ई को ही भोजन हुआ । बातें हुई । मैंने कहा — ‘मैं चाहता हूँ, कि हम दोनों का साथ साथ फोटो लिया जाय । आप चाहे तो स्टुडिओ चलेगे या फोटोग्राफर को बुलवा लें । क्या पता हम दोनों फिर मिल न सके ।’ उस दिन वे बहुत थके हुए लग रहे थे । मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया । उठकर बेटी के घर गए । उनके घर से बेटी का घर लगा हुआ था । बेटी वाणी को पुकारा । वह तुरन्त दौड़ी आई । कहा — ‘मैं फोटोग्राफर को तुरन्त बुलाती हूँ ।’ फोटोग्राफर आ गया । उसने हम दोनों की फोटुएँ ली । उस दिन पत्नी सामान्य साड़ी पहनकर आई थी । चक्रवर्ती के घर पर श्रीमती भारती चक्रवर्ती से मिलने जाना था । इसीलिए जब हम चारों की फोटो लेने का प्रस्ताव आया तो वाणी ने भीतर से नई साड़ी लाकर दी । पत्नी ने पहनी फिर हम चारों की दो फोटुएँ ली गई । और हम दोनों की तीन फोटुएँ ली गई । स्वयं उन दोनों ने अपनी फोटो अलग से ली । दो-तीन घण्टे हमारे वहाँ बीत गए । पहले गोरखनाथ तिवारी ने आधा घंटा ले लिया था । उसके जाने के बाद भोजन हुआ और बाद

में फोटोए लने का कार्यक्रम हुआ । उसके बाद हम चक्रवर्ती क घर चल गए ।
उन्हे फोन कर दिया था कि हम आ रहे है ।

लौट आने के बाद मैंने उन्हे पत्र लिखा था । उसमे मैंने लिखा था कि
अपना 'आत्मवृत्त' लिखकर भेजिए । उनका १८ दिसम्बर का अन्तिम पत्र मिला ।
पत्र यथावत् आगे प्रस्तुत है —

प्रो. भीमसेन निर्मल

सौगधिका.

आचार्य एव प्राक्तन अध्यक्ष

१-४-४०५/७/१, गांधीनगर.

एमिरेट्स प्रोफेसर

हैदराबाद - ५०० ०८०

दिनांक १८-१२-२००३

प्रिय बन्धुवर, नमस्कार

आपका ११-१२ का पत्र । समाचार विदित हुए । अभी डाक्टर
साहब ने २२-१२ को नए Lens देने को कहा है । तब तक लिखना-
पढना मना है । फिर भी एकाध घटे तक दाई आँख से समाचार-
पत्र के मोटे-मोटे अक्षर पढ ले रहा हूँ ।

आत्मवृत्त के बारे में इस मास के अन्त तक कुछ लिख
भेजूँगा ।

फोटो अच्छे आए हैं । चार अपने पास रखकर, चार आपके
लिए भेज रहा हूँ । प्राप्ति की सूचना दें । बाकी समाचार बाद मे,
आशा है, स्वस्थ एव सानन्द है । भाभीजी को नमस्कार और
बच्चों को आशीर्वाद ।

शेष कुशल ।

आपका

भीमसेन निर्मल

अन्तिम पत्र

निधन ३० दिसम्बर २००३, दोपहर मे ३ बजे ।

आँखों की तकलीफ जारी थी । फिर भी पत्र लिखा । फोटुएँ भेजी । फोटुएँ
अच्छी आई । २५ दिसम्बर को मैंने उन्हे पत्र भेजा प्राप्ति सूचना दी । वह उन्हें
मिला होगा । पढा भी हो । मालूम नहीं । इसके बाद का वृत्त मुझे ठीक से
मालूम नहीं । डॉ वसता का सबेरे सबेरे फोन आया कि हैदराबाद मे जीजाजी

का समाचार मिला कि डॉ. निर्मलजी नहीं रहे। ३० दिसम्बर २००३ को उनका निधन हुआ है। फोन से समाचार ३१ दिसम्बर को मिला। मुझे विश्वास नहीं हुआ। मैंने हैदराबाद में श्रुतिकान्त भारती (मिलिन्द प्रकाशन) को फोन किया। श्रुतिकान्त को भी पूरी जानकारी नहीं थी। बतलाया कि अभी दाह क्रिया हुई नहीं है। छोटा तथा बेटी अमरीका में आए नहीं है। वाणी ने भी फोन किया तब सारे समाचार मालूम हुए। २९ दिसम्बर २००३ के लिबर्टी स्थित रेमेडी अस्पताल में उनकी बाईपाम सर्जरी हुई। उसके दूसरे दिन ३० दिसम्बर को भीमसेनजी चले गये। उनका शव अस्पताल में ही रखा गया है। उनका दाह सम्कार ४ दिन बाद ३ जनवरी २००४ को हुआ। घटनाएँ कैसे घटती हैं? कुछ समझना मुश्किल है।

२६ नवम्बर २००३ के दिन उन्होंने अपनी नवप्रकाशित पुस्तक 'रामायण एक नया आलोक' मुझे दी थी। तेलुगु से अनूदित है। मूल लेखक स्व. सुरवरम् प्रताप रेड्डी है। पुस्तक में वाल्मीकि रामायण की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक मीमांसा है। उसमें राजनीति भी है। वानरो और राक्षसों के जन्म की कथा है। रामायण और इलियड की तुलना है और अन्य रामायणों से पक्षपात रहित और प्रामाणिक रूप से चर्चा भी की गई है। मैं पढ़कर कुछ लिखूँ? इससे पहले वे चले गए। मुनीन्द्रजी ने दक्षिण समाचार के ७ जनवरी २००४ के अंक में उनके सम्बन्ध में लिखा —

भीमसेन निर्मल भी चले गए

तेलुगु और हिन्दी में पारगत होने के कारण उन्होंने दोनों में परस्पर अनुवाद का कार्य आरम्भ किया और देश-भर में अनुवादक की ख्याति अर्जित की और उन्होंने कई लोगों को अनुवाद के क्षेत्र में प्रेरित किया। भाषा की शुद्धता के प्रति वे विशेष सतर्क रहते थे और अपने सहयोगियों तथा छात्रों का इस दिशा में मार्गदर्शन करते रहते थे। देश-भर में एक सफल अनुवादक के रूप में उनकी ख्याति थी और इस रूप में वे कई बार सम्मानित और पुरस्कृत भी किये जा चुके थे। विशेष उल्लेखनीय है कि डॉ. सी. नारायण रेड्डी को जिस पुस्तक पर भारतीय ज्ञानपीठ का अखिल भारतीय प्रतिष्ठाप्राप्त पुरस्कार मिला था उसका अनुवाद तेलुगु से हिन्दी में डॉ. भीमसेन निर्मल ने ही किया था।

विद्वान् होने के साथ-साथ वे मिलनसार वृत्ति के थे । सब के साथ वे शिष्ट और सम्मानपूर्ण व्यवहार करते थे ।

भारत सरकार के केंद्रीय हिन्दी सस्थान में उन्हें सम्मानपूर्ण सदस्यता सौंपी गयी थी, उसके अनुरूप उन्होंने अपना दायित्व निभाया । हैदराबाद में एक सस्था है आचार्य आनन्द ऋषि साहित्य निधि । इसकी स्थापना और सचालन में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इस सस्था की ओर से प्रतिवर्ष दक्षिण

भीमसेन निर्मल का महयोग हिन्दी प्रचार सभाओं और संस्थाओं को मिलता रहता था । वे हिन्दी प्रचार सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी मासिक का संपादन भी करते रहे । दक्षिण भारत हिन्दी प्रतिष्ठान के वे न्यासी थे और उसकी पत्रिका 'अग्रतारा' का वे पाँच साल तक संपादन करते रहे ।

तेलुगु से हिन्दी में किये गये उनके अनुवादों में विशेष उल्लेखनीय है पोतन्ना की कृति का अनुवाद, जो तेलुगु साहित्य में विशेष स्थान रखता है ।

'दक्षिण समाचार' के प्रकाशन के आरंभ से ही उनका सहयोग और समर्थन इस पत्र को मिलता रहा । ”

यों मेरे दोनों सहपाठी मित्र और बड़े भाई एक-एक कर चले गए । अक्टूबर २००३ में चक्रवर्ती गए और दिसम्बर २००३ में निर्मलजी चले गए ।

□ □

कोठारी निवास, बेगमपेट (२७ नवम्बर २००३)

कल सबेरे (२७ नवम्बर २००३) ७ बजे मिलिन्द प्रकाशन के मालिक श्री श्रुतिकान्त भारती के निवास पर गया । श्रुतिकान्त इस समय बहुत व्यस्त रहा है, इसीलिए उसे मिलने सबेरे-सबेरे पहुँचना पड़ा । मिल गया । रामविलास शर्मा : व्यक्ति और कार्य पुस्तक छपने के लिए तैयार थी । मुझे डमी कापी दिखलाई । दूसरी पुस्तक पृथ्वीराजरासो का पहला भाग के फाइनल प्रूफ्स दिए । शेष पुस्तकें भी शीघ्र छपेंगी ।

श्रुतिकान्त के पास अकेले जाना संभव नहीं लगा । सतोष मेरे साथ में था । लौटकर आने पर मैं नामपल्ली के भवन के नीचे ही खड़ा हो गया । आठ बज

गए थे। पत्नी नीचे आई। सतोष वहीं घर पर रह गया। हम लोग नामपल्ली से सीधे सिकंदराबाद गए। ललित बाफ़णा के घर मिलने गये। बीजापुर से मुन्नी (निर्मला) आई हुई थी। बातचीत में, वचपन के सस्मरण दोहराने में समय कैसे बीत गया, पता ही नहीं चला। नाश्ता हो गया। बाद में भोजन भी हो गया। ललित ने कहा — 'ठहरिये, मैं साथ में चलता हूँ। मैं हाईटेक सिटी दिखलाना चाहता हूँ।' हम दोनों के साथ निर्मला भी थी। ललित भी बैठ गया। हम चारों हैदराबाद की हाईटेक सिटी का राउण्ड लगाने निकले। बेगमपेट से जाना पड़ता है। ललित का निवास स्थान पी जी रोड (जेम्स स्ट्रीट के नजदीक) पर है। सीधे बेगम पेट की ओर गये। रास्ते में हवाई अड्डा है। आगे चलते समय मेरी इच्छा कोठारी निवास देखने की हुई। ललित से कहा तो उसने कोठारी निवास के पास गाड़ी रोक दी। हम लोग बाहर से ही कोठारी निवास देख रहे थे। गेट के पास गाड़ी खड़ी थी। भीतर से कृष्णा चौकीदार आया और कहने लगा। भीतर आइए। अपना भवन देखिए। मैं उस भवन में १९५१-१९५२ ई वर्षों में इंटरमीडिएट करते समय रहता था। उम्र वर्ष के चौकीदार ने मुझे पहचान लिया। इसीलिए वह हमें भीतर ले गया। महिला विद्यालय वहाँ पर १९७१ ई से चल रहा है। प्रिंसिपल मैडम आई। हमें भीतर ले गईं। कहा — 'घूमकर देखिए।' उस भवन का एक-एक कमरा मुझे मालूम था। मेरे फूफाजी श्री मोतीलालजी कोठारी का भवन था। उनकी मृत्यु उसी भवन में नवम्बर १९५६ ई. में हुई थी। हम लोग पहले जिस हाल में गये, वह फूफासाहब के बड़े रूम से लगी बैठक थी। वहाँ अब कालेज का मीटिंग हाल है। लम्बा-ही-लम्बा टेबल है और चारों ओर कुर्सियाँ हैं। उस कमरे से लगा कमरा फूफासाहब का बेड रूम था। वह अब प्रिंसिपल का कक्ष है। इन कमरों में मैं बहुत कम आता था। फूफासाहब जब बाहर चले जाते तो बाईसाहब के साथ इन कमरों में आता था। हाल से लगे हुए दो कमरे थे जिसमें अलमारियों में बाईसाहब का अपना निजी सामान रहता था। फूफासाहब का जब निधन हुआ तो उनका शव उसी हाल में रखा हुआ था। आठ दिन पहले ही दीपावली के समय उन्हें मिलने आया था। उनके निधन के बाद क्या हुआ? यह सब बाईसाहब को और भाइयों को मालूम। आज तो वहाँ महिलाओं का कालेज है। स्वीमिंग-पूल बन्द कर दिया गया है। मुझ में इतनी ताकत नहीं थी कि पूरा भवन घूम कर देखूँ। फूफासाहब के कमरे से बाहर निकलते ही मैंने खुला आगमन देखा। रोशन भाईसाहब का कक्ष देखा।

बाईसाहब की बैठक वहीं लगी रहती थी। नीचे फूफासाहब के तीन-चार कमरो सदृश रोजान भाईसाहब के कमरे थे। फूफासाहब के कमरो के मदृश ऊपर की मजिल पर श्री मदनलालजी भाईसाहब के कमरे थे। और उनके सामने मनोहरलालजी भाईसाहब के कमरे थे। चारों भाइयो मे तीनो भाई उस भवन मे रहते थे। सबसे बडे भाई श्री फकीरचदजी भाईसाहब इन्दौर मे थे। भवन के प्रवेशद्वार पर चौबीसो घण्टे चौकीदार बैठता था। भवन मे पूरे १२० कमरे थे। भवन के अडर-ग्राऊड के कमरे थे। सब ज्यो के त्यो हे। किसी कमरे को गिराया नही गया। किन्तु मरम्मत की आवश्यकता है। मरम्मत में दस-बीस लाख रुपये लग सकते है।

वहाँ पर प्रिसिपल की ओर से रजिस्टर दिया गया और कुछ सस्मरण लिखने कहा। वहाँ पर क्या लिख सकता था? घर आकर आज सबेरे २८ नवम्बर को लिख रहा हूँ। उस भवन के साथ कालेज दिवस के कई प्रसंग जुडे हुए है। उसी भवन के स्वीमिंग-पुल मे मैंने तैरना सीखा है। बडे भाईसाहब ने ऊपर से मुझे ढकेल दिया। नीचे गया फिर अपने आप ऊपर आ गया। तैरना आ गया था किन्तु आत्मविश्वास की कमी थी। बगला छोडने के बाद बोइनपल्ली के कुँए मे तैरता था। बाद मे तैरने का अवसर ही नही मिला। बाईसाहब को तैरने का शौक था। उसके लिए पहले उन्होंने बुलेटिन बिल्डिंग के कम्पाउण्ड में भी स्वीमिंग पुल बनवाया।

फूफासाहब के मित्र रघुनाथमलजी थे। उनकी बिल्डिंग अबिड रोड पर थी। उनकी स्वय की बैंक थी। फूफासाहब हैदराबाद के फिल्म असोसिएशन के प्रेसिडेंट थे। हैदराबाद मे नाटक मंडली थी फिर मूक सिनेमा और बाद में फिल्में सब थी। किसी समय ग्यारह टाकीज उनके अपने थे। मुंबई की फिल्म इंडस्ट्री से उनका सम्बन्ध था। वी. शांताराम का उनके निवास पर आना-जाना था। हैदराबाद मे प्रथम इंग्लिश दैनिक का — हैदराबाद बुलेटिन का — आरभ करनेवाले थे। सम्पादकीय लिखते थे। वे बहुत व्यस्त रहते थे। निजाम के दरबार में जाना-आना था। उनके उस भवन को हैदराबाद के सबसे अच्छे भवन के रूप में ख्याति प्राप्त थी। इलेस्ट्रेटेड वोकली के मध्य के दो पृष्ठों पर उस भवन की तस्वीर छपी थी।

उसी भवन को बदले हुए रूप मे पुन देखने का अवसर मिला।

□ □

यात्राएँ और सामग्री संकलन

औरंगाबाद में रहते हुए मैंने यात्राएँ बहुत की हैं। १९८९ ई. तक पारिवारिक स्तर की यात्राएँ अलग होती थी। उनमें पत्नी और बच्चे साथ में रहते थे किन्तु शोध कार्य से सम्बन्धित, संगोष्ठियों से सम्बन्धित और परीक्षाओं से सम्बन्धित यात्राएँ अकेले ही होती थी। १९८९ ई. के बाद में अकेले यात्रा करना संभव नहीं रहा। पत्नी को साथ में रखना आवश्यक हो गया। साथ में रहने के कारण यात्रा करने में सुविधा हुई। यात्रा के बाद में जब घर पर लौटना होता तो घर बहुत अच्छा लगता। घर में जो सुख-सुविधा उपलब्ध रहती है, वह बाहर उपलब्ध नहीं रहती। यात्रा से लौटता तो चिड़ियों का ढेर मिलता। एक सप्ताह उत्तर देने में चला जाता। जहाँ भी जाता, वहाँ से पुस्तकें ले आता। उनमें से कुछ पढ़ता भी था। आवश्यक पुस्तकें खरीदने की आदत हो गई। पुस्तक जो देखने में आए, उसे उसी समय खरीद न ले तो पुनः वह पुस्तक देखने मिल ही जाएगी, यह कहना कठिन है। मिल जाए तो उत्तम भाग्य। यो मेरे पास सामग्री एकत्रित होती गई है। आरम्भ

मे — हैदराबाद तथा तिरुपति में — ज्ञान विज्ञान की — दर्शनशास्त्र तथा सौंदर्यशास्त्र से सम्बन्धित पुस्तकें खरीदता था । बाद में हिन्दी वीरकाव्यों से सम्बन्धित पुस्तकें खरीदता रहा । महाराजकुमार रघुबीरसिंह के कारण इतिहास की पुस्तकें खरीदी और अब भाषा विज्ञान से सम्बन्धित कोई भी अच्छी पुस्तक खरीदता हूँ ।

दिल्ली या वाराणसी से लौटते समय ट्रेन में ही पुस्तकें पढ़ लेने की आदत हो गई । ट्रेन में मैंने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ी हैं । यात्रा में सदैव पुस्तक रखता रहा हूँ । यात्राओं में पुस्तकें अधिक साथ में नहीं रहती । एक दो गम्भीर पुस्तकें ही साथ में रखता था । विशेष अध्ययन की पुस्तकें घर पर ही पढ़ता रहा हूँ । विषय से ध्यान बँट न जाए, इसीलिए कथा साहित्य से बचता रहा हूँ । न चाहने पर भी कुछ सामयिक और बहुचर्चित कथा साहित्य की पुस्तकें पढ़ ली हैं । ऐसी जो भी पुस्तकें पढ़ी, उनकी टिप्पणियाँ मैंने तुरन्त लिख ली हैं । मुझे मालूम है कि इस पुस्तक को दूसरी बार पढ़ने का अवसर मिलनेवाला नहीं है । पी-एच.डी का प्रबन्ध प्रस्तुत करने के बाद (जुलाई १९६४ ई. के बाद) का वर्ष मैंने कथा साहित्य को दिया । ग्रंथालय से लाकर खूब उपन्यास पढ़े । सभी उपन्यास लौटा देने पड़े । घर पर अपना उपन्यास रखना मैंने आवश्यक नहीं समझा । इसीलिए मैंने उपन्यास पढ़ना छोड़ दिया, दूसरा उपन्यास पढ़ने से पूर्व उसकी टिप्पणियाँ लिखने लगा । वे टिप्पणियाँ मेरे पास आज भी मौजूद हैं । सभी टिप्पणियों का उपयोग नहीं हुआ है । १९७२ ई. में मैंने — 'हिन्दी उपन्यास - प्रयोग के चरण' पुस्तक प्रकाशित की । वह टिप्पणियों के आधार पर लिखी गई है ।

लेखन के लिए सामग्री सकलन बहुत आवश्यक है । यात्राओं में सगोष्ठियों में, साहित्यिक गतिविधियों का बोध होता है । बहुचर्चित पुस्तकें खरीदता रहा हूँ ।

□ □

अन्य भाषाओं की पुस्तकें

मेरे पास आज जो पुस्तकें एकत्रित हैं, उनमें सब से अधिक हिन्दी की है । उसके बाद मराठी की है । अंग्रेजी की है । कुछ गुजराती की हैं । बी.ए. में मैंने पाठ्य-पुस्तक के रूप में अंग्रेजी की पुस्तक 'बर्ट्रेड रसेल के चयन किए हुए निबन्धों' की थी । उस समय रसेल थे । रसेल के कारण मेरा ध्यान अंग्रेजी की ओर गया । ग्रंथालयों से पहले मैं अंग्रेजी की पुस्तकें लाता और पढ़ता था । मेरी अंग्रेजी भाषा ठीक नहीं थी । इसीलिए अंग्रेजी भाषा को ठीक करना आवश्यक

था अंग्रेजी साहित्य की कुछ पुस्तकें ग्रंथालयों से लाकर ही पढ़ी है अंग्रेजी का भय उस समय दूर हो जाता जब मैं पुस्तक पूरी पढ़ लेता। यद्यपि मैंने कुछ लेखकों की पुस्तकें समझने में कठिनाई होती तथापि उन पुस्तकों को कुछ पृष्ठ तो मैं जिज्ञासावश पढ़ रहा हूँ। अंग्रेजी की पुस्तकें पहले खरीदता नहीं था किन्तु बाद में खरीदने लगा। शुक्लजी के कारण आई ए रिचर्ड्स की पुस्तकें खरीदी। रसेल की हिन्दी में अनुदित पुस्तकें खरीदी। उन पुस्तकों के सस्करण बाद में निकले ही नहीं। अशोक महेश्वरी से मैंने कहा भी था और लिखा भी किन्तु उन्होंने ध्यान नहीं दिया।

अंग्रेजी की पुस्तकें मैंने समय की आवश्यकता के कारण पढ़ी हैं। आज भी भारत की जानकारी देनेवाली जितनी पुस्तकें अंग्रेजी में उपलब्ध हैं और निरन्तर लिखी जा रही हैं। उतनी दूसरी भाषा में — (भारतीय भाषाओं में भी) नहीं है। अंग्रेजी भाषा की पुस्तकों में विदेशियों का दृष्टिकोण आ ही जाता है। उनसे मुक्ति सहज नहीं है। सतर्क रहने की आवश्यकता है।

□ □

डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे

डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे के घर पर रहते हुए मैंने विट्गन्स्टाइन की पुस्तक 'फीलासाफीकल इन्वेस्टीगेशन' पुस्तक देखी। वह पुस्तक सदैव उनके साथ रहती। जब वे घर पर रहते, उस समय उनसे पुस्तक लेकर पढ़ लेता था। उक्त पुस्तक खरीदने की इच्छा हुई। मुझे मिली नहीं। औरंगाबाद आने के बाद मैंने पुनः डॉ. बारलिंगे से मिलना हुआ और अन्त तक जारी रहा। मैंने पुस्तक प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बाद में मालूम हुआ कि दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर डॉ. अशोक बोहरा ने उक्त पुस्तक का अनुवाद किया है। पुस्तक मैंने दिल्ली में ही खरीद ली। बाद में अशोक बोहरा से पत्र-व्यवहार किया। उन्होंने दूसरी पुस्तक का भी अनुवाद किया था। वह भेज दी। दिल्ली गया तो उनसे मिलने विभाग में गया था और बाद में घर पर भी गया। बाद में मैंने उनकी तीसरी अनुदित पुस्तक प्राप्त कर ली। विट्गन्स्टाइन रसेल के शिष्य थे और बाद में रसेल उन्हें खूब मानने लगे थे। रसेल ने अपने शिष्य की विद्वत्ता को समझा। बहुत बड़ी बात है। भाषा-चिन्तन में आज भी मुझे उमसे बड़ा लेखक पढ़ने नहीं मिला है। डॉ. बारलिंगे के साथ बात करने में उक्त लेखक की छवि का मैंने अनुभव किया है। मैंने उनकी पुस्तक

(Confessions & Commitments' अंग्रेजी पुस्तक) का अनुवाद हिन्दी में किया है। अनुवाद, मैंने उन्हें पढ़कर सुनाया है। वह अनूदित पुस्तक उनके देहावसान के बाद में प्रकाशित हुई है। पुणे विश्वविद्यालय ने उसे प्रकाशित किया है।

□ □

डॉ. अमूर

मैं चाहकर भी — दर्शन में अभिरुचि रखने पर भी, उस विषय पर ध्यान नहीं दे सका। मराठवाडा विश्वविद्यालय में डॉ. अमूर (कर्नाटक के) अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। वे मुझे बहुत चाहते थे। उन्होंने अपने विभाग के सेमिनारी में मुझे आमंत्रित किया और कुछ लिखवा भी लिया। मैंने 'रसेल' पर आलेख लिखा और पढ़कर सुनाया। सेवानिवृत्त होने के बाद अमूर साहब धारवाड चले गए। वहाँ के अंग्रेजी विभाग में मेरा नाम दिया और मुझे मगोष्ठी में बुलावाया। उस समय प्रेमचंद पर मैंने अपना आलेख अंग्रेजी में प्रस्तुत किया। कुछ कारणवश ही मैंने अंग्रेजी में लेखन कार्य किया है। पढ़ने और समझने की कठिनाई दूर हो गई। तिरुपति में तो यूनिवर्सिटी में अन्य विभागों के प्राध्यापकों के साथ सवाद अंग्रेजी में ही होता। मेरी अंग्रेजी को लोग बुरा नहीं मानते। मुझे बहुत-सी चिट्ठियाँ अंग्रेजी में मिली हैं।

जब मैं भारतीय इतिहास और भारतीय भाषाओं के इतिहास पर पुस्तकें खोजने लगा तो पुस्तकें अंग्रेजी में ही मिली और वे मैंने विषय की आवश्यकता से खरीदीं। भारतीय भाषाओं पर हिन्दी में पुस्तकें आज भी नहीं मिलती। साहित्य अकादमी ने भारतीय भाषाओं के इतिहास पर, साहित्य के इतिहास पर तो पुस्तकें छापी हैं, वे प्रायः अंग्रेजी में हैं। दक्षिण की भाषाओं पर स्वतंत्र पुस्तकें हिन्दी में कम हैं। यो विषय बोध के लिए अंग्रेजी में पुस्तकें पढ़ना आवश्यक ही नहीं, आज तो अनिवार्य भी है। आज भी विश्वविद्यालयों में विज्ञान के विषय तो अंग्रेजी में ही पढ़ाए जाते हैं। इसी तरह अन्य विषय — जैसे — इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि का माध्यम भी अंग्रेजी भाषा है। यहाँ तक कि हमारे अपने देश की भाषाओं को पढ़ाने का माध्यम अंग्रेजी भाषा है। संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन अंग्रेजी माध्यम से होता है। भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप में अपनाने की प्रक्रिया आरंभिक स्तर पर है।

□ □

भारतीय भाषाएँ

भारतीय भाषाओं को समझने के लिए, भारतीय प्रदेशों की यात्राएँ आवश्यक हैं। इसीलिए मैंने यात्राओं के समय, अलग-अलग प्रदेशों की भाषाओं पर ध्यान दिया है। भारतीय भाषाओं पर जो पुस्तकें मिली हैं, उन्हें खरीदता रहा हूँ। ऐसी पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में ही अधिक मिली हैं। कुछ विदेशी विद्वानों की पुस्तकें हिन्दी में अनूदित रूप में मिलने लगी हैं। किन्तु आज भी सभी भाषाओं का ऐतिहासिक परिचय देनेवाली पुस्तकें हिन्दी में नहीं हैं। ऐतिहासिक भाषाविज्ञान पर हमारे देश के विद्वानों ने जो काम किया, वह आज भी उपेक्षित है। इस दृष्टि से डॉ. रामविलास शर्मा ने जो काम किया, उसे अभी भी स्वीकृति नहीं मिली है। उन्हें भाषा विज्ञान का विद्वान् माना ही नहीं गया। उनके बृहत् कार्य की अभी तक पहचान नहीं हुई है। संस्कृत भाषा के इतिहास पर अंग्रेजी में जितनी पुस्तकें मिल जायेंगी, वह हिन्दी में नहीं हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहास पर कीथ की पुस्तक (अंग्रेजी में) का जितना नाम है, उतना किसी भारतीय विद्वान् का नहीं है। प्राकृत भाषा पर अच्छी पुस्तकें मिलती नहीं हैं। ऐतिहासिक भाषा विज्ञान पर काम करनेवालों ने प्राकृत भाषा की पूर्णतः उपेक्षा की है। प्राकृत भाषा पर आज भी विदेशी विद्वान् 'पिशेल' (जर्मन विद्वान्) का नाम ख्यात है। स्वयं डॉ. रामविलास शर्मा ने प्राकृत भाषा पर ध्यान नहीं दिया है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अन्तराल को समझानेवाली पुस्तकें आज भी नहीं मिलती। इस दृष्टि से डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा ने काम किया है। उन्होंने अंग्रेजी में पुस्तक लिखी — 'Critical Studies in the Phonetic Observation of Indian Grammarians' है। उमका हिन्दी अनुवाद हो गया है। 'प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन।' पुस्तक का यही नाम है। ऐसी पुस्तकें बहुत कम हैं।

□ □

विश्वविद्यालय

मैं १९५४ ई. से १९९३ ई. तक लगभग ३९ वर्ष तक विश्वविद्यालय में काम करता रहा हूँ। १९५४ से १९५८ ई. तक तो छात्र था। १९५८-१९५९ का वर्ष कालेज में काम करता रहा। १९५९ ई. में पुनः वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय में (१९६८ ई. तक) रहा। १९६८ ई. से सेवानिवृत्त होने तक पुनः मराठवाडा विश्वविद्यालय में ही रहा और बाद में भी २००० ई. तक मेरा जाना आना जारी रहा है। इस नाते से मुझे पढ़ने-लिखने का वातावरण मिला है। मुझे जिस किसी

भी विषय की जानकारी की आवश्यकता हुई, मैं उक्त विषय के अधिकारी के पास पहुँच जाता था। उनके घर पर भी जाता। दूसरे विषयों में जो काम होता, उन्हें देखने का अवसर मिलता। ग्रथालय सुलभ रहता। मैंने विश्वविद्यालय के ग्रथालय में घण्टो गुजारे हैं। एक रैक के पास खड़े हो जाता तो उसमें देखने में, वह दिन गुजर जाता। मराठवाडा विश्वविद्यालय का ग्रथालय बहुत उत्तम है। आरम्भ में गोरे साहब ग्रथपाल थे। उनसे सदैव मिलता। जब भी ग्रथालय में जाता तो उनके कक्ष में पहुँचता और यदि वे मिल जाते तो उनके पास बैठ जाता। उनके साथ चाय पीता। वे विशिष्ट चाय पीते थे। उनके कक्ष से लगा एक छोटा कमरा था। उनकी चाय वही बनती। डीकाशन की चाय बनती। वे स्वयं पीते और फिर मुझे भी मिल जाती। बातचीत करने में उनके पास सूचनाओं का भण्डार था। विश्वकोश की तरह बोलते थे। कौनसी पुस्तक कहाँ रखी है? उन्हें मालूम था। कहने के साथ पुस्तक तुरन्त मगवाकर दिखा देते थे। मेरे देखने में ऐसे ग्रथपाल बहुत कम रहे हैं।

□ □

Central Institute of English and Foreign Languages

मुझे हैदराबाद में ही किसी ने उक्त इस्टीब्यूट के ग्रथपाल श्री. सी. एस. रामय्या का पता दिया था। ग्रथपाल के कार्य से सेवानिवृत्त होकर वे शातिनगर में रहने लगे थे। द्रविड परिवार में हुए कार्य की पुस्तकों की सूची उन्होंने सदर्थ-ग्रंथ के रूप में तैयार की थी। उक्त संदर्भ ग्रंथ के वाल्यूम छप गए थे। जनजातीय भाषाओं के ग्रंथों पर छपी हुई पुस्तकों का सदर्थ ग्रंथ उन्होंने तैयार किया था। उनके घर गया। उन्होंने अपना कार्य मुझे दिखलाया। द्रविड परिवार पर बहुत कार्य हुआ है। इस देश में और विदेशों में भी हुआ है। तिरुपति का मेरा छात्र डॉ. बी. रामकृष्ण रेड्डी आज कुप्पम् (जिला चित्तूर) में द्रविड विश्वविद्यालय का रजिस्ट्रार है। श्री. सी. एस. रामय्या ने मुझे उक्त इस्टीब्यूट के नये ग्रंथपाल के नाम पत्र दिया और मेरी सहायता करने के लिए कहा। तदनुसार मैं उक्त इस्टीब्यूट में पहुँचा और पुस्तकों की खोज की। कुछ पुस्तकें मिलीं। पुस्तकें सभी इंग्लिश में थीं। उनमें मैंने Kamil V. Zvelebit की पुस्तक Dravidian Linguistics An Introduction देखी। मैंने उक्त पुस्तक के साथ-साथ कुछ अन्य पुस्तकों के आवश्यक आलेखों की जीराक्स प्रतियाँ तैयार की और घर ले आया। यो सी. एस. रामय्या जैसे और भी ग्रथपाल हैं जो उपलब्ध ग्रंथों को आधार मानकर सदर्थ ग्रंथ तैयार करते हैं, जिनसे विद्वानों का कार्य और सरल हो जाता है। दक्षिण

की भाषाओं पर विदेशों में बहुत काम हुआ है किन्तु वह सब काम अंग्रेजी में है। हमारे अपने देश की भाषाओं में नहीं है। हिन्दी में इस प्रकार का काम करनेवाली संस्था 'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान' है जिसका केन्द्रीय कार्यालय आगरा में है और उसकी शाखाएँ दिल्ली, हैदराबाद, मैसूर, गुवाहाटी आदि स्थानों पर हैं। धारवाड़ विश्वविद्यालय में 'कन्नड़ भाषा' का स्वतंत्र भवन है। त्रिवेन्द्रम् और अन्नामलाई में भी ऐसे केन्द्र हैं। पूना में भी डेक्कन कालेज में भाषा विज्ञान का अलग विभाग है। भाषाओं पर देशभर में अब तो कई संस्थान हैं और खूब काम हो रहा है। यू.जी.सी. का प्राजेक्ट पूरा कर मैंने मई-जून १९९९ ई. में यू.जी.सी. को प्रस्तुत कर दिया। उसके बाद अब केवल भाषा विज्ञान की पुस्तकें पढ़ रहा हूँ। जहाँ भी जाने का अवसर मिलता। वहाँ अब इसी विषय की पुस्तकें देखता रहता हूँ। दक्षिण भारत की भाषाओं पर स्वतंत्र काम करने की इच्छा है किन्तु द्रविड परिवार पर कुछ लिखो तो प्रकाशक प्रोत्साहन नहीं देते। इस पर भी मेरा कार्य जारी है। मेरी इसी वर्ष (२००४ ई.) प्रकाशित पुस्तक में मैंने कामिल वी. ज्वेलेबिल के आधार पर द्रविड परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक से पूर्व मैंने 'भारत की भाषाएँ' पुस्तक लिखी थी। (१९९५ ई. में प्रकाशित) — उसमें मैंने द्रविड परिवार का वर्गीकरण प्रधान रूप से भद्रराज कृष्णमूर्ति के आधार पर लिखा था। हैदराबाद की उक्त यात्रा में (अक्तूबर १९९९ ई.) मैं हैदराबाद के केन्द्रीय विश्वविद्यालय के Linguistic Department में गया था। उस समय वहाँ पर वेकटरमणराव हिन्दी विभाग में प्रोफेसर एव. डी. न. थे। तिरुपति में वे मेरे छात्र ही थे। उनके साथ मैं भाषा विज्ञान के विभाग में गया। डॉ. उदयनारायणसिंह विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष थे। उनसे बात हुई। विभाग के अन्य सदस्यों से परिचय हुआ। उनसे मिलकर कुछ पुस्तकों के नाम लिख लिए। उदयनारायणसिंह ने भद्रराज कृष्णमूर्ति के निबन्धों का संकलन सम्पादित किया है — Language Education & Society पुस्तक का नाम है। इसी तरह 'सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या' पर भी पुस्तक सम्पादित की है। वे अब हैदराबाद छोड़कर मैसूर चले गये हैं। CIIL के निदेशक हो गए हैं।

मैंने अनुभव किया कि कार्य विशाल है। मैंने पूर्वोत्तर के प्रदेशों की यात्रा नहीं की। इसी तरह कश्मीर की उत्तरांचल की तथा पंजाब-हरियाणा की यात्राएँ योजनानुसार नहीं की। इस पर भी इन प्रदेशों की भाषाओं और उनके साहित्यिक स्वरूप की पहचान करानेवाली पुस्तकें खरीदी हैं। यो सामग्री एकत्रित हो गई है। इस सारी सामग्री का उपयोग कर पाऊँगा या नहीं? मैं नहीं जानता।

□ □

मुनि जिनविजयजी

मुनिजी से मिलने चित्तौड़ से चन्देरिया गया था। १९७२ या १९७३ ई. में गया। चन्देरिया रेलवे स्टेशन भी है। मैं तो बस से चला गया। पूछते-पूछते उनके आवास पर पहुँचा। मिल गये। आजीवन काम करनेवालो में थे। प्राकृत भाषा के विद्वान् थे। कई पुस्तकों का सम्पादन किया है। पौथियाँ पढने में माहिर थे। विद्या उनके कठ में थी। उन्होंने जोधपुर में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना की। उसकी शाखाएँ जयपुर और उदयपुर में हैं। डॉ. राधाकृष्णन् से उनका परिचय था। के. एम. मुशी से सम्पर्क था। मुंबई, अहमदाबाद तथा कलकत्ता में रहकर काम किया और अन्तिम दिनों में चन्देरिया में रहते थे। मैं जब मिला, उस समय ८० वर्ष के ऊपर ही होगे। वाणी में बल था। लिखना-पढना बन्द कर दिया। एक लडकी उनकी सेवा में थी। उनसे बात की तो बतलाया कि वे अब चिद्वियों का उत्तर नहीं देते। सब काम छोड़ दिया है। उन्होंने उस समय मुझे दो पुस्तकें दीं। एक उनकी आत्मकथा थी और दूसरी उनको मिली चिद्वियों का संकलन था। उन्होंने कहा — 'चिद्वी मत लिखना।' शेष जीवन सुख से एक गाँव में व्यतीत कर रहे थे। उनके आत्मबल को देखकर मैं चकित रह गया।

□ □

महाराजकुमार रघुबीरसिंह

महाराजकुमार रघुबीरसिंह को भी अन्तिम दिनों में मैंने देखा है। उनकी उपस्थिति में 'लदूना' में जो सगोष्ठी हुई। उममें उन्हें हाथ पकड़ कर लाना पड़ता था। चलना नहीं होता था। पहले की तरह बोलना बन्द कर दिया था। हास्य मुद्रा वही थी। देखकर तृप्त हो जाते थे। मनोहरसिंह राणावत उनकी सेवा में था। अन्तिम बार उनसे मिलने अप्रैल १९८९ ई. में गया था। उस समय मैंने उनके पत्रों का संकलन सम्पादित कर दिया था। प्रकाशक को पुस्तक छापने के लिए देनी थी। श्री सियाशरण खण्डेलवाल प्रकाशक था। औरंगाबाद घर पर आया। विभाग में मिला और पुस्तक मागी। पुस्तक पहले ही टंकित कर रखी थी। मैं २१ या २२ अप्रैल १९८९ को उनसे पाण्डुलिपि के साथ मिला। पुस्तक उन्होंने हाथ में ली। देखी। पाण्डुलिपि पलट कर देखी। मौन रूप में ही स्वीकृति दी। विशेष बात नहीं हुई। सीतामऊ से मैं जयपुर गया। ट्रेन में बैठकर मैंने पुस्तक की 'विज्ञप्ति' २३ अप्रैल १९८९ ई. को लिखी। २४ अप्रैल को प्रकाशक से मिलने गया। हवा महल के सामने की चौपड़ के पास के दूसरे मार्ग पर 'शरण बुक डेपो' दुकान पर मिलने गया। पुस्तक छापना स्वीकार कर लिया। पुस्तक

उमने तुरन्त छाप दी । औरंगाबाद आया ओर पुस्तक की प्रति घर पर देकर गया । मे उन दिनों बीमार था । घर पर ही आराम कर रहा था । १९९० ई मे पुस्तक छप गई थी । महाराजकुमार को भी उसने पुस्तक दे दी थी । उनके पास गया ओर उनसे 'औरंगजेब' (जदुनाथ सरकार की out of print पुस्तक) पुस्तक छापने की अनुमति ले ली । हिन्दी अनुवाद महाराजकुमार ने किया था । मैं जब जयपुर मे उससे मिला था तो उसने 'औरंगजेब' — पुस्तक का नया संस्करण छाप दिया था । कोई प्रकाशक इतनी तेजी से पुस्तके छापता है, यह मैंने देखा नहीं था । मुझे इसी बात का सतोष हैं कि उसने पुस्तक छाप दी ओर उसे महाराजकुमार ने देख लिया । फरवरी १९९१ ई मे सगोष्ठी का आयोजन था किन्तु उसी मास १३ फरवरी १९९१ ई को उनका निधन हो गया । बाद में उन पर जो ग्रंथ सम्पादित हुआ, वह ग्रंथ भी श्री सियाशरण खण्डेलवाल ने छापा । उसके सम्पादक मण्डल का मैं सदस्य था । ग्रंथ १९९३ ई मे छपा । विमोचन के अवसर पर सीतामऊ गया था ।

महाराजकुमार रघुवीरसिंह की कार्य पद्धति पर उनके पास रहते हुए, मैंने बहुत ध्यान दिया है । उनमे से मैंने भी उक्त पद्धतियों को अपनाने का प्रयत्न किया है । पत्र-लेखन और पत्रों की सुरक्षा उनसे ही सीखी है । जाबक क्रमांक ओर तिथियों का क्रम १९८९ ई. के बाद मे नियमित लिखने लगा । सदर्भों को जोड़ना । अलग-अलग फाइले बनाना । सामग्री को क्रम मे रखना । पुस्तक अपनी होने पर — खरीदने के बाद ही — पढ़ना । ग्रंथालय की पुस्तकें पढ़ने मे लाभ नहीं है । उनका उपयोग दूसरी बार, तीसरी बार पढ़ने के बाद मे ही संभव है । पुस्तक पर कुछ लिखना हो तो उसे पढ़ने के साथ तुरन्त लिख लेना ही ठीक रहता है । इतिहास का उपयोग क्यों होता है ? इतिहास का अर्थ मात्र राजनीतिक इतिहास न मानकर उसके व्यापक स्वरूप को समझना और उस पर उसी पद्धति से कार्य करना, काल-क्रम को पहचानना; उनके अलावाव को जानना, वर्गीकरण करना , ऐतिहासिक काल के अनुसार तथ्यों को पहचानना.. आदि आदि बहुत-सी बातें हैं, जो अनजान में और करते-करते सहज सीख गया हूँ ।

□ □

भालचन्द्र तेलंग

आज मैं जो कुछ हूँ, इसका कारण मेरे गुरुजन है । औरंगाबाद मे डॉ. भालचन्द्र तेलंग थे । उनके पास नियमित जाता था । जो कुछ लिखता, उन्हें सुनाता था । वे काव्यशास्त्र और भाषा विज्ञान के मर्मज्ञ थे । पद्याकर कवि के वंशज थे । अन्तिम

दिनो में उनकी आँखें चली गईं। क्या करे ? पत्र आते थे। मैं उनके पास उस अवस्था में भी उनके घर जाता। चिट्ठियाँ पढ़कर सुनाता। वे जो कहते, तदनुसार उनके पत्रों के उत्तर लिख देता। बहुत खुश होते। नया मकान बन गया था। उन्हें अपने घर पर ले आया और फिर छोड़ आया। अन्तिम दिनों में 'दक्खिनी भाषा' पर काम किया। उन्हें कोई प्रकाशक नहीं मिला। पढ़ाकर अनुसन्धान शाला' खोली। उसीके अंतर्गत स्वयं पुस्तकें प्रकाशित की 'अनूप प्रकाश' (गण कवि कृत) की पाण्डुलिपि उनके पास थी। आधी ही थी। लंदन की संस्था से पत्र-व्यवहार कर उस कृति की शेष पाण्डुलिपि मगवाई। फोटो कापी आ गई। किन्तु जब आखें चली गईं तो क्या करते ? उन्होंने उक्त प्रतियाँ मुझे दे दीं। मैंने उक्त कार्य पूर्ण किया और वागणसी के सजय प्रकाशन से १९९९ ई में उसे छपवा दिया।

तेलंग साहब तो स्थानीय रूप में उपलब्ध थे। जब चाहता, उनके पास चला जाता था। भारतीय हिन्दी परिषद के औरंगाबाद अधिवेशन से पूर्व मार्च १९८४ ई में उनका निधन हो गया। समाचार, टाइम्स ऑफ इंडिया में छपा था। विभाग में डॉ राजूरकर साहब के कक्ष में बैठा था। उस समय डॉ प्रेमस्वरूप गुप्त भी बैठे हुए थे। उनके हाथ में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की प्रति थी। उन्होंने उक्त समाचार सुनाया। फरवरी में एक मास पूर्व ही उनसे मिला था। मैं ग्रंथालय से विभाग की ओर लौट रहा था। डॉ तेलंग बैंक का काम पूर्ण कर बाहर आकर ऑटो में बैठ गये थे। मैंने ऑटो रोककर बात की। अधिक बोले नहीं। 'म जा रहा हूँ।' — इतना कहा। चुप हो गए। सब हो गया है — इतना कहते-कहते रह गये थे। बंगला बेच दिया था। स्वयं अपनी ओर से सब कुछ पूर्ण कर चले गए। श्रीमती सुशीलादेवी (उनकी पत्नी) साथ में थी। और बस, वे एक मास के भीतर चले गए। ७८ वर्ष की आयु में गए।

□ □

महाराजकुमार रघुबीरसिंह और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

मेरे लेखन पर उक्त दोनों लेखकों का प्रभाव है। आचार्य शुक्ल को जानने-पहचानने की दृष्टि से उनकी जीवनी मैंने लिखी है। उसका क्रम बैठाने में बहुत समय गया। उक्त जीवनी मैंने तीन बार — अपने को ठीक करते हुए — लिखी है। इच्छानुसार सकलित सामग्री का उपयोग नहीं हो सका। यह सारा काम महाराजकुमार के निधन के बाद का है। जब तक महाराजकुमार थे — मेरे लिए वही आदर्श थे। महाराजकुमार का पत्र मिलता और मैं फिर उनके बतलाए कार्य

म जुट जाता। मुझे उन्होंने भटकने से और अन्य कार्य करने से रोक रक्का है। पत्रों में फटकार लगाई है। व्यावहारिक परामर्श दिया है। सात्वना दी है और काम करने में अग्रसर रहने के लिए कहा है। जब भी उनसे मिलता मुझे उनकी दीप्ति मिलती। कार्य में आत्मविश्वास बढ़ता। मैं चाहकर भी उनके सृजनात्मक गुणों को व्यक्त नहीं कर सका हूँ। इतिहासकार तो वे थे ही। किन्तु 'इतिहास-लेखन' में उनका गद्य पढ़ जाओ तो उसमें सृजनात्मकता मिल जाएगी। ठीक उसी तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को पढ़ जाओ और विशेष रूप से 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पढ़ जाओ तो उसमें इतिहासकार के गुण प्रच्छन्न रूप में मिल जाएंगे। शुक्लजी के इतिहास ज्ञान पर मैंने कुछ नहीं लिखा है। उनके फुटकल लेखन में इतिहास ज्ञान अधिक है किन्तु उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास भी प्रधान रूप से भारत के राजनीतिक इतिहास से अधिक जुड़ा है। वे काल-क्रम का और तथ्यों का ध्यान अधिक रखते हैं। एक इतिहासकार के रूप में साहित्य के तथ्यों को परखते हैं। और फिर उनका गहन ज्ञान है, जिसका वे उपयोग वे करते ही हैं।

महाराजकुमार के लेखन में सृजनात्मक गुण हैं। इसीलिए उन्होंने काव्यों में इतिहास को पहचाना है। उनके लेखन का विषय इतिहास ही रहता है किन्तु वे ऐतिहासिक चरित्रों को सृजनात्मक आधार देते हुए परखते और पहचानते हैं। उनका ऐतिहासिक पर्यालोचन इसीलिए सृजनात्मक हो जाता है। 'शेष स्मृतियों' उनके गद्य लेखन की उत्तम पुस्तक है जिसके आरम्भ के पृष्ठ शुक्लजी ने लिखे हैं। शुक्लजी सृजनात्मक गुणों को उजागर करते हैं। आचार्य शुक्ल का वह अन्तिम निबन्ध है। चिन्तामणि भाग १ — के अन्त में छपा है। शीर्षक है — 'रसात्मक बोध के विविध रूप'। आज कोई उस निबन्ध को पढ़ जाए तो इस बात की कोई कल्पना नहीं कर सकता कि उक्त निबन्ध का मूल आधार 'शेष स्मृतियों' है। उसी निबन्ध से 'शेष स्मृतियों' के सारे उदाहरण हटा दिए गए हैं। महाराजकुमार का नाम भी उसमें नहीं है। निबन्ध को शास्त्रीय रूप दे दिया गया है। शुक्लजी ने अपने लेखन को बहुत सवारा है। उमग में आकर लिखे गए निबन्धों को उन्होंने सवार कर शास्त्रीय रूप में पुनः पुनः लिखा है। और देखिए यह सब वे पेंसिल से और लेटे लेटे लिखते थे। पेंसिल से लिखते और सीधे प्रेस को दे देते। कई बार प्रेस में उनकी सामग्री खो गई और उन्हें दूसरी बार लिखना पड़ा है। उनकी कविताओं का सकलन जो इलाहाबाद को छापने के लिए दिया गया था, खो गया था। पुनः उसका सकलन हो नहीं सका। बहुत-सा लेखन गायब हो गया है। यह सब मुझे उनके पुत्र केशवचन्द्र शुक्ल ने बतलाया है। मुझे

यहाँ पर इतना ही कहना है कि शुक्लजी का शास्त्रीय लेखन व्यवहार पर आधारित है और अनुभूत है। सृजन में उन्होंने शास्त्र की खोज की है।

ठीक इसके विपरीत महाराजकुमार काव्यों में ऐतिहासिक सदर्थ खोज लेते हैं। जहाँ नकारना है, वहाँ वे साफ नकार देते हैं ! मुझे तो कई बार फटकार लगाई है। काव्य के प्रयोजन में निहित ऐतिहासिक मन्त्र को पहचान लेते हैं। ऐतिहासिक काल-क्रम (तिथियों को क्रम से पहचानने का क्रम) को अच्छी तरह पहचान लेते हैं। वे शास्त्र में उलझते नहीं। उनकी साहित्यिक अभिरुचि ने उन्हें सृजनात्मक लेखक का बल दिया है। महाराजकुमार को इतिहासकार के रूप में तो पहचाना गया है। किन्तु उनके साहित्यिक कार्य की पहचान अभी भी नहीं हुई है।

□ □

डॉ. रामविलास शर्मा

डॉ. रामविलास शर्मा से मेरा सम्पर्क १९६९ ई. हुआ किन्तु १९८० ई. तक मेरा ध्यान उनकी ओर अधिक नहीं गया। निराला की साहित्य साधना भाग १ — ने मेरा ध्यान उनकी ओर पुन खींचा। पढ़ने के बाद तुरन्त उन्हें पत्र लिखा था। उत्तर मिला। यह १९७४ ई. की बात है। बाद के दोनो भाग मैंने खरीद लिए किन्तु उस तल्लीनता से पढ़ना नहीं हुआ। इस बात को वे भी जानते थे। डॉ. रामविलास शर्मा के कार्य का फलक व्यापक है। उनकी विशेषताओं को जानने में मुझे काफी समय लगा। उनके साथ रहकर उनसे विशेष चर्चा करने का समय जैसा चाहता था, वैसा नहीं मिला।

उनसे मिलकर उनकी पुस्तकें और उनके विषयों पर चर्चा उनके अन्तिम वर्षों में हुई। १९९५ ई. के बाद में हुई। १९९५ ई. से २००० ई. के पाँच छ वर्षों में ही उनके पास जाता रहा हूँ। महाराजकुमार का निधन १९९१ ई. में हो गया था। पं. काशीराम शर्मा के साथ पूरी तरह से काम करने लगा था। उन्हीं दिनों में डॉ. रामविलास शर्मा भाषा विज्ञान पर काम करने लगे थे। और उस विषय पर बात करने के लिए तैयार थे। वस्तुतः सेवानिवृत्त होने के बाद वे के एम. मुशी विद्यापीठ में नियुक्त हो गए थे। वहाँ के ग्रंथालय का पूरा उपयोग कर उन्होंने 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' के तीन भाग क्रमशः १९७९ ई. १९८० और १९८१ ई. में प्रकाशित करवाए। १९८० ई. में वे दिल्ली पहुँच गए थे। दिल्ली में अन्तिम दिनों में वे जिन महत्वपूर्ण विषयों में काम कर रहे

थ, उन विषयों पर मग ध्यान भी गया। मैंने लोगकाव्यों पर काम करना बंद कर दिया था। मात्र अधूरे कामों को पूर्ण करने में लगा था। 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी' के तीनों भाग छपने के तुरन्त बाद में क्रमशः खरीद लिए थे। पढ़ने में समय लगा। उन पर शीघ्र ही कोई प्रतिक्रिया भी व्यक्त नहीं की।

पृथ्वीराजरासो — पर काम करते समय मैंने उन्हें पत्र लिखे थे तो कुछ कहने से इनकार कर दिया। साफ लिखा दिया कि उनका ध्यान दूसरी ओर है। उनकी इस आदत के कारण उनका बहुत काम हुआ है। वे अपना ध्यान बाँटते नहीं। जिस विषय पर काम करते हैं, उसी विषय पर चिन्तन जारी रहता है और उसी विषय की सामग्री की खोज में रहते हैं। लेखन पूर्ण हो जाने के बाद दूसरे विषय पर ध्यान देते हैं। अपनी धरती अपने लोग (आत्मकथा) के तीनों भाग १९९५ ई. में पूरी तरह लिख दिए गए थे। १९९६ ई. में किताब घर से उनका प्रकाशन हो गया था। मैंने वे तीनों भाग भी मंगवा कर पढ़ लिए। पढ़ने के बाद अपनी प्रतिक्रिया लिखकर भेजता था। उनका आग्रह रहा कि पुस्तकें धीरे धीरे पढ़ो। मैंने पढ़ने से वे खुश थे। बाद में उन्होंने अपनी पुस्तक भी मुझे दी। उनकी पुस्तकें पढ़ने के बाद जब मैं उनसे बात करता या उनसे बात करने के बाद जब उनकी पुस्तकें पढ़ता तो मैंने अनुभव किया कि उनमें एकरूपता है। जैसा वे सोचते विचारते हैं, वैसा ही वे लिखते हैं और जैसा वे लिखते हैं, वैसा ही वे बोलते हैं। उनके निर्णय बहुत साफ और स्पष्ट रहते हैं। बिना आधार और बिना जानकारी के वे न तो बोलते हैं और न ही वे लिखते हैं।

मेरी उनसे अन्तिम भेट १२ नवम्बर १९९९ ई. को हुई। उसके बाद मिलना नहीं हुआ। ३ दिसम्बर १९९९ ई. को मैंने उन्हें पत्र लिखा। १२ दिसम्बर १९९९ ई. का उनका पत्र मिला। वही उनका अन्तिम पत्र है। अन्तिम दिनों में उन्होंने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान और हिन्दी भाषा पुस्तक के सम्पादन की अनुमति मांगी थी। वह उन्होंने मुझे दे दी और अशोक महेश्वरी ने (राजकमल प्रकाशन ने) उस सम्पादित पुस्तक को प्रकाशित किया। पुस्तक की पाण्डुलिपि मैं उन्हें दिखाना चाहता था। किन्तु तब व देखने की स्थिति में नहीं थे। विजयमोहन शर्मा (उनके पुत्र) औरंगाबाद में घर पर आए थे। उनके साथ जो बातचीत हुई, उससे उनको समझने में मुझे काफी सहायता मिली। मैं जब-जब उनके घर पर गया, वे अकेले ही मिले। सब लोग काम पर चले जाते थे। एक बार केदारनाथ

अग्रवाल उनके साथ आर प्रसिद्ध कवि उनके साथ मिले । वे उनके पास रहते थे । परिवार के किसी व्यक्ति से सम्पर्क हुआ ही नहीं ।

पश्चिम एशिया और ऋग्वेद उनकी पुस्तक बहुत चर्चित हुई । दिल्ली पहुँचने के बाद उसी पुस्तक ने उन्हें अधिक ख्यात किया । उसके सम्बन्ध में मतभेद भी रहा । वर्तमान को छोड़कर वे प्राचीन की ओर मुड़ गये । उनका इस दृष्टि से परिवर्तन लोगों को जल्दी समझ में नहीं आया । मैंने भी जिज्ञासावश उक्त पुस्तक पढ़ी । वेदों की ओर मेरा ध्यान गया । इसी तरह बाद में उन्होंने दो बृहत् ग्रंथ लिखे — भारतीय सस्कृति और हिन्दी प्रदेश भाग-१ (६१९ पृष्ठ), भाग २ (७८८ पृष्ठ) । इन पुस्तकों का ठीक से मूल्यांकन नहीं हुआ है । हालांकि ये दोनों ही ग्रंथ उन्हें लोकमान्य तिलक की श्रेणी में रखते हैं । इन दोनों भागों के आधार पर उनके मनीषा रूप की पहचान अभी हुई नहीं है । मैं जब उनमें मिला था तो वे मनीषियों की तरह बात करते हुए प्रतीत होते थे । 'हिन्दी प्रदेश' — का चिंतन और हिन्दी की जातीयता के चिन्तन पर प्रतिक्रियाएँ बहुत हुई हैं । पत्र-पत्रिकाओं में वे सब प्रकाशित भी हुई हैं । उनका अतीतोनमुख होना बहुतेकों को ठीक नहीं लगा । उनमें डॉ. रामवरसिंह भी हैं । किसी पुस्तक को तथा विचारधारा को समझने में समय लगता ही है । काल स्वयं उसका मूल्यांकन यथासमय करेगा ।

अंतिम दिनों में डॉ. रामविलास गर्मा तुलसीदास अधिक पढ़ने लगे थे । तुलसीदास के सौंदर्य बोध से अधिक प्रभावित थे । उनके निधन के एक वर्ष बाद में दिल्ली की साहित्य अकादमी से 'भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास — ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है । उक्त ग्रंथ के प्रारम्भ में पृ. ७ से २३ तक ग्रंथ की प्रस्तुति डॉ. रणजीत साहा की लिखी हुई है । पड़ोसी होने के नाते साहाजी का सम्पर्क बना हुआ था । ग्रंथ कैसे तैयार हुआ इस बात का कच्चा चिट्ठा उक्त प्रस्तुति में है । ग्रंथ उनसे लिखवा लिया गया है । साहा साहब लिखते हैं ।

“अपनी कुछ अन्तिम मुलाकातों में जब वे मृत्यु शय्या पर पड़े थे अपने हाथों में मेरा हाथ लेकर काफी रुक-रुककर और धीमे-धीमे जो कुछ कहते, उनमें तुलसीदास को केन्द्र में रखकर एक बड़ी पुस्तक तैयार करने की चाह उन्होंने जताई थी । इन दिनों परिवार के लोग सबेरे डा. साहब के कहने पर मानस के उनके इच्छित प्रसंगों को पढ़कर सुनाते थे । संभवतः इसीलिए उन्होंने मुझ से कहा था, मुझे तुलसीदास पर एक किताब अलग से लिखनी है । उन्होंने बताया था — मैं उन्हें कभी कभी राम से भी बड़ा

पाता हूँ । या चौपाइयो का अस्फुट उल्लेख करने लगते थे — जो मेरी पकड़ से बाहर थे । वे यह समझ रहे थे कि सामनेवाला शायद उनकी बात ठीक से सुन नहीं पा रहा है । ठीक से समझ नहीं पा रहा है — इसीलिए वे मुस्करा भर देते थे । उनकी वह आत्मीय और धीरे धीरे विरल होती जाती मुस्कान, उनकी बंबसी और लाचारगो की ऐसी कहानी थी, जो मुझे अदर तक चीर जाती थी — जिन्हे तब झेल पाना और इतने दिनों बाद फिर से महसूस करना भी बहुत यातनादायक है ।”

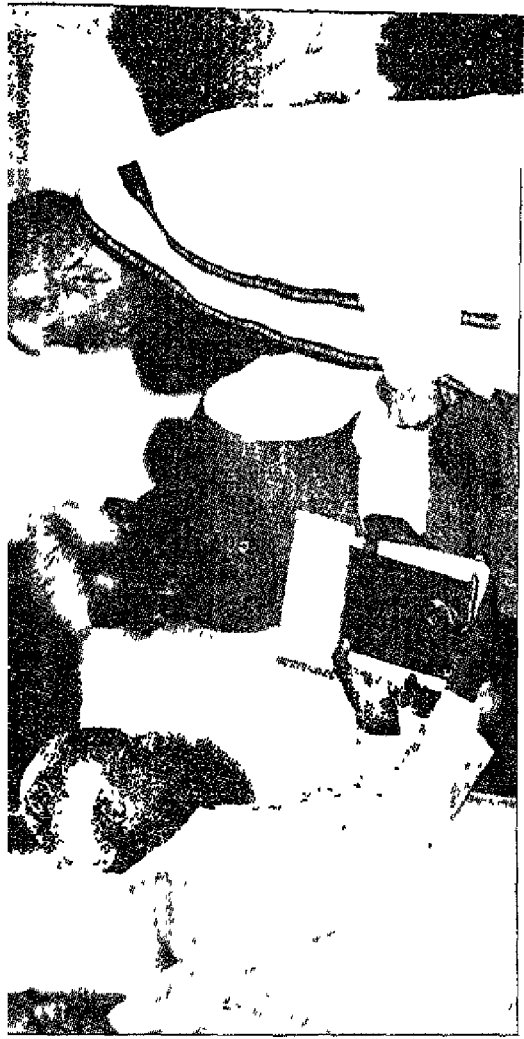
(भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास, पृ २०
प्रथम संस्करण २००५ ई)

तुलसीदास को स्मरण करते हुए डॉ रामविलास शर्मा चले गये । तुलसीदास पर लिखने की चाह उनके मन में रह गई । तुलसीदास के सौंदर्यबोध पर वे मुग्ध थे । अवधी के लोकगीतों को बहुत पसंद करते थे । टी वी पर लोकगीतों की धुन सुनते थे । अवधी के साथ साथ अन्य बोलियों के गीतों को भी उसी प्यार से सुनते थे । रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल के सौंदर्य बोध पर वे मुग्ध थे । बोली के माध्यम से सगीत सुनते और मुग्ध हो जाते थे । इन सब का विश्लेषण उन्होंने किया है । निरन्तर वैचारिक लेखन करनेवाला सहृदय भी होता है, इस बात की पहचान भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास पुस्तक से होती है । तदर्थ मैं डॉ रणजीत साहा की सराहना करता हूँ ।

मेरे गुरुजनो में एक-एक कर सब चले गये । डॉ भालचन्द्र तेलंग गये । महाराजकुमार डॉ रघुबीरसिंह गए । विद्यासागर विद्यालकार गए । और बाद में डॉ रामविलास शर्मा भी गए । मेरे दोनों सहपाठी मित्र और अग्रज बन्धु डॉ भीमसेनजी निर्मल और डॉ. चक्रवर्ती भी चले गए । पं काशीराम शर्मा हैं । उनसे पत्र-व्यवहार जारी है । वे भी अस्सी वर्ष के हो गए हैं । कुछ ऊपर होंगे । जो लोग हैं, उन्हें अब पहले की तरह मिलना संभव नहीं । शारीरिक विवशताएँ हैं ।

भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक एवं भौगोलिक स्वरूप पर लिखने की योजना है । सामग्री संकलित है । शरीर ने साथ दिया तो उक्त कार्य पूर्ण करूँगा ।

□ □



महामहिम राष्ट्रपति के. आर. नारायणन, राजमल बोरा और भानव संसाधन मंत्री श्री मुरली मनोहर जोशी
(१९ मई २००० ई०)



बैठे हुए . लेखक अपनी धर्मपत्नी आशा के साथ □ पीछे खड़े हुए . सुनिल एवं आशा □ संगीता एवं अनिल



मा, आकाश के साथ सुनिल (पुत्र)
(२००३ ई०)

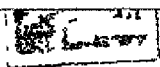


देशा तथा दिव्या के साथ अनिल (पुत्र)
(मार्च २००४ ई०)



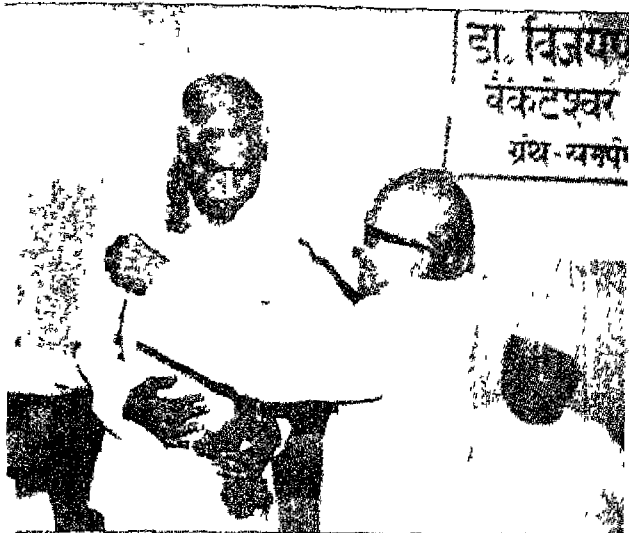
ग, कँवर साहब महेश जैन, नमिता (पुत्री) और मिहिका
(फरवरी २००४ ई०)

लेखक अपने छोटे भाई के साथ



लेखक एवं आशा □ शांता एवं तेजमल
तेजमल के निवास स्थान पर, लातूर में ।
(नवम्बर २००० ई०)

वेजयपालसिंह अभिनदन ग्रथ समारोह १९८३ ई



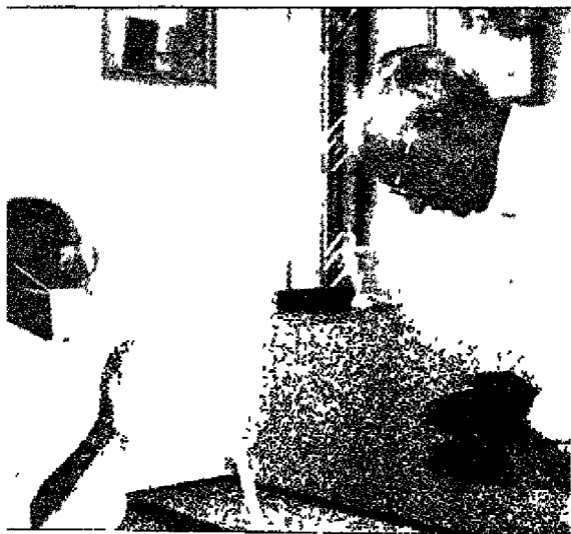
विजयेन्द्र स्नातक, डॉ. विजयपालसिंह (हार पहनते हुए) (हार पहनाते हुए) तथा समारोह के अध्यक्ष प्रो. नूरुल हसन ट्यूशन क्लब, नई दिल्ली, १५ सितम्बर १९८३ ई०)



महाराजकुमार डॉ. रघुबीरसिंह (सीतामऊ) के साथ एक के निवास स्थान पर. ३ अप्रैल १९८० ई०)



लेखक पं. काशीराम शर्मा के साथ
औरंगाबाद में लेखक के आवास पर, अगस्त १९९१ ई०



मुनि मिश्रीलालजी लेखक को, लेखक के आवास पर
मगलीक सुनाते हुए
(५ नवम्बर १९९२ ई०)



लेखक के साथ डॉ. जगदीश गुप्त
एंगाबाद में लेखक के निवास स्थान पर १९८७ ई०



लेखक महामहिम राज्यपाल हिमाचल प्रदेश आचार्य
विष्णुकान्त शास्त्री के साथ
भवन, शिमला. हिमाचल प्रदेश २२ मई २००० ई०



लेखक : प्रोफेसर भीमसेनजी निर्मल के साथ
हैदराबाद में, निर्मलजी के निवास स्थान पर
(२६ नवम्बर २००३ ई०)



लेखक प्रोफेसर एवं कवि वसंत चक्रवर्ती के साथ
हैदराबाद में चक्रवर्ती के निवास स्थान पर
(२००२ ई०)

जीवनयात्रा के पडाव — आत्मकथा भाग १ की प्रतिक्रिया में प्राप्त कुछ पत्र

चुरू

दिनांक २०-०५-२००३

प्रिय,

आप की आत्मकथा का प्रथम खण्ड १३-५ को मिल गया था। पर उस समय में दिल्ली की यात्रा के लिए निकल रहा था। अंत तक न सका। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की बैठक में गया था। वहाँ आदरणीय बन्धु ब्रजकिशोरजी से भी मिलना हुआ। वे नेशनल बुक ट्रस्ट के चेअरमैन हैं। उन्होंने आश्वामन दिया है कि वे बुक ट्रस्ट की ओर से तोल्काप्पियम् का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवा देंगे। जोधपुर महाराजा का पुस्तक प्रकाश केन्द्र 'स्वयंश्रमो' का प्रकाशित करने के लिए तैयार हो गया है। दोनों पुस्तकें शीघ्र ही प्रकाशनार्थ भिजवा दूँगा।

१६-५ को दिल्ली से लौटकर आपकी पुस्तक पढ़ ली है। माता-पिता के अभाव में आपको कैसा बिकट जीवन यापन करना पड़ा और आप के जीवन में कैसे आप को सफल बनाया, पढ़कर आप के प्रति श्रद्धा से मन भर गया है। भगवान् आपको दीर्घ आयु प्रदान करें ताकि आप साहित्य भंडार को समृद्धतर कर सकें यही मेरी कामना है। आलेख प्रकाशन से प्रकाश्य आप की पुस्तक की प्रतीक्षा में हूँ।

भवदीय

काशीराम गर्मा

० ०

९-६-२००३

प्रिय डॉ साहब,

अभी 'जीवनयात्रा के पडाव १' प्राप्त हुई। इसमें जो कथा-गजकता और हृदयावर्जकता है उसके कारण इसे मैं भी घंटों पढ़ने बैठ गया, मेरी पत्नी भी। औरंगाबाद तक जीवनयात्रा आ

गई, अब चौथे तथा आगे के पडावा की प्रतीक्षा हे । इस पुस्तक में भी पत्र-सामग्री, तिरुपति के हिन्दी विभाग का हाल आदि ने जो विषय, वैविध्य बना दिया है । वह इसे ओर भी मग्नहणीय बनाता है । आश्चर्य यह जानकर हुआ कि प्रारभ से अब तक की घटनाएँ आपने कैसे सजो कर रखी थी ।

आपकी लेखनी निरन्तर सक्रिय है यह परम हर्ष का विषय है । आप हम लोगों को निरन्तर स्मरण करते रहते हे यह भी हमारा सौभाग्य है । घर में सब को नमस्कार ।

स्नेहाधीन

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

C/C, पृथ्वीराज रोड, जयपुर-३०२००१

० ०

फोन . २७१५६७२१

बी-१५१, महाराणा प्रताप एन्कलेव

पीतमपुरा दिल्ली-३४

७-५-२००३

प्रिय बन्धु,

आशा करना हूँ आप स्वस्थ और प्रसन्न है । आपकी आत्मकथा भाग-१ मिली । छपाई तो बहुत सुंदर है । जैसे ही अवकाश मिलेगा मैं इसे अवश्य पढ़ूँगा । इस तरफ तो मैं बहुत व्यस्त हूँ और स्वास्थ्य के कारण थोडा त्रस्त भी । इसीलिए विशेष कुछ नहीं कर पा रहा हूँ । आशा करता हूँ आप सपरिवार सानन्द है ।

शेष शुभ ।

भवदीय

विष्णु प्रभाकर

० ०

बी-१५१, महाराणा प्रताप एन्कलेव

पीतमपुरा दिल्ली-३४

१४-७-२००३

प्रिय भाई,

आपका १ जुलाई का पत्र मिला । बहुत खुशी की बात है कि आप अपनी जीवनी का दूसरा भाग लिख रहे है । सुझाव क्या

द : इस तन्त्र भाग में जो कुछ अनुभव किया है लिखिए
 और इसे विनियमित कि इस युग का चित्र भी हो जाए। किसी की
 निगा पठना 'अ' चक्रग्रह में न फँसे पर सत्य लिखने में भी मत
 शीघ्र ।

श्री श्री भोग्य भाग्य की आत्मकथा आई है। उसे पढ़ सके तो
 पत्र लिखिए। युग का विवरण अवश्य आ जाना चाहिये और अपने
 अन्तर्गत मन का भी ।

आगत्य गंगा का नया अंक आपको पसंद आया, अच्छा
 लगा। आप इनको पत्र लिख ही रहे हैं।

मेरा स्वास्थ्य जरा परेशान करने लगा है। जीवन के ९२वें
 वर्ष में ७-सान घट गोज मेहनत करनी पड़ती है।

और सब ठीक चल रहा है। आपके पुराने शिष्य तो आपसे
 मिलते ही रहते होंगे। वहाँ सबको, मेरा विशेष कर अपनी पत्नी
 को नमस्कार कहिए।

शंष कुशल ।

भवदीय

विष्णु प्रभाकर

० ०

रमनाथ तिवारी

'दयाल' जयवतीनगर

अन्नाजोगाई - ४३१ ५१७

दि २० मई २००३

आन्ध्रप्रदेश डॉक्टर राजमल्लजी

सप्रेम नमस्कार,

जीवनयात्रा के पड़ाव की प्रति प्राप्त हुई। आभारी हूँ। 'आत्मकथा'
 को पूर्ण सत्य न मानें आपने अपनी बात में कहा है। पर पढ़ने
 पर नहीं लगता कि आपने कुछ असत्य भी लिखा है। आपकी
 शैली मैलिम टोवर्ड्समन वाली है। मुखपृष्ठ से मलपृष्ठ सुन्दर बना
 है। मुखपृष्ठ पर श्री मुकुन्दराज से तिरुपती का पथ होता तो ?

उसमे गतिमानता के साथ एक प्रसन्नता भी है। बाईसाब को आधी तनखा देने का मन न होते हुए भी देते रहते है और बात को कटु होने से बचा लेते है। रामनाथन के जीवन की उदाग्री और निराशा को सहजभाव से लेकर बढ जाते है ! तिरुपति का बिछोह सवेदना को आलोडित करता है। पर औरंगाबाद मे भी तो व्यकट राह देख रहा है।

‘अपनी बात’ से लगता है आत्मकथा २ भी तैयार हो गयी है। ग्रीघ्र ही हो जायेगी।

अबाजोगाई के सदर बाजार के मकान की टीन पर खडे आपकी प्रसन्न मुद्रा — दर्शनीय है।

एक अच्छी आत्मकथा के लिए आपका अभिनन्दन तथा आत्मकथा-२ जहाँ शायद अधिक मुखर होने की सम्भावना और आवश्यकता है उसके लिए अग्रिम शुभकामनाएँ।

आपका

रंगनाथ तिवारी

० ०

फोन २६२८१५९

सुरसगत, ४७, राघवेन्द्र नगर

सोलापुर - ४१३ ००१

दि ११ जून २००३

प्रिय डाक्टर राजमलजी,

सस्नेह नमस्कार,

आप की आत्मकथा का पहला भाग, ‘जीवनयात्रा के पड़ाव’ पढकर बहुत प्रसन्नता हुई। प्राप्ति सूचना मे विलंब के लिए क्षमा कीजिए। पाते ही पढता गया। विशेषत अम्बाजोगाई के दिनों की कथा पढने मे आत्मीयता प्रतीत होने से उस भूगोल को दुबारा अनुभव का आनद आया। वह भूगोल अब प्राय नामशेष हो रहा है। हैदराबाद और तिरुपति के प्रसंग भी किसी रचना को सार्थक व सफल बनाने में सहयोग देते होंगे। तटस्थ ब्योरे, आत्मीय अनुभव, शैलीगत संयम और सादगी तथा सबसे बडी बात किसी बात को न छिपाने की पारदर्शी ईमानदारी ने आपकी आत्मकथा विशिष्ट बन गयी है। इसका श्रेय निस्सन्देह आपकी सहधर्मचारिणी को जाता

तै तथा आपके परिवार का भी । मुझे लगता है कि आपने अत्यधिक मंक्षेप से काम किया है । कुछ अधिक खुलकर विस्तार से चिन्तन मनन और टिप्पणियो से विस्तार पाया जा सकता था । जो है सो तो है ही । आपके व परिवार के सुख स्वास्थ्य समृद्धि के लिए आभारिक ।

शुभकामनाओं के साथ ।

आपका

निगिकान्त ठकार

० ०

फोन २७१८६४४६ १९४, महाराणा प्रताप एन्क्लेव
दिल्ली-११००३४
१२-५-२००३

भाई बोराली,

आपकी जीवनी 'जीवनयात्रा के पडाव' का प्रथम खण्ड मिला । अभी जहाँ-वहाँ के उलटकर ही देख पाया हूँ ।

आपने अपने वृत्त के साथ जो इतिहास और भौगोलिक सन्दर्भ जोड कर रखा है । उसीसे इसमें जान आ गई है ।

भगवानसिंह

० ०

१२६०, नया रामनगर,
उरई-२८५००१
२०-८-२००३

भाई बोराली,

अनेक स्मृतियो मे डूबता-उतरता आज आप की आत्मकथा का पहला खण्ड समाप्त कर दिया । मैंने भी तुकोबा की पक्तियों पढ़कर विश्राम किया । हालाकि तुकोबा के अभग मे समायी सुगध तो मै नही ले सका पर आपके पूरे आत्मवृत्त मे व्याप्त आपके चरित्र की सुगध से आप्लावित होता रहा । आपके परिवार का दानी शीलवान पावन चरित्र, आपका कष्ट, आपकी ताईजी का चरित्र,

आपकी लगन, शिक्षा के लिए किये गये प्रयत्न, शोध कार्य के लिए अनकलत प्रयास । फिर लगातार लेखन, अध्ययन, मनन मे मलग्न रहना, अपने मन के ज्ञान की भी दीप्ति से भरना और उमे बाहर लुटाते रहना । आपने कभी-भी कुठाओ को नही । आपकी दृष्टि विधायात्मक रही । आप सदा विनयी बने रहे । पुस्तक पर एक मास से लगा रहा । आज खतम हुई तो समापन सा लगा । अब विमृत पत्र लिखूंगा । तब उसमें समोधा होगी, अपनी प्रतिक्रिया, कुछ सुझाव ।

आपका
रामशकर द्विवेदी

० ०

फोन (नि) २७५३१५०१

बुलटॉप होजरी एण्ड

किड्डीम विंग

१-६-७७/१ जनगल बाजार

सिकंदराबाद - ५०० ००३

२९-७-२००३

आदरणीय भाईसाहब,

श्री राजमलजी बोरा का जैन मदनलाल मरलेचा का सप्रेम नमस्कार ।

आप द्वारा प्रेषित आत्मकथा प्राप्त हुई । एक ही बैठक मे पुस्तक को पढा ।

भाव और बुद्धि का सतुलन ही एक अच्छी रचना कहो या आत्मकथा के सृजन का हेतु बनता है ।

अति बौद्धिकता व्यक्ति को पत्थरो का चुन बना देती है । और अति भावुकता पागल के प्रलाप से कम नहीं होती । व्यक्तित्व परम्पर विरोधी तन्तुओ से मिलकर ही बनता है । विरुद्धो का सामजस्य ही तो सौन्दर्य है । भाईसाहब आपकी आत्मकथा मे भी इसी सौन्दर्य की लचक है । व्यापक सदर्भों को समेटे आत्मकथा एक बैठक में पाठक आद्योपान्त पढ लेता है । सरसता और निरतरता इसकी विशेषता है ।

पर म यथायोग्य सभी को प्रणाम, नमस्कार, आशीर्ष व
प्यार ।

आपका शुभचिन्तक
जैन मदनलाल मरलेचा

० ०

१/११७९८, पचगोल गार्डन, नवीन शाहदरा

दिल्ली-११००३२

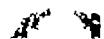
५-७-२००३

आदरणीय परमश्रेष्ठ बोरान्जी,

सादर सस्नेह नमस्ते । आपकी आत्मकथा 'जीवनयात्रा के पड़ाव' आद्योपात्त पढ़ गया हूँ । आत्मिक आनंद प्राप्त हुआ । ऐसा प्रतीत हुआ, मानो आपसे साक्षात् मिलना हुआ है । आपके परिवार के कर्णधार आपके परमपूज्य दादाजी श्रीयुत मोहनलालजी बौरा को मेरी हार्दिक श्रद्धांजलि । उनका चरित्र अत्याधिक प्रेरणादायक और अनुकरणीय है । अपने पूज्य पिताजी श्रीयुत रतनलालजी बौरा और दादाजी दोनों की पावन स्मृतियों को अपनी कृति आपने समर्पित की है, इसके लिए आप साधुवाद के पात्र हैं । इन्हीं के आशीर्वाद से आप इस गुरु-गभीर कृति के प्रणेता बन सके हैं ।

आपकी 'अपनी बात' बड़ी सहजता से लिखी गई है । 'पत्नी के डंडे' का उल्लेख पढ़कर होठों पर मुस्कान खिल उठी । उन जैसी चिदुषी पूज्य देवी को मेरा सादर अभिवादन — उन्हींकी प्रेरणा से आप इतनी बढ़िया पठनीय अनुपम कृति लिख सके ।

आपने यह बहुत ही ठीक लिखा है कि 'स्मृतियों मनुष्य को सुख देती है', 'अतीत हमारी धरोहर है', 'मानवीय गुण-दोष सब में होते हैं', 'मनुष्य तो गलतियों का पुतला है', 'सफलता और असफलता भी हमारे मानने में हैं', 'जो अपना समझते हैं, वे ही तो डौंटते हैं', 'साथ मनुष्य के गई बुराई, एह गई उसकी भलाई', 'सत्य का साक्षात्कार बड़ा भयानक होता है और भय तो मृत्यु है' ।



दो सौ वर्षों का आपके परिवार का इतिहास उपलब्ध है - यह वास्तव में सतोष और गौरव का विषय है। उसके आधार पर आपने पूर्वजों के सम्बन्ध में बड़ी दिलचस्प जानकारी प्राप्त हुई तथा बोर परिवार की वंश-तालिकाएँ भी देखने को मिली। आपके इन सभी पूर्वजों को मेरी हार्दिक श्रद्धाजलि।

आपने अपनी इस आत्मकथा में तिरुपति के हिन्दी विभाग के सम्बन्ध में 'परिशिष्ट' में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है।

आपकी इस आत्मकथा को पढ़ने में मेरा जो समय लगा है — वास्तव में वह सार्थक हुआ है। पढ़ने के लिए आपने इसकी एक प्रति 'भेट-स्वरूप' भेजने का जो अनुग्रह किया है, उसके लिए नितांत आभारी हूँ।

कभी आप सपत्नीक दिल्ली आने का भी कार्यक्रम बनाइए।

योग्य सेवा लिखिएगा।

अनंत शुभकामनाओं के साथ।

शुभेच्छु आपका
ईश्वरचन्द्र खण्डेत्तवाल

□ □

